[टाल्स्टाय ग्रन्थावलि : दूसरी पुस्तक]

हम क्या करें ?

[टॉल्स्टॉय के 'What Shall we do then'? का अनुवाद]

अनुवादक
क्षेमानन्द 'राहत'

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली
शाखायें
दिल्ली : लखनऊ : इन्दौर

जून १९२७ : ३०००
दिसम्बर १९२९ : २१००
सितम्बर १९३० : १५००
नवम्बर १९३८ : १०००
मई १९४१ : १०००

मूल्य
सवा रुपया

प्रकाशक,
मार्तण्ड उपाध्याय,
मन्त्री, सस्ता साहित्य मण्डल,
नई दिल्ली

मुद्रक,
ओङ्कार चन्द गुप्ता
मैनेजर, सरस्वती प्रेस,
दीवानहाल दिल्ली

मनोव्यथा

[गुजराती संस्करण से]

प्रस्तावना का सामान्य उद्देश्य तो पुस्तक और उसमें वर्णित विषय का परिचय कराना ही होता है; परन्तु 'हम क्या करे ?' यह पुस्तक नही बल्कि एक अत्यन्त समभावी हृदय का मन्थन है, जीवन-शुद्धि की रहस्य-भेदी शोध है, और महावीर को भी शोभा दे, ऐसा एक आर्य-सकल्प है। थोडे मे कहिए तो यह कारुण्य, औदार्य, गाम्भीर्य, और माधुर्य एक ओजस्वी रसायन है। इसका परिचय नही दिया जा सकता। इसकी उपासना होती है, इसका सेवन होता है।

टॉल्स्टॉय शक्तिशाली कला-विज्ञ थे। उनकी प्रत्येक कृति में औचित्य और प्रसाद-गुण तो होता ही है, पर हृदय को अस्वस्थ बना देनेवाली समवेदना ही उनकी कला की विशेषता है। 'हम क्या करे ?'—यह टॉल्स्टॉय की सर्वोच्च कोटि की कृति समझी जाती है। जैसा शब्द-चित्रण, भाव-प्रदर्शन और लोक-जीवन का अवगाहन उपन्यासों मे होता है, वह सब इसमे है। फिर भी कला की दृष्टि से देखने पर इसमें औचित्य भंग है, इसमे हीनता है, इसमे धर्म-जीवन का अपमान है। सीता का विलाप, द्रौपदी की भीड, सती का चितारोहण—ये प्रसङ्ग काव्य-कला के लिए नही होते। ये तो जीवन को दीक्षा देने के लिए होते है। धर्म-पूर्ण हृदय से ही हमे इनका दर्शन करना चाहिए। केवल कला की ही आँखे हो तो ऐसे प्रसङ्ग पर उन्हें मीच लेना चाहिए।

टॉल्स्टॉय के वर्णित प्रसङ्ग काल्पनिक नही हैं, उनके द्वारा की हुई मीमासा केवल 'तात्त्विक' नही है, और उन्होने जो जीवन में परिवर्तन

किया था वह भी क्षणिक न था। पुस्तक का प्रारम्भ तो मार्ग में भटकते हुए भिखारियों के सुख-दुःख से होता है, पर इसका मुख्य विषय तो समस्त मानव-समाज का कल्याण है।

पुराणों में हम लोग पृथ्वी का भार बढ़ने की बातें सुनते हैं। क्या लोक-संख्या बढ़ने से पृथ्वी का भार बढ़ता होगा? या जङ्गलों की वृद्धि से अथवा हिमालय-जैसा पहाड पानी में से उमड आने से? ऐसी बातो से तो पृथ्वी का भार बढने का कोई कारण नहीं। पृथ्वी पर भार होता है आलस का, काहिली का, पाप का, अनाचार का, द्रोह का। टॉल्स्टॉय ने देखा कि आजकल पृथ्वी पर बहुत भार बढ़ रहा है, और वह असह्य हो रहा है, अब कोई न कोई उत्पात होगा। ज्वालामुखी फूट पड़ेगा अथवा दावानल प्रज्वलित होगा। यह दुःख किस प्रकार टले, इस महान् विनाश से समाज कैसे बचे—इसकी विवेचना इसमें है।

उन्होंने देखा कि रूस मे, यूरोप मे, सारे संसार मे प्रतिष्ठित अकर्मण्य लोगों की संख्या बेहद बढ़ गयी है—बढ़ती जाती है और किसी तरह भी रोके नहीं रुकती। इनका आमोद-प्रमोद, इनकी वासनायें, इनके भोग भोगने के साधन बढ़ते ही जाते हैं। ये मस्तराम प्रजा का खून चूसे जा रहे हैं और बदले में समाज को कुछ देते नहीं। इतना ही नहीं, सरकारी ज़बरदस्ती और पैसे के जाल से ग्रसित लोगों को सिर उठाने में भी असमर्थ बनाये दे रहे हैं; अपने मन को फुसलाने के लिए और दुनिया को बहलाने के लिए तरह-तरह की 'फ़िलासफ़ियों' की रचना करते है। हमारी स्थिति जैसी होनी चाहिए वैसी ही है, इसीमें सबका कल्याण है, ऐसा सिद्ध करने के लिए कृत्रिम धार्मिक सिद्धान्तों का आविष्कार करते हैं, समाज-शास्त्र गढ़ते हैं और विज्ञान तथा कला को भ्रष्ट करते हैं। इन बातों को उखाडकर फेंक देना कुछ सहल बात नहीं है। विचारों को जन्म देने तथा उनका प्रचार करने का जिनका इजारा है ऐसे समस्त मनुष्य-समूह से—जिसमे हम लोग भी सम्मिलित हैं—यह अभिमन्यु जैसा असमान युद्ध—एकाकी युद्ध है। परन्तु टॉल्स्टॉय की

लेखन-शक्ति और हरिश्चन्द्र के समान अटल श्रद्धा इस नाम को लक्ष्य तक पहुँचाने के योग्य ही निकली। वह जानते थे, दुनियादार अक्लमन्द लोग चाहे कितने ही क्यों न हों फिर भी उनका बल अपर्याप्त है और हम खुद अकेले ही हों तब भी सत्य-स्वरूप जगदीश के साथ होने से हमारा बल पर्याप्त है।

और टॉल्स्टॉय ने पृथ्वी का भार हलका करने का उपाय भी कैसा बताया? सनातन काल से जो उपाय बताया गया है, वही—'त्यक्तेन भुञ्जीथाः। मागृधः कस्यस्विद्धनम्'। टाल्स्टाय ने यह उपाय केवल किताब लिखकर ही बताया हो सो बात नही, पर स्वयं सब-कुछ त्याग कर, अकिञ्चन बनकर, यथाशक्ति अपरिग्रह-व्रत का पालन करके और अन्त मे महा-भिनिष्क्रमण करके उन्होंने लोगों को रास्ता दिखाया।

टॉल्स्टॉय की कीर्ति यूरोप मे खूब बढ़ी-चढ़ी थी। उनकी साहित्य-कला के ऊपर यूरोप न्योछावर हो रहा था। पर जब टॉल्स्टॉय ने निष्पाप जीवन व्यतीत करने के लिए सर्वस्व छोड़ा, तब यूरोप मे हाहाकार मच गया। नट, विदूषक और गणिका के रूप में प्रसिद्ध बने बैठे लोगो को तो ऐसा लगा कि कला की हत्या हो गयी! टॉल्स्टॉय ने कला की मर्यादा छोड दी। सत्य मे प्रवेश किया। 'अति सर्वत्र वर्जयेत्'—कला का यह सर्वोच्च नियम भंग किया। कला ही जीवन-सर्वस्व है, ऐसा माननेवाले लागों को भास हुआ कि टॉल्स्टॉय जीवन के प्रति बेवफ़ा निकला। पशु के साथ जो अपनी समानता है उसे छोडने से हम संकुचित ही तो हो जायँगे? पर सच्चे जीवन-कलाविदो ने देखा कि टॉल्स्टॉय के हाथ से कला कृतार्थ ही हुई है।

कितनो ही ने तो यह निदान निकाला कि टॉल्स्टॉय ने जबसे मांसाहार छोडा तभीसे उसकी कला का आवेश धीमा पड़ गया और प्रतिभा क्षीण हो गयी। संसार-सुधार का मार्ग छोड़कर उसने जंगलीपन को ही आदर्श मान लिया। इस प्रकार के अनेक आक्षेपो का टॉल्स्टॉय ने इस पुस्तक मे ज़बरदस्त निराकरण किया है। किन्तु—'लोचनाभ्यां विहीनस्य

दर्पणं किं करिष्यति ?' तटस्थ रहकर विचार करनेवाला टॉल्स्टॉय का चरित्र-लेखक मॉड ठीक ही कहता है कि टॉल्स्टॉय के सिद्धान्तो के विरुद्ध लिखना और कहना तो अभीतक किसीको सूझा ही नहीं। जो निकलता है सो यही कहता है कि 'टॉल्स्टॉय का कथन लोक-विचक्षण है— उनका उपदेश आचरण मे लाने योग्य नही है, टॉल्स्टॉय जो चाहते है वैसा करने से तो बडी अव्यवस्था मच जायगी !' पर इसका प्रतिवाद करनेवाले जो असंख्य पवित्र जीवनप्रद लोग प्रत्यक्ष देखते है, उनका विचार ही नही करते। मनुष्य ऐसा समझ बैठता है कि जो सुधार हमसे नही हो सकता वह सभी मनुष्यो के लिए अशक्य होगा। टॉल्स्टॉय का दृढ़ विश्वास है कि जिस प्रकार लोगो ने गुलामी की प्रथा को उड़ा दिया है उसी प्रकार धन और सत्ता की यह प्रथा भी अवश्य उड ही जायगी। सरकार, जायदाद, पैसा, आलसी लोग और इनका दौरदौरा क़ायम रखने तथा ग़रीबो को कुचल डालने के लिए खडी की हुई सेनायें—ये सब मनुष्य की ही निर्माण की हुई आपत्तियाँ हैं। निष्पाप तथा समृद्ध जीवन व्यतीत करने के लिए इनमे से एक संस्था की भी ज़रूरत नही। बुद्धिमान मनुष्य को सादगी से रहते हुए समाज की अधिक सेवा करनी चाहिए। अधिक ऐशो-आराम मे रहना और जोंक की तरह समाज का लोहू पीना बुद्धिमान के लिए उचित नही है—इसी एक मुख्य तत्त्व को टॉल्स्टॉय ने इस पुस्तक में समझाने का उद्योग किया है। विज्ञान और कला से उनका कहना है कि जिनका नमक खाकर तुम जीते हो उनका ही तिरस्कार करके तुम जीवित नही रह सकते। प्रजा की कुछ तो सेवा करो। अरे, कुछ नही तो असेवा करते तो लजाओ !

टॉल्स्टॉय का यह धर्म-प्रबोध लोगो को पसन्द न आया और परिणाम यह हुआ कि इसी पुस्तक मे टॉल्स्टॉय ने स्पष्ट शब्दों मे जो चेतावनी दी थी वह आज तीस वर्ष के अन्दर बिलकुल सत्य निकली। मज़दूर-दल का धैर्य छूटा, प्रजा-क्षोभ छूटा और प्रजा के ही कंधे पर बैठकर प्रजा को लात मारने वाला वर्ग भस्मसात् हो गया।

फिर भी ग़रीबो का दुःख दूर नही हुआ। हिसा का दुःख क्या हिसा से मिटेगा? लोहू से सना हुआ हाथ क्या लोहू से धोने से साफ हो सकेगा?

टॉल्स्टॉय का उपदेश रूस के बनिस्बत हिन्दुस्तान को अधिक लागू होता है। जबतक प्रजा का बोझ हलका नही होता और ज़बरदस्ती का दौरदौरा मिटता नही, तबतक देश की राजनैतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक उन्नति हो ही नही सकती। यह बात, देश का ख़याल रखने वाले मनुष्यो के हृदय मे, यह पुस्तक पढ़ते समय, आये बिना रहती नहीं। पैसा इस अज्ञात ज़बरदस्ती का बडे-से-बडा वाहन है, यह मान लेने के पश्चात् हिन्दुस्तान का प्रश्न अधिक स्पष्ट हो जायगा।

यदि कोई ऐसा समझता हो कि हिन्दुस्तान मे रूस की तरह उत्पात हो ही नहीं सकता, तो यह उसकी भूल है। साथ ही यह भी ठीक है कि रूस जैसा विस्फोट हिन्दुस्तान मे भी होगा ही, ऐसी बात भी नही है। हिन्दुस्तान मे सन्त-फकीरो का राज्य अन्य देशो की अपेक्षा अधिक फैला हुआ है। हमारी बुद्धि कितनी ही भ्रष्ट क्यो न होगयी हो पर आज भी हमारे हाड मे द्रोह नही है, हिंसा नहीं है। हमारे आद्य-आचार्यों ने शारीरिक श्रम का महत्त्व समझाया है। परिश्रम छोडने से सत्य की हानि होती है। मनुष्य अथवा पशु के कन्धे पर बैठकर की हुई जीवन-यात्रा निष्फल है, यह हम जानते है।

यल्लभसे निज कर्मोपात्तं वित्तं तेन विनोदय चित्तं।
अर्थमनर्थं भावय नित्य, मूढ़ जहीहि धनागमतृष्णां॥

यह उपदेश अभी केवल पोथी का बन्द कीडा ही नहीं है। रुपया-पैसा खराब मैली चीज़ है, यह बात भी टॉल्स्टॉय ने नयी नही कही है।

द्रव्य तु मुद्रित स्पृष्ट्वा त्रिरात्रेण शुचिर्भवेत्।

ऐसे-ऐसे वचन हमारे यहाँ पडे हुए है। पर हम लोगो ने ये सब धर्म-तत्त्व साधु-सन्यासियो के सुपुर्द कर दिये और धर्म को अपने से दूर रक्खा। पर धर्म टालने से क्या टलनेवाला था? मछली के लिए जैसा जल है वैसा ही मनुष्य के लिए धर्म है। राजी-खुशी न समझेगे तो मजबूर होकर

तो समझना ही पडेगा। पाप कुछ सिक्को में—सफेद या पीली चमकती हुई मिट्टी के गोल टुकडो मे नही बल्कि समाज के हृदय मे होता है, यह ठीक है। फिर भी आज ये सिक्के लोभी, निर्दय और ज़बरदस्त लोगो के हाथ के अस्त्र-दास्यास्त्र बन गये हैं, यह बात कोई अस्वीकार नही कर सकता। टॉल्स्टॉय का कहना है कि नीरोग मनुष्य को दवा की जितनी आवश्यकता होती है बस उतनी ही निष्पाप जीवन व्यतीत करनेवाले समाज को रुपये की ज़रूरत हो सकती है।

पर टॉल्स्टॉय की यह पुस्तक ? यह बहुत ही ख़राब किताब है। यह हमे जाग्रत करती है, अस्वस्थ करती है, धर्म-भीरु बनाती है। यह पुस्तक पढने के बाद भोग-विलास तथा आनन्दोल्लास मे पश्चात्ताप का कडुवा कंकड़ पड जाता है। अपना जीवन सुधारने पर ही यह मनोव्यथा कुछ कम होती है। और जो इनसानियत का ही गला घोट दिया जाय तब तो कोई बात ही नही।

इस पुस्तक का पढ़ना सरल नही है। यह ऐसी है कि संस्कारी अथवा सात्विक वृत्तिवाले मनुष्य को अन्त तक न छोडे। यूरोपीय समाज को लक्ष्य में रखकर लिखे जाने के कारण ईसाइयों की तौरेत तथा इन्जील में से खूब उदाहरण दिये गये हैं। कान्ट, हेगल, वॅगनर आदि पाश्चात्य दार्शनिको और कला-कोविदो की मीमांसा आती है। इन सब बातों को समझना ज़रा मुश्किल तो ज़रूर है, पर भाषान्तरकार योग्य मिलने से बहुत-सी मुश्किलें दूर होगयी हैं। गुजरात आज अपने साधु-सन्तो की अपेक्षा अपनी द्रव्यार्जन-शक्ति पर घमण्ड करता हो तो गुजरात को यह पुस्तक अवश्य पढ़नी चाहिए। कुछ तो विचार करना ही पडेगा।

काका कालेलकर

और लोग उनसे पूछने लगे, 'फिर हम करें क्या ?'

उन्होंने उत्तर दिया—जिसके पास दो कोट हैं, वह एक कोट उसे दे दे कि जिसके पास एक भी नहीं है; और जिसके पास भोजन है, वह भी ऐसा ही करे।

× × ×

इस पृथ्वी पर अपने लिए धन जमा मत करो, क्योंकि काई और कीड़े उसे नष्ट कर देते हैं अथवा चोर उसे चुरा ले जाते है।

किन्तु तुम अपने लिए स्वर्ग में धन जमा करो कि जहाँ न काई लगती है और न कीड़े खाते हैं और न चोर ही दरवाजा तोड़ कर उसे चुरा ले जा सकते हैं।

फिर, जहाँ तुम्हारा धन होगा, वहीं तुम्हारा दिल भी रहेगा।

× × ×

आँख शरीर का दीपक है; इसलिए यदि तुम्हारी आँख स्थिर है, तो तुम्हारा सारा शरीर प्रकाश से पूर्ण होगा।

किन्तु यदि तुम्हारी आँख में बुराई है, तो तुम्हारे शरीर-भर में अन्धकार का साम्राज्य होगा, और यदि तुम्हारी अन्तर्ज्योति ही तिमिरावृत्त है, तब तो फिर तुम्हारे अन्दर कितना गहरा अन्धकार होगा !

× × ×

कोई भी दो मालिकों की नौकरी कर नहीं सकता; क्योंकि या तो वह एक से घृणा करेगा और दूसरे से प्रेम, या वह एक की सेवा करेगा और दूसरे की उपेक्षा। तुम ईश्वर और माया दोनों के होकर नहीं रह सकते!

× × ×

इसलिए मै तुमसे कहता हूँ कि अपने जीवन में यह चिन्ता मत करो कि मैं क्या खाऊँगा और क्या पीऊँगा, और न शरीर के लिए यह सोचो कि इसे क्या पहनाऊँगा? क्या जीवन स्वयं ही भोजन से बढ़कर और काया कपड़ों से अधिक मूल्यवान नही?

× × ×

बस, तुम ईश्वर के राज्य और उसके धर्म-मार्ग की ही खोज करो और बाकी ये सब चीजे तुम्हे स्वयं ही मिल जायँगी।

× × ×

सुई के नकुए में से ऊँट का निकल जाना तो सम्भव है, किन्तु अमीर आदमी के लिए स्वर्ग में प्रवेश करना असम्भव है।

क्या करें ?

: १ :

जीवन का अधिकांश भाग देहात में व्यतीत करने के बाद आख़िरकार सन् १८८१ में मास्को में निवास करने के लिए मैं आया और उस नगर की हद से बढ़ी हुई दरिद्रता को देखकर मैं दुःखित और चकित हुआ। वैसे तो देहात के ग़रीब आदमियों के कष्टों से मैं भली-भाँति परिचित था, किन्तु मुझे इसका ज़रा भी ख़याल न था कि नगरों में उनकी कैसी दुर्दशा है।

मास्को की किसी भी सडक से कोई मनुष्य गुज़रे, उसे एक विचित्र प्रकार के भिखारी मिलेंगे। झोली लेकर ईसा के नाम पर देहातों में भीख माँगने वाले भिखारियों से वे बिलकुल भिन्न होगे। मास्को के भिखारी न तो झोली लेकर चलते हैं और न भीख माँगते हैं। प्रायः जब वे किसी से मिलते हैं तो उसकी आँख से आँख मिलाने की कोशिश करते हैं और उसके मुख का भाव देखकर उसके अनुसार व्यवहार करते हैं। मैं इस प्रकार के एक भिखारी को जानता हूँ—वह एक सद्गृहस्थ है, वृद्ध है, धीरे-धीरे चलता है और दोनों पैरों से लँगडाता है। जब कोई पास से निकलता है तो वह लँगडाकर चलता है और सलाम करता है। यदि जानेवाला ठहर जाता है तो वह अपनी टोपी उतार लेता है, फिर झुककर सलाम करता है और माँगता है। यदि वह आदमी नही ठहरता है तब कुछ नहीं, वह केवल लँगड़ाने का बहाना करता है और उसी तरह लँगडाता हुआ चलता रहता है। यह मास्को के एक असली और अनुभवी भिक्षुक का नमूना है।

पहले तो मैं यह नहीं समझ सका कि से भिक्षुक खुले तौर पर क्यों नही माँगते। किन्तु पीछे मुझे यह मालूम हुआ, हालाँकि उसका कारण नहीं समझ पाया। एक दिन मैंने देखा कि एक पुलिस का सिपाही एक फटे हाल आदमी को, जिसका बदन सूजा हुआ है, ताँगे में बिठाये लिये जा रहा है। मैंने जब पूछा कि इसने क्या किया है, तब पुलिसवाले ने कहा—

'भीख माँगता था।'

मैने पूछा—'तो क्या भीख माँगना मना है ?'

उसने उत्तर मे कहा—'ऐसा ही मालूम होता है।' पुलिसवाला उसको लिये जा रहा था। मै भी एक किराये की गाडी करके उसके पीछे हो लिया। मैं यह मालूम करना चाहता था कि क्या भीख माँगना वास्तव मे मना है, और यदि है तो क्यो ? मेरी तो यह समझ ही में नही आता था कि यह किस तरह सम्भव हो सकता है किसी आदमी से कुछ माँगना वर्जित कर दिया जाय और, खासकर, एक यह सन्देह मेरे मन मे था कि जिस नगर में इतने भीख माँगनेवाले है, वहाँ भीख माँगना नियम-विरुद्ध कैसे हो सकता है ?

मैं कोतवाली के अन्दर गया कि जहाँ उस भिखारी को सिपाही ले गया था। मेज़ के पास बैठे हुऐ एक कर्मचारी से, जो तलवार और तमंचे से सज्जित था, मैंने पूछा कि यह क्यो गिरफ्तार किया गया है ? उस कर्मचारी ने तेज़ी से मेरी ओर देखकर कहा—'तुम्हे इससे मतलब ?' किन्तु शायद यह समझकर कि कुछ जवाब देना ज़रूरी है, उसने कहा—'सरकार का हुक्म है कि ऐसे लोगो को गिरफ्तार कर लिया जाय।'

मैं चला आया। उस आदमी को पकडकर लानेवाला सिपाही एक कोठरी की खिडकी में बैठा हुआ अपनी नोटबुक देख रहा था।

मैंने उससे कहा—'क्या वास्तव मे यह सच है कि ग़रीब आदमियो को ईसामसीह के नाम पर माँगने की इजाज़त नही है ?'

वह आदमी चौंका, मानो नींद से जागा हो। उसने एक बार घूर-कर मेरी ओर देखा, और फिर गहरी लापरवाही के साथ खिडकी की चौखट पर जमकर कहा--

'सरकार की ऐसी ही आज्ञा है और इसलिए ऐसा करना ज़रूरी है।'

चूँकि वह फिर अपनी नोटबुक पढ़ने मे मग्न हो गया, मै नीचे उतरकर अपनी गाडी के पास चला आया।

गाडीवाले ने पूछा– 'क्यो, क्या उसे बन्द कर दिया ?' मालूम होता था उसे भी कुछ दिलचस्पी थी।

मैने कहा—'हॉ, उन्होंने बन्द कर दिया है।' सुनकर गाडीवान ने सिर हिलाया।

मैंने पूछा—'तो क्या मास्को मे भीख मॉगना वर्जित है ?'

'मुझे क्या पता।' गाडीवान ने जब ब मे कहा।

मैंने फिर कहा—'किन्तु ईसामसीह के नाम पर भीख मॉगने से किसी को कैद कैसे किया जा सकता है ?'

उसने उत्तर दिया—'आजकल यही नया कायदा है, भीख मॉगना मना है।'

तबसे मैने अकसर पुलिसवालो को भिखारियो को पकडकर कोत-वाली और वहॉ से कारखाने ले जाते हुए देखा। एक दिन तो मैंने इन दीन जीवो की टोली-की-टोली देखी, कुल मिलाकर लगभग ३० आदमी थे और उनके आगे और पीछे सिपाही थे। मैने पूछा—'क्या बात है ?'

जवाब मिला—'भीख मॉगते थे।'

ऐसा प्रतीत होता है कि नियम के अनुसार मास्को मे भीख मॉगना वर्जित है, यद्यपि सडको पर भिखारियो की बडी सख्या दिखाई पडती है और पूजा के समय, गिरजाघरो के सामने, उनकी कतार-की-क़तार होती है—खासकर स्मशान-यात्रा के अवसर पर। लेकिन यह क्या बात है

कि कुछ तो पकड़कर कैद कर दिये जाते हैं और बाकी आज़ाद फिरते रहते है ? मैं इस बात का पता न लगा सका। या तो क़ानूनी और ग़ैर-क़ानूनी दो तरह के भिखारी होते है, या उनकी संख्या इतनी बढ़ी हुई है कि सबको गिरफ्तार करना असम्भव है; या शायद यह बात है कि कुछ लोग पकड़े जाते हैं तो दूसरे उनकी जगह पैदा हो जाते हैं।

मास्को में भिखारियों की कई श्रेणियाँ हैं। कुछ तो ऐसी हैं कि जिनका पेशा ही भीख माँगना है। कुछ ऐसी भी है कि सचमुच ही नितान्त कंगाल हैं, किसी तरह मास्को मे आ पडी हे और वास्तव मे बड़ी मुसीबत मे हैं।

पिछली श्रेणी मे ज़्यादातर तो गाँवों से आये हुए है। मैं कई बार इनसे मिला हूँ। कुछ लोग ऐसे थे कि जो बीमार पड गये थे और अच्छे हो जाने पर अस्पताल छोड़ने के बाद उनके पास न तो खाने को कुछ था और न मास्को से चले जाने का साधन, और उनमे से कुछ को तो शराब पीने की भी चाट पड गयी थी। कुछ तन्दुरुस्त थे, पर घर से निकाल दिये गये थे, या अति वृद्ध थे, या बच्चोवाली विधवा, अथवा परित्यक्ता स्त्रियाँ थी; और कुछ तो हृष्ट-पुष्ट और हर तरह से काम करने लायक़ थे।

इन हृष्ट-पुष्ट लोगों से मुझे खास दिलचस्पी पैदा हो गयी थी। इसलिए और भी अधिक कि मास्को में आने के बाद व्यायाम के लिए स्पैरो पहाडी जाने की मेरी आदत-सी पड़ गयी थी और मैं वहाँ लकडी चीरने वाले कृषको के साथ काम भी करता था। यह लोग ठीक उन भिखारियों की तरह थे कि जो प्रायः मुझे सड़कों पर मिलते थे। एक का नाम पीटर था, वह कालूँगा का रहनेवाला था और सैनिक रह चुका था। दूसरे का नाम साइमन था और वह लादीमीर प्रान्त का था। पहने हुए कपड़ों के सिवा उनके पास कुछ न था, खूब मेहनत करने पर प्रतिदिन उन्हें चालीस-पैंतालीस कोपक अर्थात् ८ या ६ शिलिंग मिलते थे। इसमें से वे कुछ बचा लेते थे—कालूँगा का सिपाही तो गरम कोट खरीदना

चाहता था और लादिमीर का किसान गाँव को वापस जाने का इरादा करता था।

इसी तरह के ग्रामवासियों को सड़क पर भीख माँगते देखकर मेरा ध्यान इनकी ओर विशेष रूप से गया। और मेरे मन मे यह कुतूहल हुआ कि वे लोग भीख क्यो मॉगते है, जब कि वे दोनो काम करते हैं?

एक बार मैंने भीख मॉगने वाले एक बलिष्ठ और स्वरूप कृषक से पूछा, 'तुम कौन हो और कहॉ से आये हो?' उसने बताया कि काम की तलाश मे वह कालूँगा से आया था। पहले तो उसे ईंधन चीरने का काम मिल गया, लेकिन जब काम खत्म हो गया तो उसके और उसके साथी के बहुत ढूँढने पर भी दूसरा कोई काम न मिला। उसका साथी उसे छोडकर चला गया और उसने अपने पास का सब-कुछ उदर पूर्ति के लिए बेच डाला। यहॉ तक कि अब उसके पास लकड़ी चीरने का सामान खरीदने तक को कुछ न था। आरा खरीदने के लिए मैंने उसे रुपया दिया और काम के लिए स्थान भी बता दिया। पीटर और साइमन से मैंने पहले ही कह रखा था कि एक आदमी को वे रख लें और उसके लिए एक साथी तलाश कर ले।

चलते समय मैंने उससे कहा—'देखो आना जरूर! करने के लिए वहॉ काम बहुत है।'

'जरूर' मै जरूर आऊँगा। इस तरह दर-दर भीख मॉगते फिरने मे मुझे कोई आनन्द आता है, जब कि मैं काम कर सकता हूँ?' उस आदमी ने इतनी दृढ़ता से कहा कि मुझे उसकी बात पर पूर्ण विश्वास हो गया।

दूसरे दिन जब मैं पीटर और साइमन के पास गया, तो मालूम हुआ कि वह नही आया—और, सचमुच वह नहीं आया था। इस तरह मैंने कई बार धोखा खाया। मुझे कुछ ऐसे लोगो ने भी ठगा कि जिन्होंने मुझसे कहा कि घर जाने के लिए टिकट खरीदने-भर के लिए रुपये की

जरूरत है। मैने उन्हे रुपया दिया, किन्तु कुछ दिनो बाद फिर मुझे वे सड़को पर मिले। उनमे से बहुतो को तो मै अच्छी तरह जान गया था और वे भी मुझे पहचानते थे। लेकिन कभी भूल से वे मेरे पास आते और फिर वही झूठा किस्सा दुहराते, लेकिन मुझे पहचानकर उलटे पॉव चले जाते।

इस तरह मैंने देखा कि इस श्रेणी के लोगो मे भी बहुत-से धूर्त है। किन्तु ये कंगाल धूर्त भी बहुत ही बुरी हालत मे थे। वे सब फटे चिथड़े पहने, भूखे थे। अख़बारो मे हम ऐसे ही लोगो के सरदी से ठिठुरकर सड़कों पर मरने और दुखमय जीवन से बचने के लिये फांसी लगाकर मरने की खबरे पढ़ा करते है।

: २ :

जब कभी मै नगर के लोगो से उनके चारो ओर फैली हुई इस बीभत्स दरिद्रता का ज़िक्र करता तो वे सदा यही उत्तर देते—ओह, तुमने अभी देखा ही क्या है ? यदि तुम असली भिखारियो की 'सुनहरी टोली' को देखना चाहते हो, तो ज़रा खित्रोफ बाज़ार मे जाकर वहाँ की स्थिति को देखो।

मेरे एक मसखरे मित्र ने संशोधन पेश करते हुए कहा कि उन भिखा-रियो की संख्या इतनी बढ गयी है कि उसे 'सुनहरी टोली' न कहकर 'सुनहरा दल' कहा जा सकता है। मेरे हास्य-प्रिय मित्र का कथन सत्य था। पर उनका कथन सत्य के और भी निकट होता, यदि वह कहते कि मास्को मे इन लोगो का मण्डल नही, दल भी नही, बल्कि एक पूरी सेना-की-सेना है—और यह सेना लगभग पचास हजार लोगो की है।

नगर-निवासी जब मुझसे शहर की ग़रीबी का ज़िक्र करते तो उन्हे कुछ हर्ष-सा होता हुआ दिखायी देता था। और वह शायद इसलिए कि उनके मन मे यह खयाल पैदा होता कि वे वस्तु-स्थिति से इतने अधिक परिचित है। मुझे याद है, जब मै लन्दन गया था तो वहाँ के नागरिक भी अपने नगर की दरिद्रता का वर्णन करते समय एक प्रकार का सन्तोष सा अनुभव करते थे, मानो यह भी कोई गर्व की बात हो।

जिस ग़रीबी के सम्बन्ध मे मैने इतनी बाते सुनी थी, उसे आँख से देखने की मेरी इच्छा थी। कई बार मैं खित्रोफ बाज़ार की ओर चला भी, किन्तु हर दफा लज्जा और पीडा का मुझे अनुभव हुआ। मेरे अन्तर

मे किसीने कहा—'जिन्हे तुम सहायता नहीं पहुँचा सकते, उनके कष्टो को देखने क्यो जाते हो ?' इसके उत्तर मे आवाज़ आयी—'जब तुम यहाँ रहकर शहर की सभी सुन्दर आनन्दप्रद बातों को देखते हो, तो जाकर दुःखप्रद बातो को भी देखो ।'

बस, एक दिन दिसम्बर मास मे, जब कि खूब सर्दी थी और तेज़ हवा चल रही थी, मै नगर की दरिद्रता के केन्द्र खित्रोफ़ बाज़ार की ओर गया । वह छुट्टी का नहीं, कामकाज का दिन था और शाम के चार बजे थे । मैंने दूर से ही देखा कि अनेको आदमी विचित्र कपडे पहने हुए है—स्पष्ट ही मालूम होता था कि वे कपड़े उनके लिए नही बनाये गये थे—और उनके जूते तो और भी अजीब थे । वे रोगी-से दीखते थे और सभी के चेहरे से ऐसा मालूम होता था कि उनके चारो ओर जो कुछ हो रहा है उससे वे बिलकुल उदासीन हैं—मानो उन्हें कुछ मतलब ही नही ।

उनकी पोशाक इतनी विचित्र और बेढंगी होने पर भी वे सब के सब निश्चिन्त भाव से एक ही ओर को चले जा रहे थे । उन्हे इस बात का तो जरा भी ख़याल होता दिखायी न देता था कि उनके विचित्र वेष को देखकर लोग अपने मन मे क्या कहेगे ? मैं भी उन लोगो के पीछे चलता रहा और खित्रोफ़ बाजार मे जा पहुँचा । वहाँ पहुँचकर मैंने देखा कि बहुत-सी स्त्रियाँ भी वैसी ही बेहूदी पोशाकें पहने हुए हैं । उनकी टोपी, लबादे, बण्डी, और बूट आदि सभी फटे हुए हैं, लेकिन फिर भी वे निःसङ्कोच भाव से बैठी हुई थी, इधर-उधर घूमती थी, सौदा करती थीं और एक दूसरे को गालियाँ देती थी—इनमे जवान और बूढ़ी सभी तरह की स्त्रियाँ थीं ।

मालूम होता था कि बाज़ार का समय खत्म हो गया था, क्योंकि वहाँ अधिक लोग न थे, और जो थे उनमे से ज़्यादातर बाजार में होकर पहाडी पर जा रहे थे । मैं भी उनके पीछे हो लिया । मैं ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता था, उसी एक सड़क पर जाने वाले लोगों की संख्या बढ़ती जाती थी । बाजार मे निकलकर मैं एक गली में आया, तो मुझे दो स्त्रियाँ

मिली। उनमें एक जवान थी और दूसरी बूढ़ी। दोनो भूरे रंग के कुछ फटे कपडे पहने हुए थी। वे बातें करती हुई जा रही थीं। प्रत्येक बात के साथ एक-न-एक वाहियात शब्द भी वे अवश्य बोलती थीं। नशे मे कोई भी न थी, पर दोनो को अपने-अपने काम की धुन थी। आने-जाने वाले लोग तथा आगे-पीछे चलनेवाले उनकी बातो पर ज़रा भी ध्यान न देते; पर मेरे कानो को तो वे बडी विचित्र और कटु मालूम होती थीं। मालूम होता है, उस तरफ़ के लोगो की बातचीत का ढंग ही यही था। भीड के कुछ लोग तो बाईं तरफ़ के मकानो में घुस गये और बाक़ी लोग पहाडी पर चढ़कर एक बडे मकान की ओर जा रहे थे। मेरे साथ जो लोग चल रहे थे उनमे से अधिकांश तो इस मकान मे चले गये। इस मकान के आगे तरह-तरह के आदमी थे; कुछ खडे थे, कुछ बैठे थे। कुछ तो फुट-पाथ पर थे और कुछ खुली हुई जगह मे, जहाँ बर्फ पड़ रही थी। दरवाज़े के दाहिनी तरफ स्त्रियाँ थीं और बाईं ओर पुरुष। मैं कभी तो आदमियो के पास से होकर निकला और कभी औरतो के पास से, और जहाँ पर सैकडो की यह भीड समाप्त होती थी, वहीं जाकर मै ठहर गया। जिस मकान के पास हम लोग खडे थे वह 'ल्यापिन अनाथावास' था। भीड उन लोगो की थी, जो रात्रि में सोने के लिए अन्दर जाना चाहते थे। शाम को पाँच बजे मकान का द्वार खुलता है और भीड को अन्दर जाने दिया जाता है। रास्ते मे मिलनेवाले प्रायः सभी लोग यहीं आ रहे थे।

जहाँ पर मनुष्यों की पक्ति समाप्त होती थी, मै वहीं पर खड़ा रहा। जो लोग मेरे पास थे, वे ग़ौर से मेरी ओर देख रहे थे; यहाँ तक कि मेरा ध्यान भी उनकी ओर गया। उनके शरीर पर जो चीथडे थे वे विभिन्न प्रकार के थे; लेकिन उन सबकी आँखो का भाव तो एक ही-सा था। उनकी आँखें मानों कह रही थीं—'ऐ दूसरी दुनिया के मनुष्य! तुम यहाँ हमारे साथ क्यों खडे हो? तुम कौन हो? क्या तुम कोई आत्म-तुष्ट धनिक हो कि जो हमारी दुर्दशा देखकर अपने को प्रसन्न करने,

अपने राग-रंग का मज़ा बदलने के लिए तथा हमे चिढ़ाने के लिए आये हो ? या तुम वह हो कि जो कही होता ही नही और जिसका होना सम्भव भी नही—एक दयालु मनुष्य कि जिसके हृदय मे हमारे लिए कुछ करुणा या ममता हो ?'

सभी के चेहरो पर यही सवाल था। उनमे से हरएक मेरी ओर देखता था, मेरी नज़र से नज़र मिलाता था और फिर मुँह फेर लेता था। मैंने चाहा कि मैं कुछ लोगो से बात करूँ, पर कुछ देर तक तो मुझे ऐसा करने का साहस नही हुआ। किन्तु योंही एक-दूसरे की नज़रो ने धीरे-धीरे हम लोगों का परिचय करा दिया और हम लोगो ने महसूस किया कि हमारी सामाजिक स्थिति कितनी ही विभिन्न क्यो न हो, फिर भी हम भाई-भाई है—मनुष्य हैं। धीरे-धीरे हम लोगो का डर जाता रहा।

मेरे पास ही एक किसान खड़ा था, जिसकी दाढ़ी लाल थी और मुँह सूजा हुआ था। उसकी बण्डी फटी हुई थी, और फटे हुए फुलबूट में से उसके पाँव निकले हुए थे, हालाँकि बर्फ खूब पड़ रहा था। तीसरी या चौथी बार हमारी नज़र मिली और मेरा मन उसकी ओर ऐसा खिंच गया कि अब उससे बोलने मे नही, न बोलने मे लज्जा थी। मैंने पूछा—'तुम्हारा घर कहाँ है ?'

उसने उत्सुकतापूर्वक उत्तर दिया—'मैं स्मालेस्क से काम की तलाश मे आया था। कर चुकाने तथा खाने की चीज़े मोल लेने के लिए रुपये की ज़रूरत थी।' इस बीच मे लोग हमारे पास इकट्ठे होने शुरू हो गये। उसने कहा—'आजकल कोई काम नहीं मिलता। सारा काम सिपाहियो ने ले लिया है। मैं इधर-उधर भटकता फिरता हूँ। ईश्वर जानता है कि दो दिन से मैंने कुछ नहीं खाया।'

उसने लजाते हुए, कुछ हँसने की चेष्टा करते हुए, यह अन्तिम बात कही थी। पास ही स्बिटन† बेचनेवाला एक बूढ़ा सिपाही खड़ा था।

---

† चाय की तरह पीने का पदार्थ।

मैंने उसे बुलाया। उसने स्वीटन का एक प्याला भरा। ग्राम-वासी ने गरम-गरम प्याला हाथ में लेकर पीना शुरू किया। पहले तो उसने उससे अपने हाथ सेके, क्योंकि इतनी मँहगी कमाई को वह व्यर्थ कैसे जाने दे सकता था? इस तरह हाथ सेकते-सेकते उसने अपने अनुभवो का वर्णन करना शुरू किया।

इन लोगों की जीवन-घटनायें, या कम से कम वे कहानियाँ कि जो ये लोग सुनाते है, प्राय: सदा ही एक-सी होती है। उसे कुछ काम मिला था, वह समाप्त हो गया, और यहाँ अनाथावास मे उसका बटुआ किसी ने चुरा लिया, जिसमें उसके रुपये और पासपोर्ट आदि थे। अब वह मास्को से बाहर जाने मे असमर्थ है।

उसने कहा कि दिन मे तो वह किसी सदावर्त मे ठंडा-बासी जो कुछ थोडा-बहुत मिल जाता है वही खाकर और तापकर समय व्यतीत करता है और रात मे इसी ल्यापिन-गृह मे पडा रहता है, जहाँ उसे कुछ देना नहीं पडता। उसने यह भी कहा कि वह तो गश्त लगाने वाले सिपाहियो की प्रतीक्षा ही कर रहा है, ताकि वे आवे और पासपोर्ट न होने के कारण उसे गिरफ्तार कर ले जायें और सरकारी खर्च से अपने जन्मस्थान को भेज दिया जाय। जब वह यह बाते कह रहा था, भीड में से दो-तीन आदमियों ने कहा कि उनकी भी ठीक यही हालत है।

एक लम्बी नाकवाला पतला-दुबला युवक, जिसके शरीर पर सिर्फ एक कुर्ता था और वह भी कन्धो के पास से फटा हुआ था, सिर पर फटी-टूटी टोपी रखे हुए, भीड में से निकलकर, मेरे पास आया। वह बुरी तरह काँप रहा था; और ज्योंही हमारी नज़रे मिलीं, उसने कृषक की ओर देखकर तिरस्कारपूर्ण भाव से हँसने की चेष्टा की। और वह शायद इसलिए कि वह दिखाना चाहता था कि मैं कृषक से बडा हूँ।

मैंने उसे भी स्विटन का एक गिलास दिलाया। पहले मनुष्य की भाँति उसने भी गिलास से अपने हाथ सेके, किन्तु ज्यो ही उसने बोलना शुरू किया, एक ऊँचे साँवले रंग के मनुष्य ने आकर उसे एक ओर हटा

दिया। उसकी नाक तोते की तरह टेढ़ी और सिर नंगा था, और वह पतली कमीज व वास्कट पहने हुए था। उसने भी पीने के लिए स्विटन माँगी। इसके बाद जो आदमी स्विटन पीने आया वह पतली दाढ़ीवाला लम्बे क़द का एक बूढा था। वह ओवरकोट पहने हुए था और एक डोरी उसकी कमर में लिपटी हुई थी। उसके जूते छाल के थे और वह पिये हुए था। इसके पीछे एक लडका आया, जिसका मुँह सूजा हुआ था और आँखे तर थी। वह एक छोटा-सा भूरा कोट पहने हुए था, फटी हुई पतलून मे से उसके घुटने बाहर निकल रहे थे और मारे सर्दी के एक-दूसरे से टकरा रहे थे। वह इतना ठिठुर गया था और इतना काँप रहा था कि वह गिलास को पकड न सका और सारा स्विटन उसके कपडो पर गिर पडा। दूसरे लोग उसे गालियाँ देने लगे; पर वह बेचारा काँप रहा था और करुण हँसी से हँस रहा था।

इसके बाद एक भद्दी सूरत का, विकृत अंगोवाला आदमी आया, जो चीथड़े पहने था और नंगे पाँव था। फिर तो तरह-तरह के लोग मेरे नज़दीक आने लगे; कोई तो राजकर्मचारी-जैसा था, कोई पादरी के समान था, और एक के तो नाक ही न थी। पर ये सब भूखे, शीत-पीडित, अत्यन्त दीन और दयनीय-से थे। सब मेरे पास आकर स्विटन माँगने लगे। जब स्विटन समाप्त हो गयी तब एक ने कुछ पैसे माँगे; उसकी देखा-देखी दूसरे ने, फिर तीसरे ने, और फिर तो सभी पैसे माँगने लगे। इतने मे पड़ौस के मकानवाले चौकीदार ने डपटकर कहा—'हमारे घर के सामने से हट जाओ।' लोग सुनते ही चुपचाप वहाँ से हट आये। उस मण्डली में से कुछ लोगों ने स्वयं-सेवक बनकर मेरी रक्षा का भार अपने ऊपर लिया। वे मुझे भीड मे से निकालकर ले जाना चाहते थे, लेकिन जो समूह अभी दूर तक फुट-पाथ पर फैला हुआ था वह अब सिमटकर धक्का-मुक्की करता हुआ मेरे पास आने की चेष्टा करने लगा। हरएक मेरी तरफ़ देखता था और माँगता था। ऐसा प्रतीत होता था कि प्रत्येक मनुष्य का चेहरा दूसरे की अपेक्षा अधिक करुणोत्पादक और

दीन-हीन था। मेरे पास जो-कुछ था, वह सब मैंने उन्हें दे दिया—सब मिलाकर लगभग २० रूबल होंगे। भीड के साथ ही मैं भी अनाथालय में घुसा।

यह मकान सादा और खूब बडा था तथा उसमें चार भाग थे। छत के ऊपर आदमियों के रहने का स्थान था और नीचे स्त्रियो के लिए। पहले मैं स्त्रियों के कमरे में गया। यह एक बडा कमरा था, जिसमें रेल के तीसरे दर्जे की बैठकों की तरह ऊपर-नीचे दो क़तारों में सोने के लिए तख़्ते लगे हुए थे। फटे-पुराने कपडे पहने, विचित्र आकृति-प्रकृति की स्त्रियाँ, बूढी और जवान, आ-आकर अपना-अपना स्थान ग्रहण करने लगीं; कुछ तो नीचे के विभाग में और कुछ ऊपर के तख़्तों पर चढ़ गईं। कुछ प्रौढ़ा स्त्रियाँ हाथ से क्रास बनाकर ईश्वर को याद करके उस मकान के बनानेवाले को दुआ देने लगीं, और कुछ योंही हँसी-मज़ाक और गाली-गलौज़ करने लगीं। मैं दूसरी मंज़िल पर गया। वहाँ पुरुष इसी प्रकार अपनी-अपनी जगह बैठे थे। उनमें से एक आदमी को मैंने पहचाना, जिसे मैंने कुछ रुपया दिया था। उसे देखते ही मेरे मन में बडी लज्जा उत्पन्न हुई और मैं फ़ौरन ही वहाँ से भाग आया।

घर आते हुए मुझे ऐसा मालूम हुआ, जैसे मैंने कोई अपराध किया हो। कालीन से ढके हुए ज़ीने से होता हुआ मैं हाल में आया, जिसके फ़र्श पर सुन्दर गलीचा बिछा हुआ था; और वहाँ अपना कोट उतार कर पाँच प्रकार के पकवानों का भोजन करने बैठा। सफेद टाई और सफेद दस्ताने तथा वर्दी पहने हुए दो नौकर आ-आकर भोजन परोस रहे थे।

उसी समय एक बहुत पुरानी घटना याद आयी। तीस वर्ष पहले पेरिस में हज़ारों आदमियों की उपस्थिति में जल्लादों-द्वारा एक आदमी का सिर कटते हुए देखा था। मैं जानता था कि वह आदमी भयङ्कर अपराधी है और इस प्रकार के अपराध के लिए मौत की सज़ा देने के

पक्ष मे जो दलीलें पेश की जाती हैं, उनसे भी मैं परिचित था। मैं जान-बूझकर इस प्राण-दण्ड के दृश्य को देखने गया था, किन्तु जिस समय तेज़ तलवार से उस आदमी का सिर धड से अलग किया गया, मैं जैसे सन्नाटे मे आ गया और जैसे नस-नस मे मुझे अनुभव होने लगा कि मृत्यु-दण्ड के पक्ष की जितनी दलीलें मैंने अभी तक सुनी है, वे सब झूठी और शैतानियत से भरी हुई हैं और चाहे कितने ही आदमी इसको कानूनन जायज़ समझे और भले ही उसे किसी भी नाम से पुकारें, मैं तो यही कहूँगा कि यह और कुछ नहीं, शुद्ध नर-हत्या है और आज इस प्रकार इन्होने वही नर-हत्या—संसार का सबसे बडा और सबसे भयङ्कर पाप किया है; और मै, चुपचाप, बिना किसी प्रकार की आपत्ति किये, खड़ा-खड़ा देखता रहा और इस प्रकार बीभत्स पाप के करने मे सहायक तथा इस महान् पाप का भागी हुआ।

और अब, जबकि लोगो के कष्ट—हज़ारो म नव-बन्धुओ की भूख और शीत की पीडा और दुर्दशा मैंने अपनी आँखो से देखी तब, उसी प्रकार का खयाल मेरे मन मे फिर पैदा हुआ। न केवल मेरे मस्तिष्क ने ही बल्कि मेरी आत्मा के कण-कण ने इस बात को महसूस किया कि मास्को मे इस प्रकार के हज़ारो दु:खित प्राणियो के होते हुए अभी अन्य लाखो मनुष्यो की तरह मैं प्रतिदिन तरह-तरह के सुन्दर और स्वादिष्ट पक्वानो से अपना पेट भरता हूँ, अपने घोडो तक की बडी देख-भाल रखता हूँ, और इतना ही क्यो, मै अपने फ़र्श को भी मखमली कालीनो से ढककर रखता हूँ। संसार के बुद्धिमान और विद्वान् लोग चाहे कुछ भी क्यो न कहे, मैं तो यही कहूँगा कि ऊपर लिखे प्रकार का एक बडा भारी अपराध संसार से बराबर किया जा रहा है और मैं भी अपनी आराम-तलबी और ऐश-पसन्दी की आदतो द्वारा उस अपराध मे भाग ले रहा हूं।

इन दोनो अपराधों मे अन्तर है तो सिर्फ इतना ही कि प्राणदण्ड वाले मामले मे मुझसे जो-कुछ बन सकता था वह इतना ही था कि

फाँसी की मशीन के पास खड़े होकर मैं चीखकर, चिल्लाकर, जल्लादों से कहता कि तुम हत्या कर रहे हो और यह जानते हुए भी कि मेरी मेहनत का कोई फल न निकलेगा, उसके कृत्य को रोकने की मुझे हर तरह से कोशिश करनी चाहिए थी; किन्तु इस दूसरे मामले मे उन्हें पीने के लिए स्विटन तथा उस समय मेरे पास जो रुपये थे, उन्हें ही देकर मुझे सन्तोष करना पड़े—ऐसी बात न थी। बल्कि, मैं चाहता तो अपने शरीर पर का कोट और मेरे घर मे जो-कुछ था, वह सब उन्हे दे डाल सकता था। लेकिन मैंने ऐसा नहीं किया। इसीलिए उस समय मैंने महसूस किया, अब भी महसूस करता हूँ, और सदा ही महसूस करता रहूँगा, कि संसार मे लगातार होते रहनेवाले एक महान् पाप मे मैं भी भाग ले रहा हूँ; और सचमुच ही मैं इस पाप का भागीदार बना रहूँगा, जबतक कि दूसरो के भूखे रहते हुए मेरे पास आवश्यकता से अधिक भोजन है और जबतक कि एक भी बग़ैर -कोट के आदमी के रहते हुए मैं अपने पास दो कोट रखता हूँ।

: ३ :

जिस दिन मैं ल्यापिन के अनाथावास को देखकर आया उसी रोज़ शाम को एक मित्र से मैंने अपने विचार प्रकट किये। मेरे वह मित्र उसी शहर के रहनेवाले थे। उन्होने मेरी बाते सुनी और जैसे कोई नई बात न सुनी हो, इस भाव से कहा कि इसमे तो अनोखी कोई बात ही नहीं, यह तो नागरिक जीवन की एक बहुत मामूली और स्वाभाविक बात है। क़स्बो मे रहने के कारण ही शायद मुझे इसमे विचित्रता दीखती है, अन्यथा यह हालत तो सदा से रही है और सदा बनी रहेगी, क्योकि सभ्यता का यह एक ज़रूरी अंग है। उन्होने अन्य बातो के साथ यह भी बताया कि लण्डन मे तो इससे भी खराब स्थिति है, इसलिए इन्होने मुझे विश्वास दिलाना चाहा कि इसमे दुःखी या परेशान होने की कोई बात नहीं है।

मैं अपने मित्र से बहस करने लगा, लेकिन इतनी गर्मी और तेज़ी के साथ कि पास के कमरे से दौडकर मेरी स्त्री पूछने आयी कि मामला क्या है? मालूम पडता है, अनजान में ही, तीव्र दुःखित स्वर मे, हाथ झटकते हुए, मैं चिल्लाकर बोल उठा था "हम इस तरह अपने जीवन को कैसे व्यतीत कर सकते है? न तो हमें ऐसा करना ही चाहिए और न हमें ऐसा करने का अधिकार है।" अनावश्यक उत्तेजना के लिए मेरी भर्त्सना की गयी और मुझे बताया गया कि मैं बडी जल्दी गरम हो उठता हूँ—शान्तिपूर्वक किसी विषय पर बात ही नहीं कर सकता। मुझे यह भी सुझाया गया कि उन अभागे लोगों के दुःख से हम अपना स्नेहमय

पारिवारिक जीवन दुःखी क्यों कर लें। मैंने देखा कि बात तो ठीक है, इसीलिए मैं चुप रह गया। किन्तु आत्मा के किसी निगूढ स्थल में मुझे ऐसा भान होता था कि मेरा विचार ठीक है और अपने आत्मा की इस आवाज़ को मैं किसी तरह दबा न सका।

मैं जिस प्रकार का जीवन व्यतीत कर रहा था उसे निर्दोष सिद्ध करने के लिए मैं मन-ही-मन कितनी ही चेष्टा क्यों न करूँ, पर जब कभी मुझे अपने या दूसरों के सजे सजाये बैठक-ख़ानों, तरह-तरह के अमीराना पक्वान्नों से भरे हुए दस्तरख़ानों या शानदार घोड़ों और सुसज्जित कोचवान वाली गाड़ियों का ध्यान आता था—जब कभी मैं दूकानों, नाटकों और भोजों का ख़याल करता, तो मुझे क्रोध आये बिना न रहता। जब कभी मुझे इनका ध्यान आता, उसी समय उस अनाथावास के दरिद्र, सरदी से काँपते हुए दीन-हीन, अभागे मनुष्यों की मूर्तियां मेरे सामने आ खड़ी होतीं। मैं इस विचार को तो अपने मन से कभी दूर ही न कर सका कि इन दोनों एक दूसरी से बिलकुल विपरीत हालतों का आपस में बहुत गहरा, कार्य-कारण का-सा सम्बन्ध है। मुझे याद है कि अपने को अपराधी समझने का जो ख़याल मेरे मन में पैदा हुआ था, वह कभी दूर नहीं हुआ, किन्तु इसके साथ ही एक दूसरा खयाल भी आ मिला, जिससे पहला ख़याल कुछ मन्द हो गया।

ल्यापिन-गृह की जो छाप मेरे हृदय पर पड़ी थी उसका जब कभी मैं अपने मुलाक़ातियों और मित्रों से ज़ि करता, तो वे सदा वही एक ही तरह का उत्तर देते। वे प्रायः मेरी दयालुता और स्निग्धता की प्रशंसा करते हुए कहते कि मुझे जो इसका ख़याल हो रहा है, इसका कारण यह है कि मैं, लियो टालस्टाय, बज़ाते-ख़ुद नेक और रहमदिल हूँ; और मैं भी उनकी इस बात का विश्वास करने लगा।

इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि आत्म-धिक्कार और लज्जा की जो तीव्र भावना मेरे हृदय में पैदा हुई थी, वह अब कुन्द पड़ गई और उसके बजाय मुझे एक प्रकार से अपने गुणों पर सन्तोष-सा होने

लगा और इस बात की इच्छा होती थी कि लोग मेरे इन गुणों को जानें। मैंने दिल मे कहा—'सच्ची बात तो शायद यह है कि यह मेरे विलास-मय जीवन का दोष नही है, बल्कि संसार की परिस्थिति ही कुछ ऐसी है; और वह ज़रूरी है। इसलिए मेरे अपने जीवन मे परिवर्तन करने से वह बुराई, जिसे मैंने देखा है, दूर न हो सकेगी।'

मैंने यह भी सोचा कि अपने रहन-सहन मे तबदीली कर देने से कोई लाभ न होगा। बुराई तो जैसी है, वैसी ही बनी रहेगी, उलटे मेरे परिवार का जीवन दुःखमय हो जायगा। इसलिए जैसा कि मैंने समझा था, रहन-सहन को बदलना अब मेरा उद्देश्य न होना चाहिए, बल्कि इस बात की चेष्टा करनी चाहिए कि जहाँ तक मुझसे बन सके इन अभागे लोगो की हालत को सुधारा जाय। मैंने सोचा कि सारी बातो का नतीजा यह है कि मैं एक अत्यन्त दयालु और नेक आदमी हूँ और अपने भाइयो का उपकार करना चाहता हूँ।

बस, मे परोपकारी कार्यों की एक योजना तैयार करने लगा कि जिसके द्वारा मुझे अपने समस्त गुणो के प्रदर्शन का अवसर मिले। यहाँ पर इतना तो मुझे कह ही देना चाहिए कि जिस समय मैं इस तरह के परोपकारों की योजना रच रहा था, उस समय भी हृदय के छिपे हुए भाग मे मुझे ऐसा मालूम होता था कि मैं जो-कुछ कर रहा हूँ वह ठीक नही है; किन्तु, जैसा कि प्रायः होता है, मेरी बुद्धि और कल्पना ने आत्म-विवेक की आवाज का गला घोट दिया।

इसी समय मर्दुमशुमारी का काम हो रहा था। मैंने सोचा, उस परोपकार-कार्य को प्रारम्भ करके अपनी इच्छा को पूरा करने का यह अच्छा मौक़ा है। ग़रीबी के प्रति अमीरो की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए मैंने यह तरकीब निकाली। मैंने रुपया एकत्र करना प्रारम्भ किया और ऐसे आदमियो की सूची तैयार करने लगा कि जो मर्दुमशुमारी के अफसरो के साथ घूम-घूमकर ग़रीबो के अड्डे देखें, उनके साथ मिल-जुलकर उनकी आवश्यकताओ को मालूम करें, जिन्हे धन की ज़रूरत

हो उन्हे धन दे, जो लोग काम चाहते हो उन्हें काम दिलायें, उनके लडकों को विद्यालयों मे भरती करें और वृद्धों तथा स्त्रियो को अनाथालय आदि मे रखे ।

मैने यह भी सोचा कि जो लोग इस काम को करेंगे उन्ही की एक स्थायी समिति बना ली जायगी, जो मास्को के विभिन्न भागो मे अपने-अपने लिये काम बांट लेंगे और इस बात का यत्न करेंगे कि अब आगे कोई परिवार अथवा व्यक्ति दरिद्रता के चंगुल मे न फॅसने पाये और इस तरह पहले ही से खबरगीरी रखते हुए थोड़ा-थोड़ा करके दरिद्रता का मूल से ही नाश कर डाला जायगा।

मैं तो अभी से स्वप्न देखने लगा कि भविष्य मे भिक्षा-वृत्ति तथा दरिद्रता का नामोनिशान भी नही रहा है और इस सुन्दर स्थिति को अस्तित्व मे लाने का कारण भी मैं ही हूॅ । मै सोचने लगा कि तब हम लोग जो कि अमीर हैं, मजे मे पहले ही की तरह आनन्दमय जीवन व्यतीत करेंगे, शानदार मकानों मे रहेंगे, पॉच प्रकार के भोजन करेंगे, गाडियो मे बैठकर भोजो तथा नाटको मे सम्मिलित होने जायेंगे और फिर कभी ऐसे दृश्यो से हमारे मज़े मे खलल न पड़ेगा कि जैसे ल्यापिन-गृह मे मैंने देखा था । यह तरकीब सोचकर मैंने उसपर एक लेख लिखा और उसे छपने के लिए भेजने से पहले ही मैं उन मित्रो से मिलने गया कि जिनसे मुझे सहयोग की आशा थी; और उस दिन जितने लोगो से मैं मिला, सभी से, खासकर धनिक लोगो से, अपनी योजना का जिक्र किया ।

प्रत्येक मनुष्य ने वडी गम्भीरता के साथ ध्यानपूर्वक मेरी बातो को सुना, लेकिन हर जगह मैने देखा कि मेरे श्रोता जिस समय यह समझ पाते कि मैं क्या कहना चाहता हूॅ तो उन्हें एक तरह की परेशानी सी होने लगती और उनकी यह परेशानी, मुझे विश्वास है, प्रायः मेरे ही लिए होती थी । क्योंकि, मै जो कुछ कहता था उसे वे केवल मूर्खता ही समझते थे । ऐसा मालूम होता था कि मेरी बात को तो वे पसन्द न करते थे,

लेकिन किसी सभ्यता-वश क्षण-भर के लिए मेरी उन मूर्खतापूर्ण बातो से सहमत होनें के लिये मजबूर-से हो जाते ।

लोग कहते—'हाॅ, हाॅ, बेशक, यह तो बड़ा ही अच्छा है । यह असम्भव है कि किसी मनुष्य को आपकी योजना से सहानुभूति न हो। आपका विचार बड़ा सुन्दर है, मेरे मन मे भी यह ख़याल उठा था'·· लेकिन क्या कहे, यहाॅ के लोग बडे लापर्वाह है । इसीलिए बड़ी सफलता की आशा करना भी व्यर्थ है ? लेकिन हाॅ, मुझ से जो-कुछ बन सकेगी इस काम में सहायता देने के लिये तैयार हूँ ।

प्रायः सभो से मुझे इस प्रकार का उत्तर मिला । वे अपनी इच्छा से या मेरी दलोलों से क़ायल होकर मेरी बात मानते हो, यह बात नहीं, बल्कि ऐसा मालूम होता था कि किसी दूसरी ही वजह से, शायद मेरे व्यक्तित्व के कारण; मेरी बात को अस्वीकार करना उनके लिए बड़ा ही कठिन हो रहा था ।

यह मै इसलिए कहता हूँ कि जिन लोगों ने आर्थिक सहायता देने का वचन दिया था, उन्होंने यह न बताया कि वे कितना धन देंगे और इसलिये खुद मुझे ही कहना पड़ता था—'तो क्या मैं आशा करूॅ कि आपसे इतने रुपयो की सहायता मिलेगी ?' और उनमे से एक ने भी रुपया नहीं दिया। बात यह है कि जिस चीज को हम पसन्द करते हैं उसके लिए हम फौरन ही रुपया देने के लिए तैयार हो जाते हैं । लेकिन यहाॅ जिन लोगो ने सहानुभूति प्रकट की अवथा धन देने को कहा, उनमे से एक ने भी रुपया निकाल कर दिया नही ।

उस दिन, सबसे अन्त में, जिस घर मे मैं गया था वहाॅ एक बडी-सी मित्र-मण्डली एकत्र थी । घर की मालक़िन बहुत वर्षों से परोपकार के कामों मे योग दिया करती थी । कई गाडियाॅ द्वार पर खडी थी और हाल के अन्दर क़ीमती वर्दियाॅ पहने चपरासी बैठे हुए थे । विशाल बैठकख़ाने मे जवान और बूढी महिलायें अमीराना पोशाक और जवा-रात पहने हुए नवयुवकों से बातें कर रही थी और साथ ही ग़रीबों की

सहायता के निमित्त लाटरी के लिए गुडियाँ सजाती जाती थीं।

एकत्र हुई मण्डली तथा बैठकखाने के इस दृश्य से मेरे हृदय को बडी चोट पहुँची। एक तो खुद इन लोगो की सम्पत्ति ही करोड़ो की थी, दूसरे इनके वस्त्राभूषणों, गाडी-घोडो, नौकरो-चाकरो आदि पर जो रकम खर्च हुई है उसका सूद भी इन महिलाओ के कार्य के मूल्य की अपेक्षा सैकडो गुना अधिक होगा। इन सब बातों को देखकर ही मुझे समझ जाना चाहिए था कि कम-से-कम यहाँ मुझे अपनी योजना के लिए सहानुभूति पाने की आशा न करनी चाहिए, किन्तु मैं तो एक प्रस्ताव रखने आया था, और यह काम चाहे कितना ही अप्रिय मालूम हो, मुझे तो करना ही था। इसलिए अपने लेख के शब्दो को ही लगभग दोहराते हुए मैंने यह प्रस्ताव उनके सामने रखा।

एक महिला ने कुछ आर्थिक सहायता देने का वचन दिया। मिज़ाज कमज़ोर होने के कारण ग़रीबो को देखने के लिए जाने मे तो वह असमर्थ थी, पर धन से सहायता करना चाहती थीं। लेकिन वह कितना रुपया देंगी और कब देंगी, इसका कुछ भी ज़िक्र न किया। एक दूसरी महिला तथा एक नवयुवक ने कहा कि वे ग़रीबो को देखने जायँगे; किन्तु उनकी इस कृपा का लाभ मुझे मिला नहीं। वह मुख्य सज्जन कि जिन्हें सम्बोधित करके मैंने सब बाते कही, बोले कि साधनों का अभाव होने के कारण कुछ अधिक नही हो सकेगा। बात यह है कि मास्को के तमाम धनिक, जिनसे इस कार्य मे सहायता की आशा की जा सकती थी, अपनी-अपनी इच्छानुसार दान कर चुके है और उसके बदले उन्हे ख़िताब, तमग़े तथा अन्य मान-सूचक बाते भी प्राप्त हो चुकी है। अमीरो से रुपया निकालने का यही एक ज़बरदस्त तरीका है, किन्तु सरकार अब फिर से मान-वर्षा करे, यह कठिन है।

उस दिन लौटकर जब मैं बिस्तर पर लेटा तब मुझे केवल इतना ही ख़याल न था कि मेरे इस विचार से कुछ होनेवाला नहीं है, बल्कि मेरे मन मे कुछ ऐसी लज्जाजनक भावना थी कि जैसे मैं सारे दिन कोई हेय

और घृणित कार्य करता रहा होऊँ। किन्तु फिर भी मैं अपने काम से बाज़ न आया।

पहली बात तो यह थी कि काम शुरू कर दिया था और अब झूठी लज्जा-वश उसे छोड़ते न बनता था। दूसरे, यदि मैं सफल हो जाऊँ तब तो कोई बात ही न थी और नहीं तो फिर भी मैं जबतक इस काम में भाग लेता रहता, तबतक अपने जीवन को उसी तरह मज़े से बिता सकता था, जैसा कि अबतक करता आया था। किन्तु इस योजना के असफल हो जाने पर तो मुझे अपना विलासी रहन-सहन छोड़ने के लिए मजबूर होना पड़ता और इस बात से अनजान में ही मैं कुछ डरता-सा था। इसलिए मैंने अपने अन्तर की आवाज़ को दबा करके जो काम शुरू किया था, उसे ही जारी रखा।

मैंने अपना लेख छपने के लिए भेज दिया और मनुष्य-गणना से सम्बन्ध रखनेवाली टाउनहाल की एक सभा में झिझकते और लजाते हुए उसकी एक प्रूफ़-कापी पढ़कर सुनायी। उस समय कुछ काँप-सा रहा था और मैंने देखा कि मुझे श्रोतागण भी मेरे जैसे ही परेशान थे।

मैंने जब पूछा कि क्या मनुष्य-गणना के प्रबन्धक मेरे इस प्रस्ताव को पसन्द करेंगे कि वे अपने पदों को इसलिए स्वीकार करें कि वे सभ्य-समाज तथा दीन-वर्ग को आपस में मिलाये रखने के लिए कड़ी का-सा काम कर सकें, तो मैंने देखा कि मेरे सवाल के उत्तर में केवल एक भद्दी-सी खामोशी छा गयी।

तब दो उपस्थित सज्जनों ने व्याख्यान दिये, जिससे मेरे प्रस्तावों का भद्दापन कुछ सुधरता-सा दिखायी दिया। वक्ताओं ने साधारणतः मेरी योजना को पसन्द करते हुए उससे सहानुभूति प्रकट की, किन्तु साथ ही उसकी अव्यावहारिकता की ओर भी संकेत किया। इससे तत्काल ही लोगों को कुछ सन्तोष होता हुआ दिखायी दिया; लेकिन यह समझकर कि शायद मैं अब भी सफल हो जाऊँ मैं पूछ बैठा कि क्या ज़िला-प्रबन्धक अलग-अलग इस काम को करने के लिए राज़ी हो जायँगे और

मनुष्य-गणना के समय ग़रीबों की जरूरतों को समझकर बाद को भी उनकी सेवा करने के लिए अपने-अपने पदों पर बने रहेंगे ? इस प्रश्न ने तो फिर सबको गड़बड़ी में डाल दिया। उनकी नज़रें मानो कह रही थीं—तुम्हारी इन मूर्खतापूर्ण बातों को सिर्फ़ तुम्हारी ख़ातिर अबतक हमने सुन लिया; लेकिन तुम फिर भी नहीं मानते।'

उनके मुख पर तो यही भाव था; लेकिन ज़बान से उन्होंने हामी भरी, और इसके बाद दो जनों ने कहा—'यह तो हमारा नैतिक कर्तव्य है।' ये शब्द उन्होंने कहे तो अलग-अलग, लेकिन इस ढंग से कि जैसे दोनों ने पहले ही से सलाह कर रखी हो। मनुष्य-गणना के लिए लेखकों का काम करने के लिए जिन विद्यार्थियों ने अपनी सेवायें अर्पित की थीं उनपर भी मेरी बातों का वैसा ही असर पड़ा। मैंने देखा कि जब मैं उन से बातें कर रहा था तब वे एक प्रकार की घबराहट के साथ मेरी ओर देख रहे थे, जैसे कि किसी भले आदमी को व्यर्थ की बातें करते देखकर अवाक् होकर हम उसकी ओर देखते रह जाते हैं।

पत्र-सम्पादक को जब मैंने अपना लेख दिया, तब उसपर भी वैसा ही असर पड़ा और मेरे पुत्र पर, मेरी स्त्री पर तथा अन्य अनेक जनों पर भी मेरी बात का एकदम वही प्रभाव हुआ।

हरएक आदमी सुनकर कुछ परेशान-सा हो जाता था, किन्तु मेरे इस विचार को अच्छा बताना प्रत्येक मनुष्य आवश्यक समझता था और अपनी पसन्दगी ज़ाहिर करने के बाद फ़ौरन ही योजना की सफलता के सम्बन्ध में सन्देह प्रकट करने लग जाता था, और न जाने क्यों, सभी लोग, बिना किसी अपवाद के, समाज की उदासीनता तथा लोगों की उत्साह-हीनता का बुरा-भला कहने लगते।

मेरा दिल अब भी कहता था कि मैं ठीक काम नहीं कर रहा हूँ, इससे कुछ लाभ न होगा। फिर भी मैंने अपना लेख छपाया और मनुष्य-गणना के काम में भाग लेने लगा। आरम्भ में तो मैंने योजना को खींच-कर खड़ा किया था, किन्तु अब वह बरबस मुझे खींचे लिए जाती थी।

: ४ :

मेरी प्रार्थना के अनुसार खमोवनिचेस्की नाम का विभाग मनुष्य-गणना के लिए मुझे सौंप दिया गया। इस विभाग में वे मकानात हैं, जो जनोफ-भवन कहलाते हैं। पुराने ज़माने में जनोफ़ नामी व्यापारी के वे मकानात थे, पर अब ज़ीनिन नामी व्यापारी के क़ब्ज़े मे हैं। मैंने सुन रखा था कि यह विभाग दरिद्रता और व्यभिचार का केन्द्र है, और इसीलिए अधिकारियो से मैने इस केन्द्र को माँगा था।

नगर-सभा की ओर से नियत हो जाने पर, गणना का कार्य प्रारम्भ होने से कुछ दिन पहले, एक दिन मैं अकेला ही अपने केन्द्र का निरीक्षण करने गया। एक नक्शे की मदद से मैने शीघ्र ही जनोफ़-भवन का पता लगा लिया। निकोल्स्की लेन की बाईं तरफ़ एक साधारण-सी अन्धकार-पूर्ण इमारत बनी हुई थी, जिसमे कोई द्वार भी दिखायी न देता था। उसकी शक्ल देखकर ही मै समझ गया कि यही मकान है कि जिसकी मै तलाश कर रहा हूँ। गली मे घुसते ही दस से चौदह वर्ष की उम्र के छोटे-छोटे कोट पहने हुए कुछ लड़के मिले जो बरफ़ पर से सरकने का खेल खेल रहे थे; उनमे से कुछ तो पैरों ही पर खिसकते थे, और कुछ लकडी की घोडी (skate) पर।

लडके फटेहाल किन्तु शहरी बालको की तरह तेज़ और दबंग थे। मैं खडा होकर उनकी ओर देखने लगा। इतने ही मे उधर से एक बूढ़ी स्त्री निकली, जो फटे हुए कपड़े पहने थी और जिसके गाल सूखकर लटक गये थे। वह पहाड़ी पर चढ़कर स्मोलेन्स्की मार्केट को जा रही थी

और थके हुए घोडे की नाईं बुरी तरह हॉफ रही थी। और कोई जगह होती तो यह बुढ़िया भीख मॉगती, किन्तु यहॉ तो वह सिर्फ बातें करने लगी।

खेलते हुए बालकों की ओर इशारा करके वह बोली—ज़रा इनकी ओर तो देखो! बस, हर वक्त धूम मचाते रहते है। जैसे इनके बाप थे, बस, वैसे ही निखट्टू जनोंक ये भी निकलेंगे। ओवरकोट और टूटी टोपी जो लडका पहने हुए था, उसने बुढ़िया की बात सुन ली और खडे होकर कहा—'गाली क्यो देती है? तू भी तो खुद जनोंकवाली भूतनी है।'

मैंने लडके से पूछा, 'क्या तुम यही रहते हो?' 'हॉ, और यह भी यही रहती हैं। इसी ने तो बूट चुराये थे'—यह कहकर वह बरफ पर से नीचे खिसक गया।

अब तो उस बूढी औरत ने गालियो की झडी ही लगादी। बीच-बीच मे खॉसी की वजह से उसे रुक जाना पडता था। यह झगडा हो ही रहा था कि उसी गली मे फटे कपड़े पहने हाथ हिलाता हुआ एक बुड्ढा आदमी आ निकला। उसके एक हाथ मे कुछ बिस्कुट थे, और मालूम होता था अभी-अभी उसने शराब का एक गिलास चढ़ाया है। उसने बूढी औरत की गालियॉ सुन ली थी और उसका ही पक्ष लेकर चिल्लाते हुए कहने लगा—'अरे शैतान के बच्चो, ज़रा खडे तो रहो।'

यह कहकर धमकाने के लिए उनके पीछे दौडा और मेरे पीछे से निकल कर फुट-पाथ पर चढ़ गया। यदि आप आर्बाट§ नामी शहर की फैशनेबल गली मे इसे देखते तो इसके लॅगडेपन, कमजोरी व ग़रीबी बतानेवाली चेष्टा से दंग रह जाते, लेकिन यहॉ तो वह ऐसा मालूम होता था, जैसे कोई खुशहाल हॅसमुख मजदूर काम करके शाम को घर वापस जा रहा है।

मै इस आदमी के पीछे हो लिया। वह नुक्कड पर से मुड़कर बायी

---

§मास्को की एक गली।

और एक गली मे घुसा और घर के सामने से होता हुआ एक सराय के अन्दर घुसकर अदृश्य हो गया। इस गली मे उस सराय के अलावा, एक पब्लिक-हाउस और कई छोटे-छोटे भोजनालय थे। यही जनोफ-भवन था। यहाँ की इमारतें, रहने के कमरे, सहन और आदमी—सभी गन्दे, भद्दे और बदबूदार थे। जिनसे मै मिला, उनमे से अधिकांश अर्ध-नग्न और फटे हुए कपडे पहने थे। कुछ लोग जा रहे थे और कुछ इस दरवाजे से उस दरवाज़े की ओर दौड रहे थे। दो जने कुछ चिथडों का सौदा कर रहे थे। मैंने घूमकर सारी इमारत को देखा और एक गली और एक आँगन मे से होता हुआ जनोफ-भवन के महराबदार रास्ते पर आकर खड़ा होगया। थोड़ी देर बाद सकुचाते हुए जब मैने अन्दर प्रवेश किया, मुझे बडी ही जघन्य दुर्गन्ध मालूम पडी। आँगन की गन्दगी तो बहुत ही भयानक थी। कोने के पास जब मै मुडा तो मैने छज्जे के पास और जीने के नीचे दौड़ते हुए लोगो के पाँवोंकी आहट सुनी।

पहले एक पतली-दुबली स्त्री, जिसकी आस्तीनें चढ़ी हुई थीं, दौडती हुई बाहर आयी। उस स्त्री की पोशाक किरमजी थी; पर उसका रंग उड़ गया था। पैरो मे वह जूते पहने थी, पर मोजे नही थे। स्त्री के पीछे मोटे बालोवाला एक आदमी दौड़ता हुआ आया। वह लाल कमीज पहने हुए और लहँगे की तरह बहुत ही चौडा पायजामा तथा पैरो में रबड़ के जूते पहने हुए था। उस आदमी ने जीने के नीचे औरत को जा पकड़ा और हँसकर कहा—'तुम मुझसे भागकर नहीं जा सकती।'

'जरा इन हजरत की बातें तो सुनो !'—इस तरह उस औरत ने बात छेड़ी। वह मनुष्य उसके पीछे भागा-भागा फिरता है, इससे वह अप्रसन्न भी मालूम न देती थी। किन्तु इतने ही मे मुझे देखकर उसने क्रुद्ध स्वर मे कहा—'किसे देखते हो ?' चूँकि मै किसी व्यक्ति-विशेष के लिए वहाँ नही गया था, इसलिए उसका प्रश्न सुनकर मै कुछ गडबड़ा-सा गया और वहाँ से चला आया।

इस छोटी-सी घटना ने, मै जो काम करने चला था, उसे एक विल-

कुल नये ही रूप मे मेरे सामने ला रखा। उस गाली देनेवाली बूढ़ी औरत, हँसमुख वृद्ध, और बरफ पर खिसकनेवाले लडको के उस दृश्य ने खासकर मुझपर एक नया ही असर डाला। मैंने सोचा था कि मास्को के अमीरो की सहायता से मैं उनका उपकार कर करूँगा। आज पहली बार मैंने यह समझा कि इन दीन-हीन अभागो के लिए सिर्फ यही प्रश्न नहीं है कि वे किसी प्रकार दु.ख-सुख के साथ भूख और सर्दी की मुसीबतो को झेल लें, बल्कि उनके सामने एक समस्त जीवन है। उनके लिए भी प्रत्येक दिन मे चौबीस घण्टे होते है, जिन्हे किसी-न-किसी तरह उन्हे बिताना ही पडेगा। मै अब समझा कि खाने-पीने और सर्दी आदि के प्रबन्ध के सिवा भी उन्हे अपने जीवन का ज्यादातर समय हमी लोगों की तरह बिताना है। हमारी ही तरह उन्हे कभी क्रोध आ सकता है और थकावट और सुस्ती भी हो सकती है, जिसे वे दूर करने के लिए हँसना-बोलना चाहेगे और किसी भी समय या तो वे उदास होगे या प्रसन्न रहेगे।

यह बात कितनी ही विचित्र क्यो न मालूम पडे, किन्तु मुझे कहना ही पडेगा कि आज पहली बार मैं अच्छी तरह यह समझ सका कि मैं जिस काम को लेकर चला हूँ वह सिर्फ इतने ही पर समाप्त नही हो सकता कि भेडो की तरह खिला-पिलाकर उन्हे बाडे मे बन्द कर दिया जाय। इनके खाने और पहनने का प्रबन्ध कर देने भर से ही कुछ न होगा, हमे अन्दर उतरकर इनके साथ मिल-जुलकर इनके दिल को समझाना होगा। जब मैंने देखा कि ये लोग केवल भिखारी ही नही है, बल्कि इनमे से प्रत्येक व्यक्ति मेरी ही तरह एक मनुष्य है। उसके सुख-दुख का भी एक इतिहास है। मेरी ही तरह उसकी भी कुछ इच्छायें है, आशाये हैं। तब, उस समय, एकाएक मुझे मालूम पडा कि मेरा काम बडा भारी है और उसके सामने मै बहुत ही तुच्छ और नितान्त असहाय हूँ। किन्तु काम शुरू होगया था और अब तो उस को चलाना ही था।

: ५ :

मनुष्य-गणना मे मुझे सहायता पहुँचाने के लिए जो विद्यार्थी नियत हुए थे वे तो निश्चित तिथि को सवेरे ही अपने घरो से रवाना हो गये, किन्तु मैं जो अपने को परोपकारी आदमी समझता हूं दोपहर से पहले काम मे शरीक न हो सका—और मैं इससे पहले शरीक भी कैसे होता? दस बजे तो मैं बिस्तर से उठा। उसके बाद कॉफी पी और फिर हाजमा ठीक करने के लिए तम्बाकू पी और तब कही बारह बजे जाकर मैं जिनोफ-गृह में पहुँचा।

गणना-लेखकों ने अपने मिलने का स्थान एक होटल बताया था। वहीं पुलिस के आदमी ने पहुँचा दिया। मैं अन्दर घुसा तो देखा कि स्थान बहुत गन्दा और वाहियात है। ठीक मेरे सामने पैसा वसूल करनेवाले का स्थान था। बाईं ओर एक छोटा कमरा था, जिसमे मैले कपडे से ढकी हुई मेज़े थीं। दाहिनी ओर खम्भोंवाला एक कमरा था, जिसमे खिड़कियों के पास दीवाल से लगी हुई वैसी ही मेज़ें रखी हुई थीं। कुछ लोग इधर-उधर बैठे चाय पी रहे थे, जिनमे से कुछ तो फटे-फटाये कपडे पहने हुए थे और कुछ की पोशाक अच्छी थी। मालूम होता था कि या तो वे मज़दूर थे या छोटे दूकानदार। कुछ स्त्रियाँ भी वहाँ थी। होटल गन्दा था, लेकिन फिर भी होटलवाले की व्यवहार-कुशल मुद्रा और नौकरों की मुस्तैदी और खुश-मिजाजी से मालूम होता था कि होटल का काम खूब चल रहा है। मैं ज्योंही अन्दर घुसा, एक आदमी मेरे पास आ पहुँचा और वह ओवरकोट उतारने में मदद देने के लिए तैयार हुआ।

वह उत्सुकता-पूर्वक मेरी फर्माइश सुनने के लिए खडा था, जिससे वह यह बात प्रकट कर रहा था कि इस होटल के लोग जल्दी और मुस्तैदी के साथ काम करने के आदी हैं।

जब मैंने पूछा कि गणना-लेखक कहाँ हैं, तो इसके उत्तर में एक आदमी ने, जो विदेशी वेष मे था और हिसाब की मेज़ के पीछेवाली आलमारी में कुछ चीजें सजाकर रख रहा था, आवाज लगाकर पुकारा। यह पुकारनेवाला ही होटल का मालिक था। यह कालूगा का रहनेवाला आइवन फिडोटिच नाम का एक किसान था, जिसने आधे मकानात किराये पर लेकर दूसरो को अपनी ओर से किराये पर उठा दिये थे। उस की आवाज़ सुनते ही एक १८ वर्ष का दुबला-पतला लडका तेज़ी से सामने आया। उसका चेहरा लम्बा था और नाक कुछ झुकी हुई थी। होटल के मालिक ने कहा—इन महाशय को मुहर्रिरो के पास ले जाओ।

लडके ने तौलिया रख दिया, सफ़ेद कमीज़ और पायजामे के ऊपर एक कोट डाट लिया, एक बडा-सा टोप उठाया और फिर पीछे के दरवाज़े से निकलकर, इमारत को पार करते हुए, छोटे-छोटे तेज़ क़दमों से मेरे आगे-आगे चला। एक गन्दे, दुर्गन्धयुक्त रसोई-घर के दरवाज़े पर हमे एक बूढ़ी औरत मिली, जो एक चिथडे मे होशियारी के साथ लपेटे हुए कुछ गला-सडा माँस लिए जा रही थी। हम लोग एक सहन मे पहुँचे, बडी ही बुरी दुर्गन्ध आ रही थी और ऐसा मालूम होता था कि वह पाख़ाने में से निकल रही थी, जहाँ बराबर बहुत-से आदमी निवृत्त होने जा रहे थे। यह पाख़ाना तो न था, लेकिन लोग इस काम के लिए उसे इस्तेमाल करने लगे थे। सहन मे से गुज़रते समय किसी का भी ध्यान उसकी ओर गये बिना नहीं रह सकता था, क्योंकि अन्दर घुसते ही उसमें से दुस्सह दुर्गन्ध आती थी। इस बात का ख़याल रखते हुए कि कही उसका सफ़ेद पायजामा मैला न हो जाय, जमे हुए कूड़े से बचते-बचाते वह लडका होशियारी से मुझे उन मकानों तक ले गया। जो लोग सहन या छज्जे मे से होकर जा रहे थे, सब मुझे देखने ठहर गये। साफ मालूम

होता था कि साफ-सुथरे कपड़ेवाला मनुष्य वहाँ के लिए एक विचित्र बात है।

उस लडके ने एक औरत से पूछा कि क्या वह बता सकती है कि गणना-कर्मचारी किस मकान में गये है ? तीन आदमी एक साथ बोल उठे—किसी ने कहा कि वे कुँए के पास हैं, दूसरे ने बताया कि वे वहाँ गये तो थे किन्तु अब निकता आइव-नोविंच के घर चले गये हैं। आँगन के मध्य मे एक बूढा आदमी खडा था, जो सिर्फ़ एक कमीज़ पहने हुए था और टट्टी के पास अपने कपड़े सँभाल रहा था, उसने कहा कि वे लोग नम्बर ३० मे है। लडका मुझे नम्बर ३० के मकान की ओर ले चला।

एक अँधेरे और दुर्गन्धपूर्ण रास्ते से हम लोग नीचे की ओर चले जा रहे थे कि इतने मे एकाएक एक द्वार खुला और उसमे से कमीज पहने हुए एक शराबी निकला। उसकी सूरत किसानो की-सी न थी। एक धोबिन आस्तीने चढ़ाये हुए साबुन से भरे हुए हाथों से, चिल्ला-चिल्ला कर, उसे कमरे से बाहर ढकेल रही थी।

जब हम नम्बर ३० पर पहुँचे तो बनिये ने दरवाज़े को खीचा। वह कचूड-कचूड की आवाज़ के साथ खुल गया और उसके खुलते ही साबुन से भरी भाफ और तम्बाकू तथा शराबखाने की गन्ध की भाफ निकली। उसके अन्दर बिलकुल अँधेरा था। खिडकियाँ दूसरी ओर थी। हम लोग एक टेढ़े-मेढ़े दालान मे पहुँचे, जिसमे कभी दाईं ओर कभी बाईं ओर जाना पडता था।

बाईं ओर के अँधेरे कमरे मे एक स्त्री नाँद मे कपड़े धोती हुई-सी दिखायी पड रही थी। एक दूसरी स्त्री दाहिनी ओर के एक दरवाज़े में खडी देख रही थी। एक खुले हुए द्वार के पास एक किसान कोच पर बैठा था, उसके जिस्म पर बहुत सारे बाल थे और छाल के जूते पहने हुए था। उसके हाथ घुटनो पर रखे हुए थे और पैरों को हिलाते हुए ग़मगीनी के साथ अपने जूतो की ओर देख रहा था। रास्ते के अन्त पर एक

कमरे का छोटा द्वार मिला; और यहीं पर कर्मचारी थे। यह ३० नम्बर के मकान की मालकिन का कमरा था, जो उसने सारा-का-सारा आइवन फ़िडोटिच से किराये पर ले लिया था और स्थायी रूप से रहनेवालों अथवा रात में ठहरनेवालों को अपनी ओर से भाड़े पर उठा दिया था।

इस छोटे-से कमरे मे एक विद्यार्थी खिडकी के पास अपने काग़ज़-पत्र फैलाये हुए बैठा था और मजिस्ट्रेट की भाँति एक आदमी का बयान ले रहा था। यह आदमी एक कमीज़ और एक वास्कट पहने, मालकिन के मित्र की हैसियत से उसकी तरफ़ से जवाब दे रहा था। मकान की मालकिन—जो एक बुड्ढी स्त्री थी—खुद मौजूद थी और उसके साथ ही दो किरायेदार भी तमाशा देखने आ खड़े हुए थे। मैं जब कमरे मे घुसा तो कमरा खूब भरा हुआ था। मैं इन लोगो के बीच में से होता हुआ मेज़ तक पहुँचा और उस विद्यार्थी से हाथ मिलाया। विद्यार्थी ने अपने प्रश्न जारी रखे और मैं वहाँ के लोगो से मिलकर अपने मतलब की बातें पूछने लगा।

लेकिन मालूम हुआ कि वहाँ ऐसा कोई आदमी नहीं कि जिसपर मैं अपनी परोपकार-वृत्ति चरितार्थ करूँ। उन कमरों की मालकिन, वहाँ की ग़रीबी को देखते हुए, खुशहाल कही जा सकती थी, हालाँकि उसके कमरे निहायत गन्दे और वाहियात थे। यदि ग्राम्य दरिद्रता से मुक़ाबिला करें तो कह सकते हैं कि वह ऐशो-आराम से रहती थी। उसके पास परों का बिछौना था, उसके ऊपर एक चादर थी, एक चायदानी, एक रूआँदार कोट, और तश्तरियों व कटोरियों से सजी हुई एक आलमारी भी थी। गृह-स्वामिनी का मित्र भी देखने में वैसा ही खुशहाल मालूम होता था और उसके पास एक घड़ी और चेन भी दिखायी पड़ती थी। किरायेदार ग़रीब थे सही, पर उनमे से भी कोई ऐसा न था कि जिसे एकदम सहायता की आवश्यकता हो।

सिर्फ़ तीन व्यक्तियों ने सहायता के लिए प्रार्थना की। उस कपड़े धोनेवाली स्त्री ने कहा कि उसके पति ने उसे छोड़ दिया है। दूसरे एक

वृद्ध विधवा ने, जिसके पास रोज़ी का कोई सहारा न था और तीसरे उस किसान ने, जो कि छाल के जूते पहने हुए था और जिसने कहा कि उस दिन उसे कुछ भी खाने को नहीं मिला था। किन्तु अधिक जाँच-पड़ताल करने पर यह बात मालूम हुई कि इनमें से किसी को भी मदद की ख़ास ज़रूरत नहीं है और इनको सच्ची सहायता पहुँचाने के लिए यह आवश्यक था कि इनका ज्यादा परिचय प्राप्त किया जाय।

जिस स्त्री का पति उसे छोड़कर चला गया था, उसके बच्चों को किसी आश्रम में रखने का जब मैंने ज़िक्र किया, तब तो वह घबरायी, कुछ देर तक सोचती रही और फिर मुझे धन्यवाद देकर चुप रह गयी। साफ़ मालूम होता था कि यह बात उसे पसन्द न आयी। हाँ, वह प्रसन्न होती, यदि उसे कुछ रुपया मिल जाता। उसकी बड़ी लड़की कपड़े धोने में मदद देती थी और छोटी लड़की बच्चे को खिलाती थी। दूसरी वृद्ध स्त्री ने अनाथालय में रहना स्वीकार किया। पर जब उसके घर को देखा तो मालूम हुआ कि वह बहुत ज्यादा तकलीफ़ मे नहीं है। उसके पास एक संदूक में कुछ माल था; एक चायदानी, दो प्याले और कुछ डब्बे थे, जिनमें चाय और शक्कर रखी थी। वह मोज़े और दस्ताने बुनती थी और किसी महिला से उसे कुछ वज़ीफा भी मिलता था। किसान को भोजन की अपेक्षा पीने की ही ज्यादा इच्छा थी। उसे जो कुछ भी दिया जाता, वह कलाल के घर ही जाकर ठहरता। इसलिए मैंने देखा कि इन कमरों में रहनेवाला ऐसा एक भी नही है कि जिसे, कुछ धन देकर मैं अधिक सुखी बना सकूँ। वहाँ सब ग़रीब ही ग़रीब रहते थे, किन्तु उनकी ग़रीबी एक विचित्र प्रकार की थी।

मैंने उस वृद्ध स्त्री का, धोबिन का और किसान का नाम अपनी नोटबुक में लिख लिया और निश्चय कर लिया कि कुछ-न-कुछ इनके लिए करना होगा। किन्तु मेरा विचार था कि पहले उन लोगों को मदद दूँगा कि जो विशेष रूप से अभागे हैं और इस मकान में आगे चलकर मिलेंगे। मैंने यह भी विचार किया कि हम जो सहायता देनेवाले हैं उसको

बाँटने के लिए एक योजना बनानी होगी, जिससे पहले उनको सहायता पहुँचायी जाय कि जो बहुत ज्यादा हाजतमन्द हैं और उसके बाद इस प्रकार के लोगों के पास पहुँचा जाय, जैसे कि अभी मिले थे।

किन्तु मैं जहाँ-जहाँ गया वहाँ मैंने यही स्थिति देखी। उन्हें सहायता देने से पहले उनकी स्थिति जानने की आवश्यकता थी। ऐसा तो मुझे एक भी नहीं मिला कि जिसे केवल पैसे की सहायता देकर सुखी बनाया जा सकता हो।

मेरा यह कथन कितना ही लज्जाजनक क्यों न हो, किन्तु सच तो यह है कि मैंने जो बात अपने मन में समझ रखी थी वैसा न होने से मुझे एक प्रकार की निराशा-सी हुई। लेकिन जब मैं सभी स्थानों पर घूम आया तब मुझे विश्वास हो गया कि यहाँ के रहनेवाले; मैंने जैसा सोचा था वैसे बिलकुल कंगाल नहीं हैं, बल्कि मैं जिन लोगों में रहता हूँ, उनसे बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं। जैसा कि हम लोगों में होता है वैसा ही इन के यहाँ भी था। इनमें भी कुछ तो नेक आदमी थे और कुछ बुरे, कुछ सुखी थे और कुछ दुखी। उनमे जो दुखी थे, वे हम लोगों मे रहने पर भी वैसे ही दुखी रहते, क्योंकि उनके दुःख का कारण बाहर नही, उनके ही अन्दर था और ऐसा था जो रुपये से दूर नहीं किया जा सकता।

: ६ :

इन मकानों के रहनेवाले शहर के सबसे नीची श्रेणी के लोग थे और मास्को में उनकी संख्या लगभग एक लाख के थी। यहाँ सभी प्रकार के लोग रहते थे। छोटे-छोटे व्यापारी और गृह-स्वामी, जूते बनानेवाले मोची और ब्रश बनानेवाले कारीगर, बढ़ई और ताँगे हाँकनेवाले, दर्ज़ी और अन्य लोग जो खुद अपनी ही तरफ़ से स्वतन्त्र धन्धा करते थे, वहाँ दिखायी पडते थे। कपड़े धोनेवाली स्त्रियाँ, खोमचेवाले तथा पुरानी चीज़ों को बेचनेवाले, सूद पर रुपया उठानेवाले, तथा मज़दूरी करनेवाले लोगों के साथ-साथ इसी मकान में भिखारी और वेश्यायें भी दीखती थीं।

यहाँ पर ऐसे भी बहुत-से लोग रहते थे, जैसे कि मैंने ल्यापिन-गृह के सामने देखे थे। किन्तु इस जगह वे मज़दूरों में बिलकुल मिल-जुल गये थे। वहाँ पर मैंने जिन लोगों को देखा था उनकी बुरी दशा थी, जो-कुछ उनके पास था वह सब खाने-पीने में उडा दिया था और होटल मे से निकाले जाने पर भूख से दुखी और सर्दी से काँपते हुए ल्यापिन-गृह में घुसने की इस प्रकार प्रतीक्षा कर रहे थे, जैसे कोई स्वर्ग मे प्रवेश करने के लिए तपस्या करता है। वे सदा इस बात की आशा लगाये रहते थे कि कोई आये और गिरफ्तार करके उन्हे जेल भेज दे, ताकि वे सरकार के ख़र्चे से घर पहुँच जायँ। उसी तरह के बहुत से आदमियों को यहाँ मैंने मज़दूरों में मिला हुआ देखा, जिनके पास स्थान का किराया देने के लिए कुछ कोपक थे और खाने-पीने के लिए शायद एक-दो रूबल भी उनकी जेब मे पडे हुए थे।

एक ख़ास बात यह थी कि त्यापिन-गृह में जो ख़याल मेरे दिल मे पैदा हुए थे, वे यहाँ न हुए, बल्कि इसके विपरीत पहले चक्कर मे मेरे और विद्यार्थियों के मन पर जो असर पड़ा, वह तो एक प्रकार से आनन्दमय था—किन्तु एक प्रकार से आनन्दमय था, ऐसा क्यो कहूँ? यह तो ठीक नही है। इन लोगों के सहवास से जो भाव हृदय में उत्पन्न हुआ था वह विचित्र भले ही लगे—सरासर आनन्द से परिपूर्ण था। इनके सम्बन्ध में पहली बात तो मेरे मन मे यह पैदा हुई कि यहाँ रहनेवाले लोगों में अधिकांश मज़दूर हैं और वे प्राय बहुत ही नेक तबीयत के हैं। मैंने इन लोगों को प्रायः काम करते ही पाया। धोबिनें नाँद मे कपड़े धो रही थीं, बढ़ई बसूले चला रहे थे और मोची जूते बनाने में लगे हुए थे। छोटे-छोटे कमरे लोगों से भरे हुए थे और हँसी-खुशी तथा फुर्ती के साथ काम हो रहा था। मज़दूरों के पास पसीने की, मोचियों के पास चमडे की और बढ़इयों के पास लकडी के छोल की गन्ध आ रही थी। कभी-कभी किसी राग की ध्वनि भी हमारे कान मे आ पडती थी और मज़बूत खुले हुए हाथ फुर्ती और होशियारी के साथ खटाखट काम कर रहे थे।

जहाँ कहीं हम गये; लोगो ने प्रसन्नतापूर्वक हमारा स्वागत किया और सब हमसे मेहरबानी से पेश आये। खुशहाल लोगों के यहाँ जब जाते है तो वे अपनी महत्ता और कारगुज़ारी दिखाने तथा आनेवालो की वास्तविक स्थिति जाँचने की कोशिश करते हैं। पर यहाँ काम के समय जब हम उनके सामने जा खडे हुए तो उनमे इस प्रकार की कोई उत्सुकता दिखायी न पडी, बल्कि इसके प्रतिकूल उन्होने हमारे प्रश्नो का उत्तर बड़ी ही शान्ति के साथ दिया। हाँ, कभी-कभी इस प्रकार का मज़ाक ज़रूर करते थे कि गणना किस हिसाब से की जाय—अमुक मनुष्य तो दो के बराबर है और अमुक दो मनुष्यो को मिलाकर एक मे लिखना चाहिए।

बहुत-से लोगों को हमने भोजन करते अथवा चाय पीते हुए पाया

और जब कभी हम जाकर सलाम करते तो हर जगह से यही आवाज़ आती, 'आइए, कुछ नाश्ता कीजिए !' और उनमे से कुछ लोग तो इधर-उधर हटकर हमारे लिए स्थान भी कर देते थे। हमने तो समझा कि यहाँ खानाबदोशो की बस्ती होगी, किन्तु कुछ कोठरियाँ तो ऐसी थीं कि जिनमें वे ही किरायेदार मुद्दत से रहते चले आते थे। एक बढ़ई और उसका नौकर तथा एक मोची एक दूसरे कारीगर के साथ अब जिस कोठरी मे रहते है उसीमे बराबर दस वर्ष से रह रहे हैं। मोची के यहाँ कूड़ा बहुत था, और जगह के लिहाज़ से आदमियो की भीड़ भी ज्यादा थी, फिर भी काम करनेवाले खुश थे। एक मज़दूर के साथ बात करके मैंने यह बात जाननी चाही कि उसकी स्थिति कैसी है और अपने मालिक का वह कितना कर्ज़दार है; किन्तु वह मेरा मतलब न समझकर अपने सुख और स्वामी के भले व्यवहार की चर्चा करने लगा।

एक कोठरी मे कोई बूढ़ा आदमी अपनी स्त्री के साथ रहता था, वह फल बेचने का रोज़गार करता था। उसका कमरा साफ़, गर्म और सामान से सजा हुआ था। फ़र्श पर चटाई बिछी थी, जो वह अपने फलो के भण्डार से उठा लाया था। कुछ सन्दूकें, एक आलमारी, एक चायदानी और कुछ बर्तन भी थे। घर के एक कोने मे कई मूर्तियाँ थी, जिनके सामने दो चिराग़ जल रहे थे। दीवाल की खूँटियो पर सुन्दर कोट टँगे हुए थे और उनपर कपड़ा ढका हुआ था। उस वृद्धा के मुँह पर झुर्रियाँ पड़ गयी थी, वह दयालु और बातूनी तबीयत की थी और अपने शान्त सिलसिलेवार जीवन से सन्तुष्ट और सुखी मालूम पड़ती थी।

होटल तथा इन मकानो का मालिक आइवन फ़िडोटिच घर मे से निकलकर कुछ दूर तक हमारे साथ आया। वह हँसमुख हो किरायेदारो से मज़ाक करता, उनका नाम अथवा उपनाम लेकर पुकारता और संक्षेप से उनका हाल सुनाता जाता था। ये सब हमारे ही जैसे मनुष्य थे। मार्टिन सिमेनो विचीज़, पीटर पेट्रोविचीज़, मार्या इवान बनास इनमें

से कोई भी अपने को दुखी नही समझता था और वास्तव मे हममे और उनमें कोई अन्तर भी न था।

हम तो घर से यह सोचकर निकले थे कि कुछ भयङ्कर दृश्य हमें देखने पड़ेंगे, किन्तु यहाँ हमने जो-कुछ देखा वह भयङ्कर तथा अशान्ति-कर नही था बल्कि उन्हे देखकर उनके प्रति दिल मे आदर का भाव पैदा हुआ। इस प्रकार के सुखी लोग वहाँ इतनी अधिक संख्या मे थे कि कुछ दुर्दशा-ग्रस्त, फटे चिथडे पहने, बे-रोज़गार मनुष्य जो वहाँ कभी-कभी दिखायी पडते थे, उनसे हमारे हृदय-पट पर अङ्कित चित्र का प्रभाव नष्ट न होता था। किन्तु इन बातों का जो असर मेरे दिल पर पडता था, वह विद्यार्थियो पर न होता था। वे तो केवल समाज-शास्त्र का एक उपयोगी कार्य समझकर उसे कर रहे थे। पर मैं तो परोपकारी था, मै तो यह सोचकर आया था कि इस मकान मे जो दीन-दुखी, अनाथ और पतित मनुष्य रहते होंगे, मैं उनकी मदद करूँगा। किन्तु यहाँ आया तो दीन-दु.खी, अनाथ और पतित मनुष्यो के बदले एकदम शान्त, सन्तोषी, सुखी, नेक और मेहनती आदमी देखने को मिले।

मुझे यह देखकर और भी आश्चर्य हुआ कि जिन लोगो को किसी प्रकार की सहायता की जरूरत थी उन्हें सहायता पहुँचानेवाला कोई न कोई माई का लाल मिल गया है। यह सहायता पहुँचानेवाले है कौन? कोई बाहर के आदमी नही बल्कि सहायता पहुँचानेवाले यही लोग थे कि जिन्हें दीन, दुखी और पतित जानकर मैं उभारने आया था। यह सहायता कुछ दी भी इस ढँग से गयी थी कि वैसा करना मेरे लिए एकदम ही अशक्य था। एक निचले छोटे कमरे मे त्रिदोष-ज्वर से सतप्त एक बूढा आदमी पड़ा था। इस संसार मे उसका सगा-सम्बन्धी कोई न था। फिर भी एक स्त्री—एक विधवा स्त्री, जिसके एक छोटी लडकी थी, जो बुड्ढे से बिलकुल अपरिचित थी, जो उसके सामनेवाले कोने में रहती थी, उसकी सेवा-सुश्रूषा कर रही थी, और अपने पैसे खर्च करके उसकी चाय और दवा-दारू का प्रबन्ध करती थी। एक दूसरे कमरे मे एक औरत रोग-ग्रस्त

अवस्था में पड़ी हुई थी। वेश्या-वृत्ति से गुज़ारा करनेवाली एक शहरी औरत उसके बच्चे को खिलाती और दूध पिलाती थी। और दो दिन से अपने अभागे धन्धे को बन्द कर रखा था। एक दर्जी ने, खुद के तीन बच्चे होते हुए भी, एक अनाथ लड़की को पालने के लिए घर मे रख लिया था।

बस, तो अब दुखी लोगों मे केवल इन्ही की गणना की जा सकती थी—आलसी मनुष्य, बिना काम-काजवाले कर्मचारी तथा नौकर, भिखारी, शराबी, वेश्यायें और बालक, जिनकी स्थिति को पैसा देकर सुधारना असम्भव था। उन्हें सच्ची सहायता पहुँचाने के लिए यह ज़रूरी था कि किसी प्रकार की मदद देने के पहले उनकी परिस्थिति का ग़ौर से अध्ययन किया जाय और फिर उनकी देख-रेख रखते हुए स्थिति के अनुसार उन्हें जिस प्रकार की सहायता ज़रूरी हो, वह दी जाय। मैं तो ऐसे दीन-दुखियो की तलाश में था कि जिन्हे अपने ढेर-के-ढेर धन मे से कुछ देकर सहायता पहुँचाऊँ, किन्तु ऐसा कोई भी मुझे मिला नही कि जिसे केवल धन देकर मैं उसके जीवन को सुखी बना सकूँ। मैंने जितने आदमी देखे, उनमे से कोई भी ऐसा न था, जिसके लिए पर्याप्त समय दिये बिना केवल धन देकर ही उसका उद्धार किया जा सके।

: ७ :

मैंने जिन दुखी लोगों के नाम नोट किये थे, मेरी कल्पना में उनकी तीन श्रेणियाँ बन गयी थीं। एक तो वे लोग थे, जो अपनी पहले की रोज़ी गँवा बैठे थे और उसे फिर से पाने के इच्छुक थे। इस प्रकार के लोग ऊँची तथा नीची दोनों ही तरह की जातियों मे थे। दूसरे नम्बर पर वेश्यायें थीं और इस मकान में उनकी संख्या बहुत अधिक थी। तीसरे वर्ग में बालक थे। मेरी नोटबुक में सबसे अधिक संख्या पहली श्रेणी के लोगों की थी कि जो अपनी रोज़ी गँवा बैठे थे और उसे फिर से प्राप्त करने के इच्छुक थे। इन मकानों के मालिक आइवन फिडोटिविच के साथ हम लोग कई कमरों मे गये और लगभग हर जगह ही वह हमसे कहता—"यहाँ गणना-पत्र तुम्हें स्वयं न भरना पड़ेगा, फलाँ आदमी यहाँ रहता है, वह ख़ानापुरी कर देगा, बशर्ते कि पिये हुए न हो।"

मकान मालिक इसके बाद उस मनुष्य का नाम और उसके साथ ही उसके कुटुम्ब का नाम जोड़कर पुकारता और प्रत्येक मनुष्य की सूरत से मालूम होता था कि पहले वह अवश्य अच्छी हालत में रहा होगा। उसकी आवाज़ सुनकर दरिद्रतावस्था को प्राप्त हुआ कोई सद्‌गृहस्थ अथवा कर्मचारी मकान के किसी अँधेरे कोने में से निकलकर आता। प्रायः ये मनुष्य नशे में होते थे और ठीक तरह से कपड़े भी नहीं पहने होते थे। जो आदमी नशे में न होता, वह ख़ुशी से सौंपे हुए काम को करने के लिए तैयार हो जाता। काम को बड़ी जल्दी समझ लेता और समझ

गया है, यह बताने के लिए अपना सर हिलाता, सामने नज़र उठाकर विद्वत्तासूचक आलोचना भी करता और हमारा साफ़ छपा हुआ लाल रंग का काग़ज़ काँपते हुए हाथ से लेकर पास खड़े हुए पड़ोसियों की ओर धिक्कार की दृष्टि से देखता, मानों बड़े गर्व के साथ यह कहता कि आजतक तुमने मेरी बड़ी अवहेलना की, पर आज मेरी पढ़ाई का प्रताप देखो। जिस संसार मे इस प्रकार के लाल काग़ज़ छपते है और जिसमे वह स्वयं पहले रहता था, उसके साथ फिर से सम्बन्ध स्थापित होने से वह बहुत प्रसन्न है, यह स्पष्ट मालूम पडता था। ऐसे मनुष्य से उसके पूर्व जीवन के विषय मे जब कभी मैं पूछता तो वह रटे हुए स्तोत्रो की भाँति उत्साह के साथ अपने सिर पर आयी विपत्तियों का इतिहास सुना देता। ख़ासकर इस बात का ज़िक्र वह अवश्य करता कि अपनी योग्यता के कारण पहले वह कितने ऊँचे पद पर था।

जिनोफ़-गृह मे ऐसे लोगो की बस्ती जिधर देखो, उधर फैली हुई थी। एक विभाग में तो ऐसे स्त्री-पुरुष बहुत अधिक संख्या में थे। वहाँ जब हम लोग पहुँचे तो आइवन फिडोटिविच ने कहा—"यह हमारे सद्गृहस्थों का विभाग है।" मकान भरा हुआ था, सभी किरायेदार वहाँ मौजूद थे। उस सारे मकान में इस प्रकार के दीन-हीन वृद्ध जिनकी संख्या लगभग ४० थी, और निस्तेज निराश युवक और कही देखने मे न आये। सबकी कहानी एक ही-सी थी, बस अन्तर केवल इतना था कि किसी की कहानी अन्तिम सीढ़ी तक पहुँच गयी थी और किसी की अभी बीच मे ही थी। प्रत्येक मनुष्य या तो खुद मालदार था या उसका पिता, भाई या चाचा धनवान था, अथवा अब भी है, अथवा वह या उसका पिता किसी दिन किसी ऊँचे पद पर प्रतिष्ठित था और फिर पीछे किसी दुश्मन की कारस्तानी से अथवा अपने ही दुर्भाग्य से या किसी आकस्मिक घटना के कारण वह अपना सर्वस्व गँवा बैठा और अब ऐसे वाहियात स्थान और मन्दी हालत मे आ पडा है कि जहाँ जूँ और खटमलों की हद नही, पहनने को फटे कपड़े है, पड़ोसी शराबी और चोर हैं, खाने को

सूखी रोटी और नमक के सिवा कुछ नही । अब हाथ फैलाकर भीख माँगना ही भाग्य मे लिखा है।

इन लोगो के विचार, इनकी वासनायें और स्मृतियाँ सभी भूतकाल मे लीन हैं। वर्तमान तो उन्हे एकदम अस्वाभाविक, तिरस्करणीय और मन में न लाने योग्य मालूम होता है। इनके लिए वर्तमान तो जैसे है ही नही। उनके पास भूतकाल की मधुर स्मृतियाँ है और भविष्य की आशाएँ, जो किसी दिन भी पूर्ण हो सकती हैं और जिनको पूरा करने के लिए बहुत थोड़ी सहायता की आवश्यकता है। किन्तु दुर्भाग्यवश यह थोड़ी-सी सहायता उनकी पहुँच के बाहर है और इसीलिए किसी का एक वर्ष, किसी के पाँच वर्ष और किसी के जीवन के पूरे तीस वर्ष व्यर्थ ही नष्ट हो गये।

एक आदमी के ऊपर किसीकी मेहरबानी है, लेकिन भले आदमियों की तरह उसके घर पहुँचने के लिए वह बिचारा कपड़े कहाँ से लावे ? दूसरे को सिर्फ़ इस बात की तङ्गी है कि वह ठीक कपड़े पहनकर और अपना क़र्ज़ा चुकाकर अपने स्थान तक पहुँच जाय। तीसरा जायदादवाला आदमी है, उसको छुडाने और अदालत मे मुक़दमा लड़ाने के लिए कुछ थोडे-से साधन की ही आवश्यकता है। यदि वह सहायता मिल जाय तो मुकदमा उसके हक़ में ही फ़ैसल होगा। यह बात एकदम ही निश्चित है और इसके बाद तो फिर उसे किसी प्रकार का कोई दुःख नही। हरएक का यही कहना है कि अपनी असली और स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त करने के लिए कुछ बाहरी मदद की आवश्यकता है।

यदि मैं अपनी दानवीरता के अभिमान में चूर न होता तो यह बात समझ सकने के लिए कि इनकी दुर्दशा किसी प्रकार की वाह्य सहायता से दूर नही हो सकती, मुझे इन वृद्ध और तरुण पुरुषो के दीन-हीन, विलास-क्षीण किन्तु दयालु मुखों की ओर ज़रा ध्यान से देखने भर की ही ज़रूरत थी। मैं समझ जाता कि चाहे कोई कितनी ही सहायता करे; इनका जीवन कभी सुखी हो नहीं सकता, जबतक कि इनके जीवन-सम्बन्धी

ख़याल ऐसे ही बने रहेंगे। मैं यह भी समझ लेता कि ये लोग किसी असाधारण परिस्थिति मे नहीं आ पड़े और इनका दुःख सबसे न्यारा और अनोखा नही है; बल्कि ये लोग बिलकुल हमारे ही जैसे हैं; इनके दुःख-सुख भी हमारे ही समान हैं।

मेरे पड़ोस मे जो लोग रहते हैं वे जिनोफ-गृह मे न रहकर सिवसेव व्राज़ोक या दयिन्नोका मुहल्ले मे रहते हैं और ज्वार की रोटी के बजाय भाँति-भाँति के पकवान खाते हैं। इसीलिए वह पहले लोगों की भाँति दुःखी न हो, ऐसी कोई बात नहीं है। उनको भी अपनी मौजूदा हालत से इन्हीं लोगों की भाँति असन्तोष है। ये भी अपने भूतकालीन वैभव के लिए आँसू बहाते है और भविष्य की सुन्दर कल्पनाये करते हैं। इनकी भी भविष्य की सुन्दर स्थिति की कामनायें जिनोफ-गृह के निवासियों की कामनाओ की ही तरह होती हैं; अर्थात् ये सभी ऐसी स्थिति के इच्छुक हैं कि जिसमे इन्हे खुद तो कम-से-कम काम करना पड़े और दूसरों की मेहनत से अधिक-से-अधिक लाभ ये उठा सकें। इनमे अन्तर केवल बहुत या कम परिणाम का था।

मैं यदि कुछ विचार करता तो यह बात समझ जाता, पर दुर्भाग्यवश मैने उस समय विचार नहीं किया और न यही समझा कि इन लोगो का भला मेरे दान से नहीं हो सकता। इनके सुधार के लिए तो जीवन और संसार के सम्बन्ध मे इन्होने जो विचार बना लिये हैं उन्ही मे परिवर्तन करने की ज़रूरत है। किन्तु दूसरे के जीवन मे परिवर्तन कराने के लिए आवश्यक है कि अपना आदर्श ऊँचा किया जाय और अपना जीवन सुधारा जाय। किन्तु मेरे अपने जीवन का आदर्श भी उनसे ऊँचा न था—जिन भ्रमात्मक भावनाओ से उन्हे मुक्त करने की ज़रूरत थी, उन्हीं मे अभी तक मैं भी फँसा हुआ था। यदि किसी उदाहरण-द्वारा कहा जाय तो कह सकते हैं कि लोग इसीलिए दुखी नहीं थे कि इनके पास केवल भोजन नही था, बल्कि इसलिए कि इनका मेदा बिगड़ गया था और इनको अब भोजन की नहीं, किन्तु हाज़मा दुरुस्त करने के लिए टानिक

की जरूरत थी। मैं यह बात नहीं समझ सका कि इनको भोजन देने की ज़रूरत नहीं है, बल्कि यह बात सिखाने की ज़रूरत है कि भोजन किस *तरह किया जाय। वैसे तो यह बात आगे आवेगी; पर इतना तो मैं कह* ही दूँ कि मैंने जिन लोगों के नाम नोट किये थे, उनमें से किसी को भी सच्ची सहायता नहीं पहुँचा सका, हालाँकि जिसने जो कुछ माँगा था, वह उन्हें दिया गया था। इनमें से तीन लोगो से मैं विशेष रूप से परिचित होगया। इन तीनों की कई दफा मदद की; लेकिन आज तीन वर्ष पीछे वे फिर अपनी पहली ही जैसी असहाय अवस्था को प्राप्त हो गये हैं।

इन अभागों के दूसरे वर्ग में वेश्याये थीं कि जिनको मदद देने का मैंने विचार किया था। इन स्त्रियो की जिनोफ़-गृह मे बड़ी भारी संख्या थी और उनमें किशोर लडकियों से लेकर भयङ्कर चेहरेवाली बूढ़ी स्त्रियाँ तक थीं, जिनमे मानव आकृति का कोई नामोनिशान तक न था। इन स्त्रियो को सहायता पहुँचाने की इच्छा पहले मेरे मन मे न थी, पर पीछे से हुई। उसके पैदा होने का कारण यह है—

एक दिन जब हम निचली मंजिल के एक कमरे में पहुँचे तो विद्यार्थी मालिक-मकान की तलाश करने लगा और मैं उस जगह पर जो लोग मौजूद थे, उनसे प्रश्न करने लगा इस विभाग की रचना इस प्रकार थी। मकान चार गज़ लम्बा और चार गज़ चौडा था और उसके मध्य मे अँगीठी थी। अँगीठी के पास से चार पर्दे डालकर चार कमरे निकाले गये थे। इनमें से पहले कमरे में दो दरवाज़े और चार पलंग थे और एक बूढा आदमी तथा एक स्त्री थी। इसके बाद एक लम्बा; किन्तु तङ्ग-सा कमरा था, इसमें मकान का मालिक रहता था, जो ऊन का भूरा कोट पहने था। उसका रङ्ग फीका था, किन्तु वह देखने में सुन्दर मालूम होता था और अभी जवान था। पहले विभाग के बाईं ओर तीसरी कोठरी थी, जिसमें कोई आदमी पडा ऊँघ रहा था और शायद पिये हुए भी था। उसी कमरे मे एक स्त्री थी, जो लाल रङ्ग का गाउन पहने हुए थी।

विद्यार्थी अन्तिम कमरे में चला गया और मैं तीसरे कमरे में गया

और गाउनवाली स्त्री से उस सोनेवाले आदमी के निस्बत दरयाफ्त किया।

उसने जवाब दिया कि वह उसका मिलनेवाला है।

मैंने पूछा—तुम कौन हो ?

उसने उत्तर दिया—मैं मास्को के रहनेवाले एक किसान की लड़की हूँ।

जब मैंने पूछा, 'तुम्हारा पेशा क्या है ?' तो उसने कोई उत्तर न दिया, चुपचाप हँसने लगी।

यह समझकर कि शायद उसने मेरे प्रश्न को समझा नहीं। मैंने फिर पूछा—तुम्हारी गुज़र किस तरह होती है ?

वह बोली—मैं कोठे पर बैठती हूँ।

मैं उसकी बात नहीं समझा, इसलिए एक बार फिर पूछा—तुम अपनी गुज़र के लिए क्या करती हो ? उसने कोई जवाब न दिया, केवल हँसती रही। चौथे कमरे से भी कुछ स्त्रियों के हँसने की आवाज़ आ रही थी।

गृहस्वामी अपने घर से निकलकर हमारे पास आया। उसने मेरे प्रश्न और उस स्त्री के उत्तर, मालूम पड़ता है, सुन लिये थे। उसने तीव्रता से उसकी ओर देखा और मेरी ओर घूमकर कहा—'यह वेश्या है!' उस के ढंग से मालूम पड़ता था कि वह इस बात से खुश था कि वह इस सरकारी शब्द से वाकिफ़ है और उसका शुद्ध उच्चारण कर सकता है। यह कहकर और सन्तोषपूर्ण मुस्कान के साथ मेरी ओर देखकर वह औरत की तरफ फिरा और उसकी तरफ मुँह फिरते ही उसके चेहरे का भाव बदल गया। अत्यन्त घृणासूचक और तेज़ स्वर में, जैसे कि कोई कुत्ते को दुतकारता है, उसकी ओर बिना देखे ही कहा—क्यों मूर्खों की-सी बातें करती है? सीधी तरह यह क्यों नहीं कहती कि मैं वेश्या हूँ ? क्या तुझे अपना नाम भी मालूम नहीं ?

उसके बात करने के ढंग से मुझे चोट लगी।

मैंने कहा—इसे लज्जित करना हमें शोभा नहीं देता। यदि हम सब

ईश्वर की आज्ञानुसार जीवन व्यतीत करते, तो इस प्रकार का कोई व्यक्ति ही न होता।

गृहस्वामी से बनावटी हँसी के साथ कहा—हाँ, बात तो ठीक है।

इसीलिए उनकी भर्त्सना न करके हमें उनपर दया करनी चाहिए। इसमें उनका क्या अपराध है?

मुझे यह ठीक याद नहीं कि मैंने उस समय क्या कहा, पर यह याद है कि उसकी तिरस्कारपूर्ण बातें सुनकर मुझे बड़ी अरुचि हुई। जिस घर में वे स्त्रियाँ थी, उसीमें खड़े होकर वह उन्हें वेश्या कह रहा था। मुझे उस स्त्री पर भी दया आयी और अपने मन के ये दोनों भाव मैंने उस समय प्रकट कर दिये।

ज्योंही मैंने ये बातें कहीं, त्योंही उस कमरे में, जिसमें से औरतों के हँसने की आवाज़ आ रही थी, चारपाई की चरचराहट सुनायी दी और पर्दे के ऊपर, जो छत तक न लगा था, एक बिखरे हुए बालोंवाली का सिर दिखायी दिया। उसकी आँखें छोटी और सूजी हुई थी, चेहरा लाल अंगारा था। उसके बाद दूसरा और फिर तीसरा सिर दिखायी दिया। वे अपनी चारपाइयों पर खड़ी हुई थीं और तीनों जनीं गर्दन उचकाये, साँस रोके, चुपचाप ध्यानपूर्वक मेरी ओर देख रही थी।

इसके बाद थोड़ी देर तक दुःखजनक शान्ति रही। विद्यार्थी जो अभी तक हँस रहा था, इस घटना के बाद गम्भीर हो गया, गृहस्वामी गड़बड़ा गया और अपनी आँखे नीची कर लीं और स्त्रियाँ इस आशा से मेरी ओर देख रही थीं कि देखें अब यह क्या कहता है?

किन्तु मैं सबसे अधिक घबराया हुआ था। मुझे ज़रा भी खयाल न था कि साधारण बोल-चाल में आये हुए शब्द का इतना प्रभाव पड़ेगा। मेरा वह कहना क्या था, क़ब्रिस्तान में मानों किसी देवता ने अमृत सींच दिया हो, जिससे मुर्दा हड्डियाँ फिर से जाग्रत होने लगीं। मैंने तो योंही प्रेम और करुणा से पूर्ण एक शब्द कह दिया था, जिसका इन सब पर ऐसा असर पड़ा, मानो फिर से सजीव हो उठने के लिए वे इसी शब्द की

इन्तज़ार कर रही थीं। वे बराबर मेरी ओर देख रही थी, मानो सोच रही थीं कि देखे अब मेरे मुहँ से क्या निकलता है। मानो वे इस बात की प्रतीक्षा कर रही थी कि मै उन शब्दो को कहूँ और उन कामों को करूँ कि जिनसे ये हड्डीयाँ इकट्ठी होनी शुरू हो जायँगी—मांस भी भर जायगा और ये फिर जीती-जागती हो जायँगी।

किन्तु, हाय, मेरे पास अब न तो ऐसे शब्द थे और न ऐसे काम, और न मैं बातचीत के उस ढंग को ही कायम रखने मे समर्थ था। मुझे अन्दर ही अन्दर ऐसा भास होने लगा कि मैंने झूठ बोला है, मैं खुद भी उन्ही की तरह हूँ, मुझे अधिक कुछ कहने का अधिकार भी नही, और इसलिए मै काग़ज़ पर वहाँ के रहनेवालों का नाम और पेशा लिखने लगा।

इस घटना ने मुझे एक दूसरी ही ग़लती मे ला फँसाया। मैं यह सोचने लगा कि इन अभागे जीवो को भी सहायता पहुँचायी जा सकती है। अपने गुमान मे मैंने समझा था कि यह काम हो भी बडी आसानी से जायगा। मैंने दिल मे सोचा, अभी तो हम इन स्त्रियो के नाम लिख लेते हैं और पीछे-से जब हम सब-कुछ लिख लेंगे, तब इन लोगो के लिए कोशिश करेंगे। लेकिन उस समय मैने यह न सोचा कि ये 'हम' हैं कौन? मैंने सोचा कि हम लोग अर्थात् वही आदमी कि जो पुश्त-दर-पुश्त से ऐसी स्त्रियो को इस दुर्दशा मे लाते रहे और अब भी ऐसा करते हैं, एक दिन शुभ मुहूर्त मे अचानक, अपनी इस मोह-निद्रा से जाग्रत होकर सारी स्थिति को सुधार डालेंगे। किन्तु यदि मैं उस वार्तालाप का स्मरण करता कि जो उस पतित स्त्री के साथ हुआ था, जो बीमार माँ के बच्चे की शुश्रूषा कर रही थी, तो मैं समझ जाता कि मेरी यह कल्पना कितनी मूर्खतापूर्ण है।

हमने पहले-पहल जब उस स्त्री को बच्चे की सेवा करते देखा तो समझा कि यह लडका उसीका है, लेकिन जब हमने उसके विषय में पूछा तो उसने साफ-साफ कह दिया कि मैं बाज़ार मे बैठनेवाली औरत

हूँ। उसने 'वेश्या' शब्द नहीं कहा। उस भयंकर शब्द का प्रयोग करना तो उस मकान के मालिक के हिस्से मे था।

यह औरत बच्चेवाली है, इस कल्पना से उसकी वर्तमान स्थिति से उद्धार करने का विचार मेरे दिल में पैदा हुआ।

मैंने पूछा—क्या यह तुम्हारा बच्चा है ?

उसने उत्तर दिया—'नहीं, यह उस स्त्री का है।'

'तो, तुम क्यो उसकी शुश्रूषा कर रही हो ?'

'उसने मुझसे कहा है। वह मर रही है।'

यद्यपि मेरी धारणा ठीक न निकली, फिर भी मैं उसी ढङ्ग से बात-चीत करता रहा। मैंने उससे पूछा कि वह कौन है और वह इस दशा को कैसे प्राप्त हुई ? उसने खुशी से और साफ़-साफ अपनी कहानी मुझे सुना दी। वह मास्को मे रहनेवाली किसी कारखाने के मालिक की लडकी थी। उसको अकेली छोडकर उसके माता-पिता मर गये। उसकी चाची ने अपने घर ले जाकर उसे पाला-पोसा। चाची के घर से वह अक्सर बाज़ार मे आने-जाने लगी। वह चाची भी अब मर गयी थी।

मैंने पूछा—'अपने इस जीवन को बदल डलने की क्या तुम्हारी इच्छा नही होती ?' मालूम होता था, मेरे इस प्रश्न ने उसके मन पर ज़रा भी असर नही किया। यदि कोई बिलकुल ही असम्भव-सी बात कहे तो उसकी ओर किसी का ध्यान क्योंकर आकर्षित हो ?

ज़रा मुँह बनाकर उसने कहा—लेकिन इस पीले टिकट* वाली को रक्खेगा कौन ?

मैंने कहा--किन्तु यदि मैं तुम्हारे लिए रसोई बनाने का या कोई ऐसा ही दूसरा काम तलाश कर दूँ तो कैसा रहे ?

यह बात मैंने इसलिए कही थी कि उसका शरीर रसोई बनानेवाली स्त्रियो की तरह ही मोटा-ताज़ा था और चेहरा गोल तथा भोला था।

---

* पीला टिकट वेश्याओं की रजिस्ट्री का सार्टिफ़िकेट होता था।

मेरी यह बात उसे अच्छी नहीं मालूम पडी। उसने कहा—'रसोई बनाना! किन्तु मुझे रोटी पकाना तो आता ही नहीं।'

उसने कुछ हँसी के साथ यह बात कही थी, किन्तु उसके चेहरे के भाव से स्पष्ट प्रकट होता था कि इस बात के लिए वह राज़ी नही है, इतना ही नहीं, रसोई का काम वह अपनी मर्यादा के विरुद्ध समझती है।

यह स्त्री, जो बाइबिल की विधवा की तरह उपर्युक्त बीमार स्त्री की सेवा मे अपना सर्वस्व लगा रही थी, वही अपनी हम-पेशा दूसरी स्त्रियो की भाँति मेहनत-मजदूरी के काम को नीच, तुच्छ तथा तिरस्कार-योग्य समझती थी। काम किये ही बिना निर्वाह करती हुई वह छोटी से बडी हुई थी। और उसका यह जीवन उसके आस-पास रहनेवाले सभी लोगो की दृष्टि मे बिलकुल ही स्वाभाविक था। यही उसका दुर्भाग्य था। इसी दुर्भाग्य के कारण वह इस दुर्दशा को प्राप्त हुई थी और अब भी उसी में पड़ी हुई थी। इसी के कारण वह बाजारों मे घूमी-फिरी। हममें ऐसा कौन-सा पुरुष अथवा स्त्री है कि जो जीवन-सम्बन्धी उसकी यह भावना को बदल सके? क्या हममे ऐसे कोई आदमी हैं कि जिनका विश्वास हो कि आलसी जीवन की अपेक्षा मेहनत-मज़दूरी का जीवन अधिक सम्मान-पूर्ण है और जो अपने इस विश्वास के अनुसार ही अपने जीवन का निर्वाह करते है।

यदि मैने इस विषय मे सोचा होता तो मैं समझ जाता कि न तो मैं और न मेरी जान मे कोई दूसरा ही आदमी ऐसा है कि जो किसी मनुष्य को इस रोग से मुक्त कर सके।

मैं समझ गया होता कि पर्दे के ऊपर उन स्त्रियो के जो आश्चर्य-चकित उत्सुक मुख दिखायी पडे थे उनमें आश्चर्य के सिवा कोई और भाव न था। अपने जीवन को सुधारने की उनमें कोई इच्छा न थी। यह उनकी समझ में ही नही आता था कि इसमे पाप की कौन-सी बात है। यह तो वे देखती थीं कि लोग उन्हें धिक्कारते है, उनसे घृणा करते हैं, पर लोग क्यों उनका तिरस्कार करते है, यह तो उनकी समझ में न आता।

इस प्रकार की स्त्रियों ने बचपन से ही इसी तरह अपना जीवन व्यतीत किया है और वे जानती है कि इस प्रकार की स्त्रियाँ सदा रही है, अब भी है और वे समाज के लिए आवश्यक हैं। इतना ही नहीं सरकार की तरफ से इस बात के लिए कर्मचारी नियत है कि वे इस बात की देख-रेख रखें कि ऐसी स्त्रियाँ सरकार के नियमो का पालन करे।

इसके सिवा वे यह भी जानती हैं कि अन्य स्त्रिया की अपेक्षा उनका मनुष्यों पर अधिक प्रभाव है और वे उन्हे अपने वश मे भी अधिक रख सकती हैं। वे यह देखती है कि यद्यपि वे बुरी समझी जाती है, फिर भी समाज के स्त्री-पुरुष और खुद सरकार भी समाज मे उनके स्थान को स्वीकार करती है। इसलिए वे समझ भी नही सकतीं कि वे किस बात के लिए पश्चात्ताप करें और सुधार किस बात का करें।

एक रोज़ जब हम काम के लिए निकले तो एक विद्यार्थी ने मुझे ख़बर दी कि कोठरी में कोई स्त्री रहती है, जो अपनी तेरह वर्ष की लड़की को बाज़ार मे बैठने के लिए भेजती है। उस लड़की को बचाने की इच्छा से मै जान बूझकर उसके घर गया।

माँ-बेटी बडी ग़रीबी से रहती थी। माँ ४० वर्ष की ठिंगनी काले रंग की वेश्या थी, जो केवल बदसूरत ही नही, बल्कि बडी भद्दी शक्ल की थी। बेटी भी देखने मे लगभग वैसी ही थी! मैने घुमा-फिराकर उनके जीवन के सम्बन्ध मे कई प्रश्न किये, पर माँ ने उन सबके बात उडाने के ढंग के जवाब दिये। उसके चेहरे से स्पष्ट प्रकट होता था कि वह यह समझती है कि हम लोग बैर-भाव से उन्हें हानि पहुँचाने आये हैं। लडकी तो माँ की ओर देखे बिना कोई उत्तर ही नही देती थी, उसे तो अपनी माँ के ऊपर पूर्ण विश्वास था। इन लोगो को देखकर मेरे हृदय मे दया नहीं, उलटे घृणा पैदा हुई, किन्तु मैने निश्चय किया कि इस लड़की की रक्षा करना आवश्यक है और इसके लिए ऐसी महिलाओ को ढूँढकर इनके पास भेजना चाहिए कि जिनके हृदय में इनकी शोचनीय दशा के प्रति दया तथा सहानुभूति हो।

किन्तु यदि मैंने इस बात पर विचार किया होता कि इस लडकी की माँ का पूर्व-जीवन किस प्रकार व्यतीत हुआ, उसने लडकी को जन्म किस प्रकार दिया और किस प्रकार बिना किसी बाह्य सहायता के बड़े भारी आत्म-त्याग के साथ उसने लडकी को पाला-पोसा और बडा किया, यदि मैंने सोचा होता कि जीवन-सम्बन्धी किस प्रकार की धारणा उसके मन मे धीरे-धीरे बन गयी है, तो मै समझ गया होता कि माता के इस व्यवहार से किसी प्रकार की कोई बुराई अथवा पाप नही है; क्योकि वह बेचारी तो अपनी बुद्धि के अनुसार अच्छा-से-अच्छा जो-कुछ अपनी लड़की के लिए कर सकती थी वही कर रही थी।

लडकी को ज़बरदस्ती माँ के पास से छीन ले जाना तो सम्भव था, किन्तु लड़की के धर्म और शील को इस प्रकार बेचने मे कोई बुराई है, यह बात लडकी की माँ को समझा देना एकदम नामुमकिन था। सबसे पहली और ज़रूरी बात तो यह प्रतीत हुई कि इस माँ की रक्षा की जाय, उसे जीवन की दूषित भावना की लहर से बचाया जाय।

यदि मैंने इस स्थिति पर विचार किया होता तो मै आसानी से समझ गया होता कि मै जिन महिलाओ को इस लडकी की रक्षा के लिए भेजना चाहता हूँ उनमे से अधिकांश न केवल स्वय ही गार्हस्थ्य कर्तव्यो से बचती रहने की चेष्टा करती है और आलसी तथा विषयी जीवन व्यतीत करती है, बल्कि जान-बूझकर वे अपनी लडकियो को भी इसी प्रकार का जीवन व्यतीत करने की शिक्षा देती है। यदि वह माँ अपनी लडकी को बाज़ार मे भेजती है तो दूसरी बाल अर्थात् नाच मे तथा विलासी समाज मे अपनी लडकियो को जाने के लिए उत्साहित करती है। इन दोनो ही का दृष्टिकोण एक है; दोनो ही यह समझती है कि स्त्री इसीलिए बनी है कि वह पुरुषो की विषय-वासना को तृप्त करे; और इसके बदले स्त्री के लिए अन्न-वस्त्र की योजना करनी चाहिए और उसकी देख-भाल रखनी चाहिए। जब स्थिति ऐसी है, तब फिर भला हमारे घर की महिलायें किस प्रकार उस स्त्री का तथा उसकी कन्या का सुधार कर सकेंगी?

: ६ :

मैंने बालकों के लिए जो-कुछ किया, वह और भी विचित्र था। परोपकारी की हैसियत से मैंने बालकों की ओर भी ध्यान दिया। इस पाप-गुहा में निर्दोष बालकों को नष्ट होने से बचाने की मेरे मन मे इच्छा हुई। इन बालको मे १२ वर्ष के शीरोज़ा नामक बालक की ओर मेरा ध्यान विशेष रूप से आकर्षित हुआ। यह चतुर और बुद्धिमान बालक एक मोची के पास रहता था, किन्तु उसके जेल चले जाने के कारण अब वह बिलकुल निस्सहाय हो गया था। मुझे उसपर बड़ी दया आयी और उसका कुछ भला करने की इच्छा उत्पन्न हुई।

इस बालक का उद्धार करने की मेरी चेष्टा का क्या फल हुआ, यह बात अब मैं कहूँगा; क्योंकि इस बालक की गाथा से मेरे परोपकारीपने की जितनी पोल खुलेगी, उतनी और किसी तरह नही। मै इस बालक को अपने घर ले आया और उसे बवर्चीख़ाने में रखा। उस पाप-गुहा से लाये हुए एक मैले-कुचैले बालक को मै अपने बच्चो के साथ भला कैसे रख सकता था? अपने नौकरों के पास लाकर रखने मात्र से मैंने मान लिया कि मैंने उस बालक पर बडी दया की। मैंने सोचा कि मै बड़ा परोपकारी सद्‌गृहस्थ हूँ, क्योंकि मैने उसे पहनने के लिए अपने कुछ पुराने कपड़े दे दिये थे और खाने के लिए भोजन—हालाँकि यह सब किया मेरे बवर्ची ने ही, स्वयं मैंने कुछ नही किया। बालक लगभग एक सप्ताह मेरे घर रहा। बीच मे दो-बार मैं उससे मिला और उसके पास से गुज़रते हुए दो-चार शब्द भी उससे कहे और घूमने निकला तो

एक जाने-पहचाने मोची के पास जाकर उस लडके को उम्मेदवार की तरह अपने पास रख लेने का प्रस्ताव किया। एक किसान ने, जो घर पर मिलने आया था, उस लडके से उसके गॉव मे जाकर एक परिवार मे काम करने के लिए कहा; किन्तु उसने यह भी न माना और उसी सप्ताह वह कही भाग गया।

उसे खोजने के लिए मै जिनोफ-गृह गया। वह वही लौट गया था, किन्तु जिस समय मै वहॉ गया, उस समय वह वहॉ नही था; किसी सरकस मे नौकरी करते उसे दो दिन हो गये थे। वहॉ एक हाथी को लेकर रंग-बिरंगे कपडे पहनकर उसे जुलूस के साथ चलना होता था। उन दिनो कोई तमाशा हो रहा था। मै उससे मिलने फिर गया, किन्तु वह ऐसा कृतघ्न था कि जान-बूझकर मेरे पास न आया। यदि मैने उस बालक के और स्वयं अपने जीवन पर विचार किया होता, तो मैं समझ गया होता कि सुखी और आलसी जीवन का मज़ा चखने के कारण उसकी आदत बिगड गयी है और वह काम करने का अभ्यास खो बैठा है। मैं उसका उपकार तथा सुधार करने के लिए उसे अपने घर ले गया। पर मेरे घर जाकर उसने क्या देखा? उसने मेरे बच्चों को देखा, जिनमे कुछ उससे बडे थे, कुछ छोटे थे, और कुछ उसके बराबर थे। सिर्फ इतना ही नही कि ये सब बालक स्वयं कुछ काम न करते थे, बल्कि दूसरों से जितना अधिक हो सकता था काम लेते थे। उनके आस-पास जो कुछ होता, उसे वे नष्ट-भ्रष्ट कर देते। सब प्रकार के स्वादिष्ट पदार्थ उडाते और रकाबियो को तोड-फोड डालते और जो चीज़े उस बालक के लिए नियामत-जैसी मालूम होती उन्हे इधर-उधर बखेर देते अथवा कुत्तो को डाल देते। एक गन्दे स्थान से लाकर उसे एक अच्छे प्रतिष्ठित घर मे जब रखा, तब यह बिलकुल स्वाभाविक था कि उस घर मे जीवन-सम्बन्धी जो ख़याल लोगो के थे उन्हे वह भी ग्रहण करे और इनके अनुसार उसने यही समझा कि सम्मानित गृह मे रहने का अर्थ है काम न करना, खाना-पीना और मौज उडाना।

यह सच है कि वह यह नहीं जानता था कि मेरे बच्चों को लैटिन और ग्रीक भाषाओं के व्याकरण सीखने में बहुत श्रम करना पड़ता है और न वह इस कार्य की उपयोगिता को ही समझ सकता था। किन्तु यह निश्चित है कि यदि उपयोगिता को वह समझ भी गया होता तो मेरे बालकों के उदाहरण से उसपर और भी अधिक उलटा प्रभाव पड़ता। तब वह यह समझ गया होता कि उनको शिक्षा ही इस प्रकार की दी जाती है कि अभी काम न करें और पीछे भी वे यथासम्भव कम-से-कम काम करें और अपनी उपाधियों के बल पर जीवन का मज़ा उड़ावें।

लेकिन वह जो-कुछ समझा उससे वह उस किसान के घर जाकर चराने और आलू खाकर तथा क्वास* पीकर गुज़ारा करने पर राज़ी न हुआ बल्कि सरकस में जङ्गली आदमी की पोशाक पहनकर ६ पेंस रोज़ पर हाथी दौड़ाना उसने अधिक पसन्द किया। मुझे समझ जाना चाहिए था कि जो आदमी अपने बच्चों को आलस्य और विलास के वातावरण में शिक्षा दे, उसके लिए यह कितनी बड़ी मूर्खता की बात है कि वह दूसरे आदमियों तथा उनके बच्चों को सुधारने का दम भरे और ज़िनोफ-गृह में, जिसे मैं निकृष्ट स्थानों में गिनता हूँ, उन्हें पतन और आलस्य से सुरक्षित रखने की चेष्टा करे, हालाँकि उस स्थान के तीन-चौथाई मनुष्य अपने लिए तथा दूसरों के लिए काम करते हुए जीवन-निर्वाह करते हैं।

ज़िनोफ़-गृह में अनेक बालक बड़ी बुरी दशा में थे। उनमें वेश्याओं के बच्चे थे, अनाथ बालक थे और कुछ ऐसे लड़के थे, जिन्हें भिखारी साथ लेकर सड़क पर घूमते थे। उन सभी की बड़ी दुर्दशा थी। किन्तु शीरोज़ा के अनुभव ने मुझे यह बता दिया था कि स्वयं आलस्य और विलास-पूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए उनकी सच्ची सहायता करना मेरे लिए असम्भव है।

*एक प्रकार की पीने की चीज़।

मुझे याद है कि वह लड़का जबतक हमारे पास रहा मैंने इस बात की बड़ी चेष्टा की कि वह हमारी और खासकर हमारे बच्चो का रहन-सहन जान न पाये। मुझे ऐसा महसूस होता था कि मेरे और मेरे बच्चो के जीवन को देखकर उस बालक को अच्छे और उद्योगी जीवन की शिक्षा देने की मेरी सारी चेष्टाये विफल हो रही है। किसी वेश्या या भिखारी से बालक को छीन ले जाना सरल है। यदि किसी के पास धन हो तो उसे नहलाना-धुलाना, अच्छे कपड़े पहनाना, अच्छा खाना खिलाना और भाँति-भाँति की विद्याये आदि पढ़ाना भी बहुत ही सरल है; किन्तु ऐसी शिक्षा देना कि वह खुद अपनी मेहनत से रोज़ी कमाये—यह हम लोगो के लिए, जो खुद ऐसा नहीं करते हैं बल्कि जिनका आचरण बिलकुल इसके विपरीत है, केवल कठिन ही नहीं, असम्भव है।

किसी कुत्ते को लेकर उसे पुचकारना, खिलाना-पिलाना और चीजे उठाकर ले चलने की शिक्षा देना और उसके करतबों को देख-देखकर प्रसन्न होना ठीक हो सकता है, पर मनुष्य के सम्बन्ध मे ठीक वैसी ही बात नहीं है—उसे पाल-पोसकर बडा करना और ग्रीक भाषा सिखा देना ही काफी नहीं है। उसे तो सिखाना होगा कि वास्तव मे जिया किस तरह जाता है, अर्थात् किस तरह दूसरो से कम-से-कम लेकर बदले मे उन्हे अधिक दिया जाय। किन्तु हम अपनी जीवन-शैली से तो उसे बिल्कुल उलटी ही बाते सिखाते हैं। उसे चाहे हम घर मे रखे अथवा किसी संस्था मे, हमारे जीवन से वह यही सीखेगा कि किस तरह कम-से-कम सेवा करके दूसरों से अधिक सेवा करायी जाय।

: १८ :

ल्यापिन-गृह मे मनुष्यो के प्रति करुणा और अपने प्रति घृणा का जो भाव मेरे मन मे उदय हुआ था, वैसा तीव्र अनुभव फिर नही हुआ। अपनी योजना पूर्ण करने और दीन-दुखी लोगों का उपकार करने की मुझे धुन लग गयी।

साधारणतः ऐसा समझा जाता है कि किसी का भला करना और आर्थिक सहायता देना अच्छा काम है और इससे मनुष्यो में विश्व-प्रेम की भावना उत्पन्न होनी चाहिए; किन्तु कहते आश्चर्य होता है कि मेरे ऊपर बिलकुल उलटा असर पडा, मेरे मन मे तो उससे लोगों के प्रति कटुता और उन्हे बुरा-भला कहने की इच्छा उत्पन्न हुई। पहले ही दिन के भ्रमण मे ल्यापिन-गृह की तरह का-सा एक दृश्य देखने मे आया; किन्तु उस समय जो प्रभाव मेरे दिल पर पड़ा, वह पहले-जैसा नहीं बल्कि उससे बिलकुल भिन्न था।

एक कोठरी मे दो दिन की भूखी कोई दुखिया स्त्री पड़ी हुई थी उसे उसी क्षण सहायता की आवश्यकता थी।

इस बात का पता मुझे इस प्रकार चला—एक बडे से प्राय. ख़ाली अनाथावास मे एक बुढ़िया से मैने पूछा कि यहाँ कोई ऐसा व्यक्ति भी है, जिसे खाने को कुछ न मिला हो? थोड़ी देर तक वह झिझकी और उसके बाद उसने दो नाम बताये, किन्तु फिर एकाएक जैसे उसे अचानक याद आ गयी हो। वह बोली—'हाँ, उनमे एक तो यहीं पडी हुई है।'

'इसके पास तो सचमुच ही खाने को कुछ भी नही है।'

"अच्छा, यह है कौन .

"वह भ्रष्ट स्त्री रही है और चूँकि अब उसके पास कोई नहीं आता, इसलिए वह कुछ पैदा नहीं कर सकती। घर की मालकिन ने अबतक तो दया करके उसे रहने दिया, किन्तु अब वह उसे निकाल बाहर करना चाहती है।" बुढ़िया ने चिल्लाकर पुकारा; 'अगाफिया, ओ अगाफिया!'

हम लोग कुछ आगे बढ़े और चारपाई पर से कुछ उठता हुआ दिखायी पडा। यह सफेद बिखरे बालोवाली स्त्री क्या थी, फटी हुई मैली कमीज पहने मानो हड्डियों का एक ढाँचा था। उसकी निश्चल आँखो मे एक विचित्र प्रकार की चमक थी। उसने आँखे फाडकर हमारी ओर देखा, नीचे खिसकी हुई जाकेट को खीचकर उसने अस्थि-शेष छाती को ढकने की चेष्टा की, और उसके बाद कुत्ते की तरह गुर्राकर बोली—क्या है? हैं, क्या है?

मैने पूछा—तुम्हारी गुजर कैसे होती है?

कुछ देर तक तो वह मेरा मतलब ही न समझ सकी, अन्त मे बोली—मुझे खुद नही मालूम। वह मुझे निकाल देना चाहते है।

मैंने फिर पूछा—और यह लिखते मुझे कितनी लज्जा मालूम होती है—कि क्या यह सच है कि तुम भूखो मर रही हो?

उसी उत्तेजित स्वर मे वह बोली—मुझे कल भी कुछ खाने को नही मिला, और न आज कुछ खाने को मिला है।

इस स्त्री की बुरी हालत देखकर मेरे दिल पर गहरा असर हुआ, किंतु ल्यापिन-गृह के दृश्य को देखकर जो असर मुझपर पड़ा था, उससे यह बिलकुल दूसरा था। ल्यापिन-गृह मे तो लोगो पर दया करके मै स्वयं लज्जित और कुण्ठित हो रहा था, किन्तु यहाँ मुझे इस बात की खुशी थी कि जिस बात की खोज थी वह चीज अर्थात् एक भूखा जीव आख़िरकार मुझे मिल गया।

मैंने उसे एक रूबल दिया और मुझे याद है कि इन लोगो ने वह रूबल देते हुए मुझे देखा, इससे मुझे खुशी हुई। तुरन्त ही उस बूढी स्त्री ने भी

मुझसे पैसा माँगा । उस समय दान करना इतना अच्छा मालूम होता था कि मैंने बिना इस बात का विचार किये कि उसे देना ज़रूरी है कि नहीं, उसे भी कुछ दे ही दिया । वह द्वार तक मुझे पहुँचाने आयी और जो लोग दालान मे खड़े थे, उन्होने यह सुन लिया कि वह मुझे खूब आशीर्वाद दे रही है । मैंने दरिद्र आदमियो के लिए पूछा था, इससे शायद इन लोगो के दिलो मे कुछ आशा पैदा हो गयी थी, क्योकि कुछ निवासी जहाँ-जहाँ हम जाते हमारे पीछे-पीछे घूमते थे ।

माँगनेवाले लोगो में मैंने देखा कि शराब पीनेवाले लोग है, इससे मेरे दिल पर बड़ा ही बुरा असर पडा; किन्तु उस वृद्धा को एक बार देखने के बाद मैंने समझा कि इन्हें मना करने का मुझे कोई अधिकार नही है, और इसलिए मै उन लोगों को भी देने लगा । इससे तो माँगनेवालो की सख्या और भी बढ़ गयी और तमाम अनाथावास मे धूम-सी मच गयी । सीढ़ियो पर तथा छज्जो मे लोग मेरे पीछे आते दिखायी दिये ।

जब मै सहन के बाहर निकला, एक लडका जल्दी-जल्दी सीढ़ी पर से उतरता और लोगो को ढकेलता हुआ वहाँ आया । उसने मुझे देखा नही और चिल्लाकर कहने लगा —

'अगाफ़िया को उसने एक रुबल दिया है !'

फ़र्श पर पहुँचकर वह भी मेरे पीछे चलनेवाली भीड मे मिल गया । इतने मे, मै बाहर सडक पर आया । हर तरह के आदमी इकट्ठे होकर पैसे माँगने लगे । मेरे पास जितने फुटकर पैसे थे, वे जब समाप्त हो गये तो मैं एक दूकान मे गया और उसके मालिक से दस रुबल की रेज़गारी माँगी ।

ल्यापिन-गृह मे जैसा दृश्य देखने मे आया था, वैसा ही दृश्य यहाँ उपस्थित हुआ । भयानक गडबड मच गयी । बूढ़ी स्त्रियाँ, कंगाल, सद्-गृहस्थ, किसान और बच्चे आकर दूकान के पास जमा होगये और पैसे माँगने के लिए हाथ फैलाने लगे । मैने उन्हे दान दिया और कुछ लोगो से मैने उनका नाम आदि पूछकर नोटबुक में दर्ज कर लिया । दूकानदार

अपने कोट के बालोंवाले कालर को ऊपर की ओर लौटाकर बुत की तरह खामोश बैठा था। कभी वह भीड की ओर देख लेता था और कभी दूर किसी चीज पर नजर डालता। अन्य सभी लोगों की भाँति वह भी सोच रहा था कि यह सब कितनी बडी बेवकूफी है, किन्तु ऐसा कहने की उसे हिम्मत न होती थी।

ल्यापिन-गृह मे लोगों की दरिद्रता और दुर्दशा देखकर मेरे दिल को गहरी चोट पहुँची। मैंने समझा कि इनकी इस अवस्था के लिए मैं अपराधी हूँ और इसीलिए मेरे हृदय मे यह भावना पैदा हुई थी कि मै अच्छा आदमी बन सकता हूँ। यहाँ पर भी दृश्य यद्यपि वैसा ही था, किन्तु उसका बिलकुल विभिन्न प्रभाव मेरे ऊपर पडा। एक तो मुझे उन लोगों पर क्रोध आया कि जो मुझे घेरकर तग कर रहे थे और दूसरे मुझे इस बात की चिन्ता थी कि ये दूकानदार और दरबान अपने मन में क्या कहते होंगे।

जब मैं उस दिन घर लौटकर आया तो मेरे चित्त पर एक बोझ-सा था। मैं जानता था कि मैंने जो-कुछ आज किया है वह मूर्खतापूर्ण और मेरे सिद्धान्तों के विरुद्ध है, किन्तु जब मेरा अन्तरात्मा प्रताडित होने लगा तो सदा की भाँति मैं और भी जोर के साथ अपनी योजना के विषय में बातें करने लगा, मानो उसकी सफलता मे मुझे जरा भी सन्देह न था।

दूसरे दिन मैं अकेला उन लोगों के पास गया कि जिनके नाम मैंने अधिक दुखी समझकर लिख लिये थे और जिन्हें मैं समझता था कि सरलतापूर्वक सहायता पहुँचा सकूँगा। किन्तु मैं पहले ही कह चुका हूँ कि मैं इनमें से किसी को भी कोई वास्तविक सहायता न पहुँचा सका। मैंने देखा कि जैसा मैंने समझा था, उससे यह काम कहीं अधिक कठिन है। सारांश यह है कि इन लोगों के पास जाकर मैंने इन्हें केवल दुखी ही किया, सहायता किसी को भी न पहुँचा सका।

गणना का काम समाप्त होने से पहले मैं कई बार जिनोफ़-गृह में गया और हर बार वही बात हुई। स्त्री और पुरुषों की भीड आकर मुझे चारों

ओर से घेर लेती थी और मैं परेशान हो जाता था । मुझे ऐसा मालूम होने लगा कि इन माँगनेवालों की संख्या इतनी बड़ी है कि मुझसे कुछ करते-धरते न बन पड़ेगा। और यदि मैं उनमें से एक-एक को लूँ तो मेरे हृदय मे उनके लिए कोई सहानुभूति न थी। मैंने देखा कि हर-एक आदमी झूठ बोलता था। या कम-से-कम बिलकुल सच्ची बात तो नहीं ही कहता था। हरएक मुझे रुपयों की थैली समझता था और उसमें से अधिक-से-अधिक रुपया निकाल लेने के लिए उत्सुक था। प्रायः मुझे ऐसा भी भास हुआ कि जो रुपया वे मुझसे ले जाते थे उससे उनकी दशा सुधरती नहीं, उलटी बिगड़ती थी। इस काम मे मैं जितना ही अधिक आने-जाने लगा, यहाँ के लोगों से जितना अधिक मेरा परिचय हुआ, उतना ही मुझे विश्वास होने लगा कि यह काम बनने का नहीं है। किन्तु मनुष्य-गणना की अन्तिम रात्रि के भ्रमण से पहले तक मैंने अपने निश्चित किये हुए कार्य को छोड़ा नहीं।

उस अन्तिम दिन के भ्रमण को स्मरण करके मुझे विशेष लज्जा मालूम होती है। इससे पहले मैं अकेला ही जाता था; किन्तु आज हम २० जने इकट्ठे होकर गये। उस दिन जो लोग मेरे साथ जानेवाले थे वे सात बजते ही मेरे घर आ गये। उनमें से बहुत-से अपरिचित थे—कुछ विद्यार्थी थे, एक कर्मचारी, दो परिचित।

मेरे दो परिचित सज्जन शिकारी जाकेट और ऊँचे सफ़री बूट पहने हुए थे। ऐसी पोशाक शिकार के वक्त ही पहनने का रिवाज है। ग़रीबों के यहाँ जाते समय ऐसी ही पोशाक पहनना उन्होंने उचित समझा होगा। वे अपने साथ सुन्दर नोटबुक और मोटी-मोटी रंग-बिरंगी पेंसिल लेते आये थे। शिकार, कुश्ती अथवा युद्ध के लिए जाते समय जिस प्रकार का उत्साह लोगों मे होता है उसी प्रकार का उत्साह ये लोग अनुभव कर रहे थे। इन लोगों को देखकर मैं अच्छी तरह समझ सका कि हमारा यह काम कितना व्यर्थ और मूर्खतापूर्ण है। किन्तु बाकी के हम लोग भी क्या वैसे ही न थे ?

घूमने के लिए निकलने से पहले युद्ध-परिषद् के समान एक सभा की और किस तरह काम किया जाय और किस तरह काम बाँट लिया जाय आदि बातो का निश्चय किया। ऐसी परिषदो तथा सभा-समितियो मे जैसी चर्चा होती है ठीक वैसी ही चर्चा हम लोगो ने भी की। हममें से हरएक मनुष्य को कुछ-न-कुछ बोलना ही चाहिए। इसलिए नहीं कि कोई नयी बात कहनी अथवा पूछनी है, बल्कि सिर्फ़ इसलिए कि दूसरे बोलते हैं और हम उनसे पीछे न रह जायँ। मैंने जो अभी तक बार-बार परोपकार की बात कही थी, इस चर्चा मे किसी ने उसका ज़िक्र तक नहीं किया। मुझे कहते लज्जा मालूम हुई, फिर भी सबको इस बात की याद दिलाना मैंने अपना कर्तव्य समझा कि गणना के काम के साथ ही साथ हमे परोपकार का काम भी करना है—अर्थात् जितने लोग दीन दशा में दिखायी पड़ें उनके नाम नोट कर लिये जायँ।

सभी ने मेरी बातों को ध्यानपूर्वक सुना और मालूम पड़ता है, उनके दिलो पर असर भी पड़ा और मुख से सभी ने अपनी सहमति और सहानुभूति भी प्रकट की। किन्तु यह स्पष्ट ही मालूम पड़ता था कि उनमें से प्रत्येक मनुष्य यह मानता है कि ये सब बाते मूर्खतापूर्ण हैं, इनसे कुछ होगा नहीं, और शायद इसलिए वे तुरन्त ही दूसरी बातें करने लगे।

हम लोग उस अँधेरे मकान में पहुँचे, नौकरो को जगाया और अपने कागज़ो को छाँटने लगे। हमने जब सुना कि हमारे आने की ख़बर पाकर लोग बाहर चले जा रहे हैं, तो हमने गृह-स्वामी से कहकर दरवाज़े में ताला लगवा दिया और फिर सहन में जाकर उन लोगो से ठहरने के लिए कहा कि जो भाग जाना चाहते थे। हमने उन्हे निश्वास दिलाया कि हम लोगो में से कोई भी तुम्हारे पासपोर्ट न माँगेगा। उन घबराये हुए किरायेदार लोगो की मूर्तियों को देखकर मेरे हृदय मे जो विचित्र दुःखप्रद भावना जाग्रत हुई, वह मुझे याद है। अर्ध-नग्न और मैले-कुचैले तथा फटे-पुराने कपडे पहने हुए वे लोग उस अन्धकारपूर्ण सहन मे, लालटेन की रोशनी में, बहुत लम्बे मालूम पडते थे। भय से भीत

तथा भीषण बने हुए वे सब दुर्गन्धपूर्ण टट्टी के पास खडे हुए हम लोगों की बात सुन रहे थे; पर उन्हें उसपर विश्वास न होता था। स्पष्ट प्रतीत होता था कि शिकार के लिए घेरे हुए जानवरों की तरह अपनी जान बचाने के लिए वे सब-कुछ कर गुज़रने पर उतारू है।

हर तरह के सद्गृहस्थ, पुलिसमैन, सरकारी कर्मचारी तथा न्यायाधीश उन्हे अपनी ज़िन्दगी-भर नगरो तथा ग्रामो मे, सडको तथा गलियो मे, सरायों तथा अनाथावासों मे ही नहीं बल्कि हर तरह सताते रहे है और आज रात को एकाएक यह महानुभाव आकर दरवाज़ा बन्द कर देते है, सो भी क्यों ? सिर्फ उनको गिनने के लिए ! उन्हे इस बात पर विश्वास करना उतना ही कठिन प्रतीत होता था, जितना खरगोशों को इस बात पर विश्वास करना मुश्किल मालूम होगा कि कुत्ते उन्हे पकडने के लिए नही केवल उन्हे गिनने के लिए आये है। हमने तो दरवाज़े बन्द करा दिये थे। इसलिए बेचारे डरे हुए लोग अपनी-अपनी जगह चले गये। हम लोगो ने टोलियाँ बनाकर काम शुरू कर दिया।

हम उन कमरो के अन्दर गये, जिनसे मैं भली-भाँति परिचित था। मैं वहाँ के कुछ लोगों को भी जानता था, किन्तु अधिकांश लोग मुझे अपरिचित मालूम पडे और वह दृश्य भी नया और भयानक था—ल्यापिन-गृह में जो दृश्य देखने में आया था उससे भी अधिक भयानक। सब कमरे तथा खाटें भरी हुई थी और उन सबमे प्रायः दो-दो मनुष्य थे। मनुष्यो की भीड तथा स्त्री-पुरुषो के अनियमित एकीकरण के कारण दृश्य भयानक मालूम होता था। जो स्त्रियाँ शराब के नशे मे एकदम बदहोश न थी वे सब पुरुषों के साथ सो रही थी। बहुत-सी स्त्रियाँ तो बच्चों को साथ लेकर तंग खाटो पर अजनबी आदमियो के साथ सो रही थीं।

इन लोगो की दीनता, मलीनता, अर्धनग्नता तथा भीति से एक बड़ा ही भयानक दृश्य पैदा हो गया था और खासकर इसलिए कि इन विचित्र डरावने जीवो का एक बडा भारी जमघट वहाँ पर था !

एक कोठरी, फिर दूसरी, फिर तीसरी, दसवीं, बीसवीं—इस प्रकार की अनन्त कोठरियाँ थीं। सभी में वही दुर्गन्ध, वही मलिन वातावरण, वही भीड; शराब पीकर बेहोश पडे हुए तथा परस्पर घुले-मिले स्त्री-पुरुषों का वैसा ही गडबडाध्याय, सबके चेहरो पर वैसा ही भय, वैसी ही दीनता तथा अपराध की छाया थी। यह सब देखकर ल्यापिन-गृह की भाँति यहाँ भी मेरे मन में ग्लानि, दुःख और लज्जा पैदा हुई; और आखिरकार अब मैं समझा कि मैं जो-कुछ करने जा रहा हूँ, वह बडा ही अरुचिकर, मूर्खतापूर्ण तथा एक दम असम्भव है। यह समझकर कि मेरी ये सब चेष्टायें व्यर्थ हैं, मैंने लोगो के नाम लिखना तथा उनसे प्रश्नादि पूछना छोड दिया।

इससे मेरे हृदय को बडी चोट पहुँची। ल्यापिन-गृह में तो सिर्फ इतनी ही बात थी कि जैसे किसी ने किसी दूसरे मनुष्य के शरीर पर कोई वीभत्स घाव देखा हो। उसे देख उस मनुष्य को दुःख होता है, उसे अभी तक सहायता न पहुँचायी इसके लिए लज्जा मालूम होती है, किन्तु उसे फिर भी यह आशा रहती है कि वह उस दुखी मनुष्य की अब कुछ सहायता अवश्य कर सकेगा। किन्तु आज तो मेरी स्थिति उस डाक्टर की भाँति थी कि जो अपनी औषधियाँ लेकर मरीज़ के पास जाता है, ज़खम को खोलता है, दवा लगाता है, किन्तु अन्त मे देखता है कि उसने अभी तक जो-कुछ किया, वह सब व्यर्थ है—उसकी दया से रोगी को कोई लाभ न पहुँच सकेगा !

११ :

इस भ्रमण ने मेरी कल्पनाओं की एक दम कलई खोल दी। अब यह साफ़ हो गया कि मैं जो-कुछ करने जा रहा हूँ वह केवल व्यर्थ और मूर्खतापूर्ण ही नहीं, हानिकारक भी है। किन्तु यह सब कुछ समझने पर भी मुझे ऐसा मालूम हुआ कि अभी इसको जारी रखना ही मेरा कर्तव्य है। इसके कई कारण थे। अपने लेख से तथा मुलाकातो से जहाँ मैंने ग़रीब लोगो के दिलो मे आशा उत्पन्न कर दी थी, वहाँ कुछ परोपकारी तथा दानी महाशयों की सहानुभूति भी इस काम के लिए प्राप्त कर ली थी; और उनमें से कई लोगो ने स्वयं सहायता करने तथा धन देने का वचन भी दिया था। मै आशा कर रहा था कि दोनो ही पक्ष विनती करते हुए मेरे पास आयेंगे और मुझे दोनो ही को यथाशक्ति सन्तुष्ट करना चाहिए।

ग़रीब आदमियो की अर्ज़ियो की जो मैं राह देख रहा था उसका ब्योरा इस प्रकार है—मुझे १०० से ऊपर प्रार्थना-पत्र मिले और यदि मैं एक विचित्र शब्द का प्रयोग करूँ तो कह सकता हूँ कि वे सब 'धनिक दरिद्रों' की ओर से आये थे। उनमे से कुछ लोगो से तो मै जाकर मिला और कुछ का जवाब नही दिया। किन्तु मैं किसी के लिए भी कुछ न कर सका। सभी अर्ज़ियाँ ऐसे लोगों की तरफ से आई थी कि जो एक समय अच्छी स्थिति मे थे (अच्छी अथवा भाग्यशाली स्थिति से मेरा मतलब उस स्थिति से है कि जिसमे मनुष्य दूसरो से लेता अधिक है और उन्हे देता है कम), किन्तु अब उनकी हालत बिगड गयी है और फिर वे अपनी पहली दशा मे आना चाहते हैं।

एक को अपना व्यापार नष्ट होने से बचाने के लिए तथा बच्चों की शिक्षा के लिए दो-सौ रुबल की जरूरत थी । दूसरे को फोटोग्राफी के लिए दुकान चाहिए थी । तीसरे को कर्जा चुकाने तथा अपने अच्छे कपडे गिरवी से छुडाने के लिए धन की आवश्यकता थी । चौथे को कुछ पियानो बजाना आता था, उसे पूरी तरह सीखकर उसके द्वारा कुटुम्ब का भरण-पोषण करने के लिए एक पियानो चाहिए था । अधिकांश प्रार्थियों ने कितनी रकम चाहिए, इसका ज़िक्र न किया था, केवल सहायता माँगी थी, किन्तु जब मैंने इसका अन्दाजा लगाना चाहा कि उन्हे कितने रुपये की ज़रूरत है, तो मैने देखा कि सहायता के अनुसार उनकी ज़रूरतें भी बढती जाती हैं । मैं जो-कुछ देता था, उससे वे सन्तुष्ट न होते और हो भी नहीं सकते । मैं यह फिर कह देना चाहता हूँ कि यह सम्भव है कि दोष मेरी समझ का हो, किन्तु बहरहाल मै किसी की सहायता न कर सका, हालाँकि उन्हे सहायता पहुँचाने की मैंने पूरी कोशिश की ।

अब उन परोपकारी सज्जनो का हाल सुनिए कि जिनके सहयोग की मैं आशा कर रहा था । उनका विचित्र हाल हुआ—ऐसा कि जिसकी मुझे बिलकुल ही आशा न थी । आर्थिक सहायता के जो वचन मुझे मिले थे वे लगभग ३ हज़ार रुबल के थे । किन्तु इन लोगो मे से किसी ने एक कोपक भी मुझे न दिया । हाँ; केवल विद्यार्थियों ने लगभग १२ रुबल मुझे दिये थे, जो मनुष्य-गणना का कार्य करने पर उन्हे मिले थे । मेरी जिस योजना के अनुसार धनी लोगो मे से लाखों रुबल एकत्र करके सैकडो तथा हज़ारो मनुष्यों का दारिद्र्य तथा पाप से उद्धार करना था, उसका यह अन्त हुआ कि विद्यार्थी लोगों ने जो-कुछ रुबल दिए थे और सिटी कौन्सिल के प्रबन्ध की हैसियत से काम करने के बदले में जो २५ रुबल मेरे पास भेजे थे, उन सबको मिलाकर योंही फुटकर ग़रीब लोगो में तकसीम कर दिया । मैं समझ ही न सका कि उन रुबलों से मैं और क्या करूँ ?

इस प्रकार इस कार्य का अन्त हुआ । मास्को छोडकर गाँव जाने

से पहले, मेरे पास जो ३७ रूबल जमा थे, उन्हें ग़रीबों मे बाँट देने के विचार से एक दिन रविवार को मै ज़िनोफ़-गृह गया । मैं परिचित स्थानो में सभी जगह घूम आया, किन्तु मुझे एक ही अपाहिज आदमी मिला । उसे मैने ५ रूबल दिये । मुझे ऐसा और कोई नही मिला कि जिसे मैं कुछ देता । इसमे सन्देह नही कि मुझसे माँगा तो कई लोगों ने, किन्तु चूँकि मै उन्हे जानता नही था इसलिए मैंने यह उचित समझा कि बाकी ३२ रूबल बाँटने के सम्बन्ध मे होटल के मालिक आइवन फिडोटिच से सलाह ले लूँ ।

वह त्योहार का दिन था । सभी लोग अच्छे कपड़े पहने हुए थे । खाने को भी खूब था और कुछ लोग तो पीकर मस्त हो रहे थे । मैदान मे घर के कोने के पास पुराने कपडे ख़रीदनेवाला एक बुड्ढा आदमी खड़ा था, जो किसानो का-सा फटा हुआ कोट और छाल के जूते पहनने हुए था । वह हृष्ट-पुष्ट और तन्दुरुस्त था । अपने कपडों को छाँटकर, लोहे की तथा चमडे आदि की चीज़ों की अलहदा-अलहदा ढेरी बना रहा था और प्रसन्न होकर ऊँचे स्वर से एक गीत गा रहा था । मैं उससे बातें करने लगा । उसकी अवस्था ७० वर्ष की थी । उसके कोई बन्धु-बान्धव न थे । पुराने कपडों का व्यापार करके रोज़ी कमाता था । उसे किसी प्रकार की शिकायत तो थी ही नही, उलटे उसका कहना था कि ईश्वर की कृपा से उसके पास खाने-पीने को काफ़ी है—बल्कि कुछ बच रहता है । मैंने उससे पूछा कि यहाँ कोई ग़रीब आदमी भी है ? वह कुछ बिगडा और बोला—काहिल और शराबी आदमियों के सिवा ग़रीब और कौन होगा ? किन्तु जब उसने मेरे पूछने का मतलब जान पाया, तब तो वह भी प्याली चढ़ाने के लिए पाँच कोपक माँगने लगा और उन्हे पाते ही होटल की तरफ़ दौड़ गया ।

होटल खूब भरा हुआ था, लडकियों का झुंड-का झुंड बन ठनकर इधर-उधर घूम रहा था, सारी मेज़ें भरी हुई थीं । कई लोग तो शराब पीकर मस्त हो रहे थे और छोटे-से कमरे में कोई हारमोनियम बजा रहा

था और दो जने नाच रहे थे। मेरे पहुँचने पर आइवन फिडोटिच ने मेरे सम्मान मे नाच-गान बन्द कर देने का हुक्म दिया और एक खाली मेज़ के पास मेरे साथ बैठ गया। मैंने कहा कि तुम सभी किरायेदारो को जानते हो; इसलिए तुम बता सकते हो कि उनमे सबसे ज्यादा ग़रीब कौन है ? ग़रीबो मे बाँट देने के लिए मुझे एक छोटी-सी रकम मिली है। वह बडे ध्यान से इस विषय मे सोचने लगा और उसकी मुद्रा से स्पष्ट होता था कि बड़ा परेशान है। एक पुराने नौकर ने हमारी बात-चीत सुन ली थी, इसलिए वह भी इस चर्चा मे शरीक हो गया। वह एक-एक करके अपने यहाँ रहनेवालो का नाम ले गये, जिनमे से कुछ से मैं भी परिचित था, किन्तु कोई जँचा नहीं।

'परस नौवना' नौकर ने याद दिलायी।

'हाँ, ठीक है। कभी-कभी उसे भूखा पड़ा रहना पड़ता है। किन्तु वह शराब बहुत पीती है।'

'तो क्या हुआ ?'

'लेकिन हाँ, स्विडन आइवनोविच ? उसके बच्चे भी है।'

किन्तु आइवन फिडोटिच को वह शायद पसन्द न था।

'अकुलीना ? किन्तु उसे तो पेन्शन मिलती है। किन्तु हाँ, याद आया; वह बुड्ढा आदमी !

किन्तु उसके लिए खुद मैंने आपत्ति की। मैंने उसे अभी हाल मे देखा था। वह बुड्ढा अस्सी वर्ष का था, सगा-सम्बन्धी उसके कोई न था। इससे अधिक दीन अवस्था की कोई कल्पना भी नहीं कर सकता। किन्तु मैंने उसे अभी देखा था। परो के बिछौने पर वह शराब पिये हुए पडा था और अपेक्षाकृत छोटी उम्र की स्त्री उसके पास थी। उसे वह गन्दी वाहियात गालियाँ दे रहा था। तब उन्होने एक हाथवाले बालक और उसकी माँ का जिक्र किया। मैंने देखा कि आइवन फिडोटिच अपनी ईमानदारी के कारण बड़ी मुश्किल मे पड गया है, क्योकि वह जानता था कि जो-कुछ दिया जायगा, वह अन्त मे जाकर उसके होटल

में ही आयेगा। किन्तु मुझे तो ३२ रूबल बाँटने थे, इसलिए मैने ज़ोर देकर जिस किसी तरह उनके लिए आदमी खोज लिये। जिन लोगो को वे रुपये दिये गये, वे प्राय: अच्छे कपडे पहने हुए थे, और उन्हें ढूँढ़ने के लिए हमें दूर भी नहीं जाना पड़ा। वे सब वहीं होटल मे मौजूद थे। बिना हाथवाला लड़का जब आया तो वह बढ़िया बूट, लाल कमीज़ और एक वास्कट पहने हुए था।

इस प्रकार मेरी यह परोपकार-वृत्ति समाप्त हुई। सभी से नाराज़ होकर, तथा दूसरों पर अपने दिल का गुबार निकालते हुए, मैं गॉव चला गया। जब कभी कोई आदमी मूर्खतापूर्ण तथा हानिकारक कार्य करता है तो सदा ही ऐसा होता है कि दूसरो को भला-बुरा कहकर जी का गुबार निकालता है। मेरे इस कार्य का कोई भी फल न निकला। किन्तु मेरे दिल मे इस कार्य से जो भाव तथा विचार पैदा हो गये थे वे बन्द न हुए, बल्कि दुगुने वेग से वे मेरे मन को आन्दोलित करने लगे।

: १२ :

किन्तु इस सबका अर्थ क्या है ?

मै गाँव मे रहता था, इसलिए गरीबो के साथ मेरा सम्बन्ध हो गया था। झूठी नम्रता के लिए नही, प्रत्युत अपनी भावनाओं तथा कल्पनाओ को ठीक-ठीक समझाने के लिए यह कहना आवश्यक है कि गाँव मे गरीबो के लिए मैंने बहुत ही थोडा काम किया और गरीब लोग मुझसे जो सहायता चाहते थे वह भी वास्तव मे बहुत थोडी थी। किन्तु मैने जो बहुत थोडी न कुछ-सी सेवा की थी, वह भी उपयोगी सिद्ध हुई। उसके द्वारा मेरे व मेरे पडोसियो के बीच में प्रेम और सहानुभूति का वातावरण पैदा हो गया था। मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि अनुचित विलासी जीवन से हृदय में जो एक प्रकार की वेदना-सी उठती थी, उसको भी इन लोगो मे रहकर शान्त कर देना बहुत-कुछ सम्भव है।

मैने सोचा था कि शहर के ग़रीब लोगो से भी मेरा वैसा ही सुन्दर सम्बन्ध स्थापित हो सकेगा। किन्तु वहाँ की तो परिस्थिति ही बिलकुल भिन्न थी। शहर की ग़रीबी मे सत्य का अंश तो कम था, किन्तु ग्राम्य दरिद्रता की अपेक्षा वह अधिक कठिन तथा करुणापूर्ण थी। नागरिक दरिद्रता का जो भयानक असर मेरे दिल पर पडा; उसका खास कारण यह था कि ढेर की ढेर दरिद्रता एक ही जगह एकत्र हो गयी थी। ल्यापिन-गृह मे जो-कुछ मैने देखा उससे मुझे मालूम पड़ने लगा कि मेरा यह विलासी जीवन एक भयानक बुराई है। किन्तु यह समझते हुए भी मै अपने जीवन मे वह परिवर्तन करने मे सर्वथा असमर्थ था। इस परिवर्तन का

विचार करके ही मैं भयभीत हो उठता था। इसलिए मैंने समझौते का रास्ता पकडा। लोगों ने मुझे जो सलाह दी, और वास्तव मे आदि काल से जो लोग कहते चले आये, मैने उसी बात को मान लिया। मैने इस बात पर विश्वास कर लिया कि धन, वैभव तथा सुखपूर्ण जीवन मे कोई बुराई नही है, ये तो ईश्वर की दी हुई चीजें हैं, और सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए भी ग़रीबों को सहायता पहुँचाना सम्भव है। एक लेख लिखकर ग़रीबो की सहायता करने के लिए मैंने धनिको से प्रार्थना की। सभी धनिको ने इस बात को तो स्वीकार किया कि ग़रीबो को सहायता देना उनका नैतिक कर्तव्य है, किन्तु आगे बढ़कर कुछ काम करने अथवा दान देने की शायद उनकी इच्छा न थी; अथवा ऐसा करने की उनकी शक्ति न थी।

मैं ग़रीब लोगो से मिलने के लिए उनके घर जाने लगा, और वहाँ जो-कुछ मैने देखा उसके देखने की तो मुझे आशा ही न थी। जिन घरो को अँधेरी कोठरी कहता था उनमे मैंने ऐसे लोगो को देखा कि जिन्हे सहायता पहुँचाना मेरे लिए असम्भव था; क्योंकि वे मेहनत-मज़दूरी करने वाले लोग थे, जो परिश्रम करने और भूख-प्यास सहने के आदी होते हैं। और इसलिए मेरी अपेक्षा उनका जीवन अधिक मज़बूत नीव पर स्थित था। वहाँ एक दूसरे प्रकार के लोग भी थे, जो बहुत ही दुःखी थे, उनको भी मैं कोई सहायता न पहुँचा सकता था क्योंकि वे भी बिलकुल मेरी ही जैसी स्थिति मे थे। अधिकांश ग़रीबो की जो दुर्दशा मैंने देखी, उसका कारण सिर्फ़ यह था कि वे अपनी रोज़ी कमाने की शक्ति, इच्छा और आदत को खो बैठे थे। अर्थात् जैसा मैं आलसी और अकर्मण्य हूँ वैसे ही वे भी बन गये थे, और इसलिए उनकी ऐसी दीन दशा भी थी।

भूखों मरती अगाफ़िया के सिवा ऐसा तो एक भी आदमी नहीं मिला कि जो रोग, शीत अथवा भूख से नितान्त पीड़ित हो, और जिसे तत्क्षण सहायता पहुँचाई जा सके और मुझे तो निश्चय हो गया कि मैं जिन

लोगो को सहायता पहुँचाना चाहता हूँ उनके जीवन से जबतक मै अलग-अलग रहता हूँ, तबतक उनके दुःखो को दूर कर देना मेरे लिए लगभग असम्भव है। इनपर जब कोई दुःख या आपत्ति आती है, तब ये दुःखी जीव आपस मे ही एक दूसरे के दुःखो का निवारण करने का यत्न करते है। और अब तो यह मेरा सिद्धान्त-सा बन गया था कि इन लोगो का दुःखमय पतित जीवन पैसा देकर तो कभी सुधारा ही नही जा सकता।

इन सब बातो का मुझे विश्वास तो हो गया था, किन्तु शुरू किये हुए काम को ही अधूरा छोडने मे झूठी लज्जा और अपनी परोपकार-वृत्ति के सम्बन्ध मे धोखे के कारण मैंने अपनी उस योजना को जारी ही रखा, जबतक कि वह खुद ही स्वाभाविक मौत न मर गयी। इस तरह बड़ी मुश्किल से और आइवन फ़िडोटिच की सहायता से मैं उन्हीं रुबलो को, जिन्हे मै अपना समझता था, ज़िनोफ़-गृह के होटल मे लोगो को बाँटने मे समर्थ हुआ था।

यदि मैं चाहता तो इसे धार्मिक कार्य का रूप देकर आगे चला सकता था। चाहता तो जिन लोगो ने चन्दा देने का वचन दिया था, उनसे उतना रुपया वसूल कर लेता और कुछ और भी धन एकत्र करके बाँट सकता था, और इस प्रकार अपने मन को यह समझाकर कि मैंने भले आदमी की तरह भला काम किया है; अपनी आत्मा को सन्तोष दे लेता। किन्तु मुझे विश्वास हो गया कि हम धनिक लोगों मे अपने धन का थोडा-सा भाग भी ग़रीबो को बाँट देने की इच्छा तथा प्रवृत्ति ही नही, और शायद ऐसा करने की शक्ति भी नहीं है। (क्योंकि हमारी अपनी ही आवश्यकतायें बहुत बढ़ी हुई हैं) और दूसरे, यदि हम लोगो का सचमुच ही भला करना चाहते हैं, तो ज़िनोफ़-गृह मे जिस तरह हमने इधर-उधर पैसे वितरण कर दिये थे, उस तरह किसी को न देना चाहिए। इसलिए मैंने उस कार्य को बिलकुल ही बन्द कर दिया, और निराश तथा दुःखित होकर गाँव चला गया।

विस्फूर्ति भी नही दीखती। छुरी तो सदा ही छुरी है। जिसे उससे कुछ काटना नहीं है, उसके लिए भोटी तथा पैनी छुरी एक-सी है। वह उस भेद को जान नही सकता। किन्तु जो समझता है कि छुरी के भोंटी अथवा पैनी होने पर ही उसका जीवन अवलम्बित है, उसके लिए उसका प्रत्येक घर्षण महत्त्वपूर्ण है। वह जानता है कि छुरी को इस तरह पैनाने का अन्त ही नही हो सकता और छुरी उसी हालत में छुरी है कि जब वह पैनी है और जिस चीज़ को काटना है, उसे वह काटती है।

मैं जब लेख लिखने बैठा, तो मेरी भी यह दशा हुई। ल्यापिन-गृह के दृश्य से जो प्रभाव मेरे मन पर पड़ा, और उससे जो प्रश्न पैदा हुए, उनके सम्बन्ध मे मैंने समझा कि मैं सब-कुछ जानता हूँ। किन्तु जब मैने मन ही मन उन प्रश्नो का स्पष्टीकरण करना चाहा तो मालूम पड़ा कि छुरी भोटी है, उसे पैनाना होगा। आज दो-तीन वर्ष के बाद मुझे कुछ ऐसा भास होता है कि अब मेरी छुरी मे इतनी धार है कि मुझे जो काटना है उसे वह काट सकती है। मैने कोई नया ज्ञान प्राप्त किया हो, सो बात नही है। मेरे सारे विचार जैसे थे वैसे ही हैं, पर पहले वे धुँधले और अस्पष्ट थे, उन्हें एक जगह इकट्ठा करना कठिन था, वे तुरन्त ही इधर-उधर बहक जाते थे, उनमे दम नहीं था, और आज जिस प्रकार सरल निश्छल निश्चय को पहुँचा हूँ, वैसा पहले असम्भव-सा प्रतीत होता था।

: १३ :

मुझे याद है कि नगर के दरिद्र लोगों की सहायता करने के निष्फल आयोजन के समय मुझे सदा ही ऐसा मालूम होता था कि जिसे मैं स्वयं दलदली ज़मीन पर खडा होकर दलदल मे फँसे हुए मनुष्य को खींचकर बाहर निकालने की चेष्टा कर रहा हूँ। उसके निकालने के प्रत्येक प्रयत्न पर मुझे यह अनुभव होता कि जिस ज़मीन पर मैं खडा हूँ वह स्वयं कितनी अस्थिर है। मुझे ऐसा भास तो हुआ कि मैं खुद दलदल पर खडा हूँ, किन्तु फिर भी मैंने अपने पैरो तले की जमीन की जाँच-पडताल नही की, बल्कि यह समझकर कि सारे दुःखों का कारण मेरे से बाहर है; मैं दुःखों के दूर करने के लिए किसी बाहरी साधन की ही खोज मे सारे समय लगा रहा।

मुझे ऐसा लगता था कि मेरा जीवन खराब है, लोगों का इस प्रकार जीवन व्यतीत करना ठीक नही। किन्तु फिर भी इस धारणा से तो सरल और प्रत्यक्ष सिद्धान्त निकलता है कि दूसरों के जीवन का सुधार किस तरह किया जाय, यह समझने के लिए पहले अपने जीवन को सुधारना आवश्यक है। इस सरल स्वाभाविक सिद्धान्त को मैंने नहीं पहचाना। और इसीलिए मैंने जो काम शुरू किया, उसका ढङ्ग कुछ उलटा-सा था। मैं नगर मे रहता था और वहाँ के निवासियो के जीवन को सुधारना चाहता था। किन्तु शीघ्र ही मुझे यकीन हो गया कि यह काम करने की शक्ति मुझमें नहीं है और तब मैं नागरिक-जीवन और नगर की दरिद्रता की ख़ासियत पर विचार करने लगा।

मैने सोचा, गाँव जाकर एक लेख लिखूँगा, जिसमे और अनुभवों का उल्लेख करते हुए यह दिखलाऊँगा कि मेरी योजना असफल क्यो हुई ? मनुष्य-गणना-सम्बन्धी लेख पर लोगो ने जो अनेक आक्षेप किये थे, उनका जवाब दूँगा और इसके साथ ही मेरा विचार था कि इस सम्बन्ध मे समाज की जो हृदय-हीन लापरवाही है, उसपर भी कटाक्ष करूँगा। शहर की दरिद्रता के कारणो और उसके दूर करने के उपायो का भी वर्णन करने की मेरी इच्छा थी। इस लेख को मैने लिखना प्रारम्भ भी कर दिया। मै समझता था कि मुझे कई महत्त्वपूर्ण बाते प्रकाशित करनी है। किन्तु जब मै लिखने लगा, तो मुझसे लिखा ही न न गया। मैने अपने दिमाग़ पर बहुत ज़ोर दिया और मेरे पास सामग्री भी बहुत काफी थी। किन्तु मेरी मन.स्थिति क्षुब्ध होने के कारण थे, और इस समस्या को ठीक तरह समझने की अनुभव-जन्य शक्ति का अभाव भी था। और ख़ासकर इसलिए कि इस दीन अवस्था का कारण सरल और स्पष्ट होते हुए भी अभी तक मेरे दिल मे पूरी तरह बैठा न था। मै उस लेख को आगे न चला सका। फलतः इस वर्ष (१८८४-८६) तक भी वह लेख समाप्त न हो सका।

धार्मिक तथा नैतिक बातो के सम्बन्ध मे एक अजीब बात दिखाई पडती है, जिसपर लोग कम ध्यान नही देते हैं। यदि मै किसी अशिक्षित मनुष्य से भू-गर्भ-विद्या, ज्योतिष, इतिहास, पदार्थ-विद्या तथा गणित के सम्बन्ध मे बाते करूँ, तो वह उन्हें बिलकुल नवीन समझता है और कभी यह नही कहता—"यह तो पुरानी बात है, इसमे नवीनता क्या है ?" किन्तु यदि किसी उच्च-से-उच्च नैतिक सिद्धान्त की अत्यन्त सुन्दर और अपूर्व व्याख्या भी की जाय, तब प्रत्येक साधारण मनुष्य, जो कि नैतिक बातों मे कोई रस नही लेता, और ख़ासकर वह मनुष्य जो उन्हे पसन्द नहीं करता, तुरन्त ही कहने लगेगा—अजी, यह कौन नही जानता ? आदि काल से सभी ऐसा कहते आये हैं। और मज़ा तो यह है कि वह वास्तव में ऐसा ही विश्वास करता है। नैतिक सिद्धान्तों

की जिन्हें परख है, जो उनकी क़ीमत जानते हैं, वही समझ सकते है कि वे कितने महँगे और बहुमूल्य हैं। कितने परिश्रम और अध्यवसाय के बाद कोई मनुष्य किसी नैतिक सिद्धान्त को विशद तथा स्पष्ट रूप मे प्राप्त करने मे समर्थ होता है। और वास्तव मे वही अनुभव कर सकते हैं कि किस प्रकार किसी धुँधले अनुमान तथा अनिश्चित कल्पना और इच्छा मे से धीरे-धीरे विकसित होते हुए कोई तत्व अन्त मे सुस्पष्ट, स्थिर, अविचल सिद्धान्त के रूप को प्राप्त होता है और तदनुसार मनुष्य को अपने आचरण मे परिवर्तन करने के लिए विवश करता है।

मुझे याद है कि एक बार जब मैं मास्को की एक गली मे जा रहा था मैंने देखा कि एक आदमी दूकान से उतरा और पत्थरो को ग़ौर से देखने लगा, फिर उनमें से एक को चुनकर उसपर बैठ गया और उसे खूब ज़ोर-ज़ोर से घिसने तथा खुरचने लगा। मैंने दिल ही दिल मे कहा— यह आदमी इस पत्थर का क्या कर रहा है? किन्तु जब मैं नज़दीक आया तो देखा कि वह आदमी कसाई की दूकान से उतरा है और सडक के पत्थर पर छुरी को पैना कर रहा है। माँस काटने के लिए उसका छुरी पैनाना ज़रूरी था, किन्तु मुझे ऐसा मालूम पडा कि वह पत्थर का कुछ कर रहा है।

इसी तरह मनुष्य-जाति व्यापार, युद्ध, सुलह, विज्ञान, कला आदि मे व्यस्त दिखाई पडती है, किन्तु फिर भी इन सबमे केवल एक ही बात महत्वपूर्ण है, और लोग वही कार्य करते है, जिन नैतिक नियमो द्वारा यह संसार चल रहा है, उन्हीका पता वे अपनी भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियो द्वारा लगाते है। नैतिक सिद्धान्त सदा से है, मानव-जाति उनका आविष्कार नही करती— केवल अपने अनुभव और मेहनत से उन्हे ढूँढ निकालती है और नये रूप से उनकी व्याख्या करती है। यह व्याख्या उस मनुष्य को महत्व-पूर्ण मालूम नही पडती जिसे नैतिक सिद्धान्तो की ज़रूरत नहीं है और जो उसके अनुसार जीवन नही चलाना चाहता। किन्तु समस्त मनुष्य-जाति का यह मुख्य कर्म ही नही, बल्कि एकमात्र यही उसका काम है। भोटी तथा पैनी छुरी के भेद की तरह नैतिक सिद्धान्तो की

इतना सुखी नहीं हो सकता; अपने वैभव के कारण उन्हें भय भी लगा रहता है; पर अब यहाँ भय तो दरकिनार, आसपास के दूसरे लोग जिस प्रकार शान के साथ रहते हैं, उसी प्रकार यदि न रहा जाय तो उलटा बुरा लगे। गाँव में जो भयजनक और भद्दा सा मालूम पड़ता था, वही यहाँ आवश्यक और अनिवार्य दिखाई पड़ता है।

अमीर लोग शहरों में एकत्र होते हैं, और सरकारी अफ़सरों के संरक्षण में रहकर गाँव से जो कुछ आता है, मौज से उसका उपभोग करते हैं। गाँववाले नगर के धनिकों के उत्सवों और भोजों से आकर्षित होकर कुछ बचा-खुचा मिल जाने की आशा से वहाँ जाते हैं, और धनिकों का चिन्ता रहित, बिना मेहनत का आनन्दमय जीवन जब वे देखते है, और देखते हैं कि प्रायः सभी उसे अच्छा समझते हैं, तो कभी-कभी उनके मन में भी यह इच्छा पैदा होना स्वाभाविक ही है कि हम भी कम-से-कम परिमाण में काम करके दूसरों की मेहनत से अधिक-से-अधिक लाभ जिस प्रकार उठाया जा सके, वैसा जीवन व्यतीत करें। आख़िरकार वह धनी लोगों के पास ही ठहरने का निश्चय कर लेता है। और अपनी आवश्यक चीज़ों को उनसे प्राप्त करने की हर तरह चेष्टा करता है। और उसके बदले मे अमीर लोग जो-जो शर्तें पेश करते हैं उन्हें मानकर वह उनका आश्रित बन जाता है। उनकी सब प्रकार की विषय-वासनाओं को तृप्त करने मे मदद देता है, स्नान-गृहो मे, होटलों मे, कोचवान और वेश्या के रूप में ये गाँव के स्त्री-पुरुष इनकी सेवा करते हैं। ये लोग गाड़ियाँ, खिलौने और कपड़े आदि बनाते हैं और धीरे-धीरे अपने धनी पड़ोसियो की भाँति रहना सीख जाते हैं, जिनमे वास्तविक मेहनत तो नहीं करनी पड़ती किन्तु तरह-तरह की चालाकियो से दूसरों का इकट्ठा किया हुआ धन उन्हे फुसलाकर हरण कर लेते हैं और इस प्रकार वे भ्रष्ट चरित्र हो कर नष्ट हो जाते हैं। शहर के धन से बिगडे हुए यही लोग हैं कि जो शहर की दरिद्रता का कारण हैं; और जिन्हें सुधारने के लिए ही मैंने यह आयोजन रचा था, पर सफल न हुआ।

गाँव के लोग जो अन्न ख़रीदने के लिए अथवा कर चुकाने के वास्ते शहर में पैसा कमाने की दृष्टि से आते हैं, उनकी स्थिति पर ज़रा विचार कर लें। वे देखते हैं कि हजारों रुपया बड़ी ही बेपर्वाही से लोग उड़ा देते हैं, और सैकड़ों रुपया आसानी से कमाया भी जा सकता है, जब कि गाँव में सख़्त-से-सख़्त मेहनत करने पर कहीं जाकर एक पैसा मिलता है। यह सब देखते हुए हैरानी की बात प्रतीत होती है कि अब भी बहुत से लोग ऐसे हैं, जो मेहनत-मज़दूरी करके रोजी कमाते हैं और व्यापार करके, भीख माँगकर, व्यभिचार और बदमाशी द्वारा तथा चोरी और लूट-मार करके आसानी से धन कमाने की ओर नहीं झुक गये हैं।

नगरों में आनन्द-प्रमोद की जो लगातार रेल-पेल मची हुई है; उसमें भाग लेने के कारण ही हमारी वृत्ति अजीब बन जाती है। हमें इसमें कोई विचित्र बात मालूम नहीं होती है कि एक मनुष्य अपने लिए बड़े-बड़े पाँच कमरे रक्खे, और उनको गरम रखने के लिए इतनी लकड़ी जलाये कि जिसमे २० परिवारों का भोजन बन सके और उनके घर गरमाये जा सकें। हमे यदि आध मील जाना हो तो दो घोड़ों की बढ़िया गाड़ी चाहिए, और उसके साथ दो साईस भी होने चाहिएँ। अपने बेल-बूटेदार फर्श को ग़लीचों से ढकते हैं और नाच-गान की एक-एक मजलिस मे पाँच से दस हज़ार रुपया तक लगा देते है। बड़े दिन के पेड के लिए २५ रुबल ख़र्च कर डालते हैं; और इसी प्रकार के दूसरे अन्धाधुन्ध ख़र्च करते हैं। हमे ये बातें भले ही अस्वाभाविक न मालूम होती हो, किन्तु जिस आदमी को अपने कुटुम्ब का पेट भरने के लिए १० रुपये की ज़रूरत है, या लगान के लिए बहुत मेहनत करके भी ७ रुपये न बचा सकने के कारण जिसकी अन्तिम भेड भी छीन ली गई हो, वह आदमी तो इस भयकर फजूल ख़र्ची को कभी समझ ही नहीं सकता।

हम लोग समझते हैं कि ग़रीब लोगो को ये बातें बिलकुल स्वाभाविक मालूम होती होंगी। और कुछ तो ऐसे हज़रत हैं कि जो यह कहते हुए भी नही हिचकते कि हमारे राग-रंग से गरीबों का भला होता है—

उन्हें इससे रोज़ी मिलती है। किन्तु ग़रीब होने से उन्हें बुद्धि न हो, यह बात तो नही है। वे भी ठीक हमारी ही तरह विचार करते है। जब हम सुनते है कि किसी ने जुए मे अपनी सम्पत्ति नष्ट करदो या दस-बीस हज़ार रुपये गँवा दिये, तो तुरन्त हमारे मन मे ख़याल आता है कि यह आदमी कैसा मूर्ख है, मुफ्त में इतने सारे रुपये बरबाद कर दिये ! यदि मेरे पास इतनी रकम होती तो उसका कितना सदुपयोग करता ! मैं मकान बनवाता या जायदाद की तरक्की मे उसे खर्च करता। हमे व्यर्थ ही अपनी दौलत को नष्ट करते हुए देखकर ग़रीब लोगों के दिल मे भी उसी प्रकार का विचार उठता है, बल्कि उनके मन मे यह विचार और भी जोर के साथ उठता है; क्योंकि आमोद-प्रमोद के लिए नही, किन्तु जीवन की अपरिहार्य आवश्यकताओ को जुटाने के लिए उन्हे इस धन की ज़रूरत है।

यह बात तो इन्होंने कभी स्वीकार ही नहीं की, और स्वीकार कर भी नहीं सकते, कि एक वर्ग तो मज़े उडाये और दूसरा वर्ग भरपूर मेहनत करते हुए भी भूखों मरे। यह स्थिति इनको अच्छी लग ही नहीं सकती। पहले तो यह सब देखकर इन लोगो को आश्चर्य होता है, और बुरा भी मालूम होता है; किन्तु अधिक संसर्ग मे आने से वे समझते है कि यह व्यवस्था तो उचित समझी जाती है तब वे भी मेहनत-मज़दूरी से पिंड छुडाकर इस राग-रंग मे भाग लेने का प्रयत्न करते हैं। उनमे से कितने ही सफल हो जाते है और मजे उड़ाने मे मग्न हो जाते हैं। कितनों को यह स्थिति प्राप्त करने में देर लगती है, और कितने ही इच्छित स्थिति को प्राप्त करने से पहले ही थक जाते हैं, किन्तु मेहनत-मज़दूरी का अभ्यास छूट जाने से वे बदमाशी तथा वेश्या-वृत्ति का आश्रय लेते है।

दो वर्ष पहले एक किसान के बालक को अस्तबल में काम करने के लिए हम लाये। अस्तबल के दारोग़ा के साथ झगडा होने पर उसे अलहदा कर दिया गया। वह एक व्यापारी के यहाँ नौकर होगया और उसका कृपा-पात्र बनकर आज सुन्दर कोट पहनता है, सोने की चेनवाली

घड़ी रखता है और चमकते हुए बूट पहनता है। इसी लड़के की जगह हमने दूसरे किसान को नौकर रक्खा। वह विवाहित था। वह शराब पीने गया और रुपया गँवा आया। हमने तीसरा आदमी नौकर रखा। उसको पहले से ही शराब पीने की लत थी और उसके पास जो-कुछ था वह सब उड़ा देने के बाद वह बहुत दिनों तक एक अनाथावास में पड़ा रहा। हमारा पुराना रसोई बनानेवाला शहर में आकर शराब पीने लगा और बीमार पड़ गया। हमारा साईस पहले बहुत शराब पीता था, किन्तु पाँच वर्ष तक गाँव में रहकर उसने शराब को छुआ भी नहीं; मगर जब वह अपनी स्त्री को छोड़कर, जो उसकी देखभाल रखती थी, मास्को में आया, तब वह फिर पीने लगा और उसने अपना जीवन दुःखमय बना लिया। हमारे गाँव का एक छोटा लड़का मेरे भाई के यहाँ है। उसका अन्धा और बुड्ढा दादा, जब मैं गाँव में रहता था, तब, मेरे पास आया और कहने लगा कि किसी तरह मेरे पोते को समझा दो कि वह लगान अदा करने के लिए दस रूबल भेज दे। अगर ऐसा न हुआ तो गाय बेचनी पड़ेगी।

उस वृद्ध ने यह भी कहा, 'वह लड़का कहा करता है कि उसे भले आदमियों के-से कपड़े पहनने पड़ते हैं, जिसमें बहुत ख़र्च हो जाता है। उसने बड़े बूट ख़रीद लिये हैं। इतना ही बहुत है, किन्तु मैं तो समझता हूँ कि वह अब घड़ी ख़रीदने की धुन में है।'

वृद्ध ने ये बातें इस ढंग से कहीं कि जिससे मालूम पड़ता था कि उसकी दृष्टि में घड़ी ख़रीदने से बढ़कर फजूलख़र्ची तथा मूर्खतापूर्ण बात कोई हो ही नहीं सकती, और उस बेचारे का खयाल ठीक भी था। इस वृद्ध को शीत-काल भर ज़रा भी घी या तेल खाने को नहीं मिला, और अब उसका सारा ईंधन नष्ट हुआ जा रहा है, क्योंकि, उसे कटाने के लिए सवा रूबल की ज़रूरत है, जो उसके पास नहीं है। वृद्ध ने जो बात व्यंग के रूप में कही थी, वह निकली भी सच। लड़का एक सुन्दर काला ओवरकोट और आठ रुपयेवाला बूट पहनकर मेरे पास आया। कल ही

मेरे भाई से दस रुपये लेकर उसने बूटों पर ख़र्च कर दिये । मेरे बच्चे इस लडके को बचपन से जानते थे । उन्होंने मुझसे कहा—इस लड़के को घड़ी की तो बड़ी ज़रूरत है । यह है बडा अच्छा, पर यह समझता है कि यदि मेरे पास घड़ी न होगी तो लोग मुझपर हँसेंगे । इसलिए घड़ी तो इसे चाहिए ही ।

इस वर्ष १८ वर्ष की एक दासी का कोचमैन के साथ अनुचित सम्बन्ध होगया और उसे छुट्टी दे दी गई । जब मैंने अपनी बूढ़ी धाय से यह बात कही तो उसने मुझे एक दूसरी लडकी की याद दिलाई, जिसे मैं भूल गया था । दस वर्ष पहले जब हम मास्को में रहते थे, यह लडकी हमारे यहाँ नौकर थी। वहाँ वह साईस की मुहब्बत मे फँस गई । उसे भी बिदा कर दिया गया था और आख़िरकार वह वेश्या-वृत्ति करने लगी । बीस वर्ष की भी वह होने न पाई कि घृणित रोग से पीडित होकर वह अस्पताल मे मर गई । हमारे भोग-विलास के लिए जो मिल और कारखाने खुले हैं, उनमे जो हो रहा है, उसे एक ओर छोडकर हम अपने चारों ओर स्वतः अपनी विलासिता के कारण जो अनीति की भयंकर बला फैला रहे हैं, उसे यदि हम आँख उठाकर देखें तो हमारा हृदय दहले बिना न रहे ।

इस प्रकार जिस नागरिक दरिद्रता को दूर करने मे मैं असमर्थ रहा, उसका मूल कारण मुझे मिल गया । हम लोग गाँववालों के पास से उनकी ज़रूरत की चीज़ों को ला-लाकर जो शहरो मे भरते है, यह इस दुर्दशा का पहला कारण है; और दूसरा कारण यह है कि इन नगरो मे अपने भोग-विलास की ख़ातिर इन एकत्र की हुई चीज़ों का अन्धाधुन्ध ख़र्च करके हम उन गाँववाले किसानो को वैभव के प्रलोभनो मे फँसाकर उनका जीवन नष्ट करते हैं, जो अपना-अपना घर छोड़कर शहर में उन चीज़ों के कुछ अंशों को ले जाने के लिए आते हैं, जिन्हें हम गाँव से उनसे छीनकर ले आये हैं ।

: १४ :

एक दूसरे दृष्टि-कोण से विचार करने पर भी मै उसी नतीजे ।
पहुँचा । शहर के ग़रीबो के साथ के अनेक प्रसंग स्मरण करने पर मु
मालूम हुआ कि ग़रीब लोगो की मदद न कर सकने का एक कार
यह भी था कि इन लोगो ने मुझे अपनी सच्ची स्थिति न बताकर भू
बाते कही । ये लोग मुझे मनुष्य नही, एक प्रकार का साधन समझ
थे । मैने देखा कि मैं उनके साथ गहरा हार्दिक सम्बन्ध स्थापित नही क
सकता, और शायद ऐसा करना जानता भी न था । किन्तु सचाई
बिना तो सहायता करना असम्भव था । भला किसी आदमी को सहाय
किस प्रकार पहुँचाई जा सकती है, जबतक कि वह अपनी सारी स्थि
बता नहीं देता ? पहले-पहल तो मैं इस बात का दोष ग़रीबों पर
रखने लगा; क्योंकि दूसरों के मत्थे दोष मढ़ना सरल और स्वाभाविक है
किन्तु सुटेफ नाम के एक समझदार मनुष्य ने, जो उन दिनो मुझ
मिलने आया था और मेरे घर रहता था, एक ऐसी बात मुझसे कही कि
जिससे मेरा सारा संशय मिट गया और मैं यह भी समझ गया कि मेरे
असफलता का सच्चा कारण क्या है ।

मुझे याद है कि सुटेफ़ ने जब वे बातें कही थीं तब भी उनका मेरे
दिल पर गहरा असर पड़ा था । किन्तु उन बातो का ठीक-ठीक और
पूरा अर्थ तो मेरी समझ मे कुछ दिनो बाद आया । उन दिनों जब मैं आत्म-
वञ्चना के चक्कर मे पूरे तौर पर पड़ा हुआ था, मैं अपनी बहन के घर

गया । सुटेफ़ भी वही था । मेरी बहन मेरी योजना के सम्बन्ध मे मुझसे प्रश्न करने लगी ।

मैं सब बातें उसे बता रहा था, और जैसा कि अक्सर होता है, जब किसी आदमी को अपने काम मे पूरा विश्वास नहीं होता तो वह खूब बना-बना करके उसका ज़िक्र करता है, ठीक वैसा ही मैं भी बडे जोश, उत्साह के साथ, विस्तार के साथ और अपने काम का और उससे होने-वाले परिणामो का वर्णन करने लगा । मैं उसे बता रहा था कि मास्को में ग़रीबो की जो दशा हो रही है, उसका हमे किस प्रकार ख़याल रखना चाहिए और अनाथो तथा वृद्धों की किस तरह खबरगीरी रखनी चाहिए तथा गॉव के कंगाल लोगों को घर वापस भेजने तथा बिगडे लोगो को सुधारने के साधन किस प्रकार जुटाने चाहिएँ। मैने अपनी बहन को समझाया कि यदि हम अपने कार्य मे सफल हुए तो मास्को मे एक भी ऐसा ग़रीब आदमी न होगा कि जिसे हम सहायता न पहुँचा सकें ।

मेरी बहन ने मेरे विचारो से सहानुभूति प्रकट की । किन्तु मैं जब बाते कर रहा था तो कभी-कभी सुटेफ़ की ओर देखता जाता था । मै उसके धार्मिक जीवन से परिचित था और जानता था कि वह दान-सम्बन्धी बातो को बहुत महत्व देता है । मुझे उससे सहानुभूति की आशा थी, और इसलिए मै इस ढंग से बाते कर रहा था कि जिससे वह मेरी बाते समझ जाय । देखने को तो मै अपनी बहन से बाते कर रहा था, पर वास्तव में मेरी बातों का ज़्यादा झुकाव उसी की ओर था ।

वह काली भेड की खाल का कोट – जिसे किसान लोग घर मे तथा बाहर पहना करते हैं—पहने हुए अचल और स्थित भाव से बैठा हुआ था । ऐसा प्रतीत होता था कि वह हमारी बातें सुन रहा है बल्कि किसी और ही बात के ध्यान मे है । उसकी छोटी-छोटी ऑखों मे चमक बिलकुल ही न थी, बल्कि ऐसा मालूम होता था कि उसकी दृष्टि किसी अन्तर प्रदेश मे विचरण कर रही है । जी भरकर बाते कर चुकने के बाद, मैंने उससे पूछा कि इस विषय में उसका क्या विचार है ?

उसने कहा—यह सब व्यर्थ है!

मैने कहा—क्यों?

विश्वासपूर्ण स्वर में वह बोला—यह सारी योजना खोखली है, इससे कोई लाभ न होगा।

'लाभ होगा क्यों नहीं? यदि हम सैकडो-हजारों दुखी मनुष्यों को सहायता पहुँचाएँ, तो इसे व्यर्थ कैसे कहा जा सकता है? नंगे को कपड़ा देना और भूखे को भोजन कराना क्या बाइबिल मे नही लिखा?'

सुटेफ ने कहा—यह सब मै समझता हूँ, किन्तु तुम जो-कुछ कर रहे हो वह वैसा नहीं है। क्या इस प्रकार सहायता देना सम्भव है? सडक पर जाते हुए तुमसे कोई पैसा माँगता है, तुम उसे दे देते हो। क्या यह दान है? उसकी आत्मा के कल्याण के लिए कुछ करो, उसे कुछ सिखाओ! कुछ पैसे फेंककर तुम अपने सिर से बला टालते हो। क्या यह भी दान मे दान है?

मैने कहा—नहीं, हम यह नही कहते। हम पहले तो उनकी ज़रूरतों को मालूम करेंगे और फिर धन अथवा काम देकर उनकी सहायता करेंगे।

सुटेफ ने कहा—इस प्रकार उनकी कुछ भी सहायता न होगी।

'क्या उन्हे भूखो मरने दें और शीत से ठिठुरने दें?'

'मरने क्यो दें? ऐसे कुल कितने आदमी होंगे?'

'कितने आदमी होंगे? आप शायद जानते नही कि अकेले मास्को मे बीस हज़ार आदमी हैं, जो शीत और भूख की बीमारी से पीड़ित है, और फिर सेन्टपीटर्सबर्ग तथा अन्य नगरो मे कितने होंगे?'

वह मुस्कराया—सिर्फ बीस हजार! और रूस से कुल घर कितने होंगे? लगभग दस लाख तो होंगे ही।

'लेकिन इससे मतलब क्या है?'

'मतलब क्या है?' अबकी बार कुछ जोश से उसने कहा, और

उसकी आँखे जोश से चमक उठीं, 'हमे इन लोगों को अपने साथ मिला लेना चाहिए। मैं खुद अमीर आदमी नही हूँ। लेकिन दो आदमी अभी अपने पास रख लूंगा। तुमने अपने बबरचीखाने में जो आदमी अभी रखा है मैंने उससे अपने साथ चलने को कहा, किन्तु उसने अस्वीकार कर दिया। यदि इससे दसगुने भी होते, तब भी हम सबको अपने परिवार में शामिल कर लेते। हम सब साथ मिलकर काम करेगे। ये हम लोगो को काम करते हुए देखेंगे और जीवन-निर्वाह करने का ढंग सीखेगे। हम लोग साथ बैठकर एक-सा भोजन करेंगे। कभी मुझ से और कभी तुमसे दो अच्छे शब्द इन्हें सुनने को मिलेंगे। यह दान है, यह उपकार है। आपकी योजना से कोई लाभ नही।'

इन सीधे-सादे शब्दों का मुझ पर असर पड़ा। उसकी बात सच है, यह तो मानना ही पड़ा। पर उस समय मुझे ऐसा मालूम हुआ कि उसका कहना सच होने पर भी सम्भव है कि मेरी योजना से भी कुछ लाभ पहुँच सके, किन्तु ज्यों ज्यों मेरा काम आगे बढ़ा और गरीब लोगों के ज्यादा समीप आया, त्यों-त्यों मुझे इन शब्दों की याद बहुत आने लगी और वे अधिक अर्थ-पूर्ण मालूम होने लगे।

मैं रोयेंदार क़ीमती कोट पहनकर निकलता हूँ, अथवा गाडी में बैठ कर ऐसे आदमी के पास जाता हूँ, जिसके पास पहनने के लिए जूते भी नही है। वह देखता है कि मेरे घर की सजावट में हजारों रुपये खर्च होते हैं या बिना सोचे विचारे मैं किसी को पांच रुपये केवल मन की लहर के कारण दे डालता हूँ। इन बातो को वह देखता है और इनका उसके दिल पर असर पड़े बिना नहीं रह सकता। वह सोचता है और समझ जाता है कि मैं जो इतना खर्च करता हूँ या इस प्रकार लोगो को रुपये दे डालता हूँ, इसका कारण यह है कि मैंने बहुत-सा रुपया इकट्ठा कर लिया है, जो मै किसी को देना नहीं चाहता और जो मैंने उससे या उस जैसे दूसरो से बेदर्दी से छीन लिया है। और मेरे प्रति इसके सिवा उसका और ख़याल हो ही क्या सकता है कि मैंने उससे तथा दूसरे लोगों से जो रुपये ले लिये

है, उनमे से जितने और जिस प्रकार हो सके, वह वापस लेने की इच्छा करे ?

मै उसके साथ गहरा सम्बन्ध रखना चाहता हूँ पर शिकायत भी करता हूँ कि उसका व्यवहार उतना सच्चा नही है। किन्तु साथ ही मै उसके बिछौने पर बैठने से डरता हूँ कि कही कोई छूत का रोग न लग जाय, और उसे अपने कमरे मे भी आने देना नहीं चाहता। यदि वह बेचारा अर्धनग्न अवस्था मे मुझसे मिलने आता है, तो उसे घण्टो इन्तज़ार करना पड़ता है, और उस समय यदि उसे ड्योढ़ी मे स्थान मिल गया तो यह उसका सौभाग्य है, नही तो बाहर सर्दी मे खडा-खडा ठिठुरा करे ! और फिर मै कहता हूँ कि यह सब उसका दोष है कि मै उसके साथ अपनापन स्थापित नही कर पाता, उसका हृदय साफ नही है।

मैंने निष्पक्ष होकर अपने जीवन और रहन-सहन पर विचार किया तो मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि ग़रीब लोगो के साथ हमारे सम्बन्ध का घनिष्ट होना जो असम्भव-सा हो रहा है, यह केवल इत्तिफाक की बात नही है, बल्कि हम खुद अपने जीवन को ऐसे ढङ्ग पर डाल रहे है कि जिससे हमारा उनका मेल नामुमकिन हो रहा है। इतना ही नहीं, अपने जीवन को तथा धनी लोगो के जीवन को बाहर से देखने पर मैंने तो समझा कि हम लोग जिसे आनन्द या सुख समझते है, वह जहातक हो सके इन गरीब लोगों से पृथक् होकर दूर रहने मे ही है। सच्ची बात यह है कि भोजन, पोशाक, मकान और सफाई से लेकर शिक्षा तक हमारी जीवन-सम्बन्धी सभी बातो का उद्देश्य ही यह मालूम पडता है कि हमारे और ग़रीबो के बीच में दीवार खडी करदी जाय और भेदभाव तथा पृथक्करण की इस बहुत ऊँची दीवार को खडी करने मे हम अपने धन का नब्बे फी सदी हिस्सा खर्च करते है।

जब कोई आदमी धनवान हो जाता है तो सबसे पहला काम वह यह करता है कि दूसरों के साथ खाना छोड देता है। वह अपने तथा परिवार के लिए खास भोजन बनवाता है, और अलहदा थालियां लगवाता है। वह अपने नौकरो को तो अच्छी तरह भोजन कराता है, ताकि उनके मुँह

मे पानी भर आये, पर स्वयं अलहदा बैठकर भोजन करता है। लेकिन अकेले खाना अच्छा नहीं लगता, इसलिए भोजन मे यथासम्भव सुधार होता है और मेज़ को भी खूब सजाया जाता है। खुद खाने की पद्धति ही अभिमान और गौरव की बात हो जाती है, जैसा कि डिनर-पार्टियो मे देखने मे आता है। उसके भोजन करने की पद्धति मानो उसे दूसरे लोगों से अलहदा करने का एक साधन है। किसी ग़रीब आदमी को भोज मे निमन्त्रण करना तो धनी आदमी के लिए बिलकुल अनहोनी बात है। भोज मे शामिल होने के लिए महिला को मेज़ तक पहुँचने की, सलाम करने की, बैठने की, खाने की, हाथ-मुँह धोने की तमीज़ तो होनी ही चाहिए, और इन बातो को सिर्फ अमीर लोग ही ठीक तरह से करना जानते हैं।

पोशाक के बारे मे भी यही बात है। यदि कोई अमीर आदमी सादी पोशाक पहने तो शरीर ढकने तथा शीत से सुरक्षित रखने के लिए उसे बहुत थोड़े कपडो की जरूरत हो, और यदि उसके पास दो कोट हो तो जिसके पास एक भी न हो उसे एक कोट दिये बिना उससे रहा ही न जाय। किन्तु अमीर आदमी ऐसी पोशाक पहनना शुरू करता है, कि जिसमे बहुत-सी चीज़े होती है, जो विशिष्ट समय पर, या विशिष्ट कपड़ो के साथ पहनी जा सकती हैं, और इसलिए वह ग़रीब आदमी के मतलब की नहीं होती। फैशनेबल आदमी के लिए शाम के पहनने के कोट, वेस्ट-कोट, फ्राककोट, पेटेन्ट लेदर बूट होने ही चाहिएँ। और उसकी स्त्री के पास भी ऊँची एडी के जूते, शिकारी और सफरी जाकेट, बॉडिस और फ़ैशन के मुताबिक तरह-तरह की कई हिस्सों की बनी हुई पोशाके अवश्य चाहिए। ये सब चीज़े केवल अमीरो के काम आ सकतीं हैं। हमारा पहरावा भी हमें जुदा करने का एक साधन हो जाता है, और फैशन का तो उद्देश्य ही अमीरो को ग़रीबो से दूर रखना है।

यही बात हमारे मकानो से और भी स्पष्ट रूप से साबित होती है। एक आदमी दस कमरो का उपयोग कर सके, इसके लिए हमे ऐसा प्रबन्ध करना पड़ता है कि वह ऐसे लोगों की दृष्टि से दूर रहे कि जो दस-

दस की संख्या मे एक कमरे में रहते है। जितना ही अधिक कोई आदमी धनवान् होता है, उसतक पहुँचाना भी उतना ही कठिन होता है। उतने ही अधिक दरबान ग़रीब आदमियो को उसके पास न पहुँचने देने के लिए तैनात होते है, और किसी गरीब आदमी का आतिथ्य-सत्कार करना, उसे अपनी कालीनों पर चलने-फिरने तथा मखमली कुर्सियों पर बैठने देना भी उसके लिए उतना ही अधिक असम्भव हो जाता है।

सफर में भी यही बात होती है। बैलगाडी मे बैठकर जाने वाला वह किसान बडा ही कठोर-हृदय होगा कि जो राह चलते थके हुए बटोही को अपनी गाडी में बैठाने से इन्कार कर दे। उसकी गाडी मे काफ़ी जगह होती है और वह आराम से उसे बैठा सकता है। किन्तु गाडी जितनी ही अधिक ठाठदार और अमीराना होगी, मालिक के सिवा किसी दूसरे आदमी को उसमे स्थान देना उतना ही अधिक असम्भव होगा।

स्वच्छता शब्द से हम जिस प्रकार रहन-सहन की ओर इशारा करते है, उस स्वच्छता का भी यही हाल है।

स्वच्छता की दुहाई देने वाले उन मनुष्यों और ख़ासकर स्त्रियो को कौन नहीं जानता? स्वच्छता के इन विभिन्न रूपो को भी कौन नही जानता? इनकी कोई सीमा ही नहीं है, जबतक कि ये दूसरों की मेहनत से प्राप्त होते हैं। स्वयं-निर्मित धनिको मे ऐसी कौन है, जिसने अपने को उस स्वच्छता का आदी बनाने मे बेहद परेशानी और तकलीफ अनुभव न की हो। यह स्वच्छता तो इस कहावत को चरितार्थ करती है—'उजले हाथों को दूसरों की मेहनत अच्छी लगती है।'

आज स्वच्छता इसमे है कि रोज़ कुर्ता बदला जाय, कल दिन में दो बार कुर्ते बदलने होगे। पहले तो हाथ और मुँह धोना प्रतिदिन आवश्यक होता है, फिर पैर भी रोज़ाना धोने होते है, और फिर सारा शरीर, और वह भी ख़ास-ख़ास तरीको से। एक साफ मेज़पोश दो दिन तक काम देता है, फिर वह रोज़ बदला जाता है, और उसके बाद दिन में दो-दो मेज़पोश बदले जाते हैं। आज तो इतना ही काफी समझा

जाता है कि अर्दली के हाथ साफ़ हों, पर कल उसे दस्ताने पहनने चाहिएँ और एक साफ़ तश्तरी मे रखकर पत्र पेश करने चाहिएँ। जब तक हमें इसके लिए दूसरो की मेहनत पर निर्भर रहना पड़ता है, जब तक इस स्वच्छता की भी कोई हद न होगी। इसके सिवा इससे कोई लाभ भी नहीं है कि यह हमे दूसरे लोगों से जुदा कर दे।

इतना ही नही, मैंने जब इस बात पर गहरा विचार किया तो, मैं इस परिणाम पर पहुँचा कि हम जिसे शिक्षा कहते हैं वह भी एक ऐसी ही चीज़ है। भाषा धोखा नहीं दे सकती, वह हरएक चीज़ को ठीक नाम से पुकारती है। फ़ैशनेबिल पोशाक, चटपटी बातचीत, उजले हाथ और स्वच्छता की कुछ मात्रा—बस, इसी को साधारण लोग शिक्षा कहते हैं। दूसरों से मुकाबिला करते हुए जब वे उसकी विशेषता दिखाना चाहते है, तो कहते हैं कि वह शिक्षित मनुष्य है। उच्च श्रेणी के लोगो में भी शिक्षा का यही अर्थ समझा जाता है। किन्तु उनमे ये बातें और जोड दी जाती हैं—पियानो बजाना, फ्रान्सीसी भाषा का ज्ञान, रूसी भाषा का शुद्ध लेख और स्वच्छता की कुछ अधिक मात्रा। इससे भी ऊँची श्रेणी मे शिक्षा के अन्दर ये सब बातें होती ही हैं और इनके अलावा अँग्रेज़ी शिक्षा-सम्बन्धी किसी ऊँची संस्था का सर्टीफिकेट और स्वच्छता की और भी अधिक मात्रा, इन सब बातो का भी समावेश समझा जाता है। वस्तुतः तीनो ही श्रेणियो मे शिक्षा का स्वरूप एक-सा है।

शिक्षा से मतलब है वह आचार और तरह-तरह का ज्ञान, जो मनुष्य को दूसरे मानव-बन्धुओं से अलग करता है। इसका भी वही उद्देश्य है कि जो स्वच्छता का है। अर्थात् हमे सर्व-साधारण लोगो से पृथक् करना, जिससे भूखों मरते और शीत से ठिठुरते हुए लोग देख न सकें कि हम किस प्रकार मौज उडाते हैं। किन्तु हमारी ये बातें छिपी नहीं रह सकती, भेद खुल ही जाता है।

इस प्रकार मैं यह समझ गया कि हम अमीर लोग ग़रीबों की मदद

इसलिए नहीं कर सकते कि हमारा उनके साथ गहरा ताल्लुक़ स्थापित होना मुमकिन नहीं है, और यह बाधा हम स्वयं अपने धन तथा समस्त जीवन-चर्या के द्वारा खड़ी करते हैं। मुझे विश्वास हो गया कि हम अमीरों और ग़रीबों के बीच मे हमारे ही द्वारा उठाई हुई शिक्षा और स्वच्छता की एक दीवार खड़ी हुई है और उसका जन्म हमारे धन के द्वारा हुआ है। ग़रीबों को सहायता पहुँचाने के योग्य होने के लिए हमे सबसे पहले इस दीवार को ही तोड़ना पड़ेगा और ऐसी परिस्थिति पैदा करनी होंगी कि जिससे सुटेफ़ के बताये हुए प्रस्तावो को अमली जामा पहनाया जा सके। अर्थात् ग़रीबों को हम अपने-अपने घरों में लेलें। जनता की दरिद्रता के सम्बन्ध में अपनी विचार-सरणि के द्वारा मैं जिस निष्कर्ष पर पहुँचा, एक दूसरे दृष्टिकोण से भी मै उसी परिणाम पर आया—अर्थात् दरिद्रता का कारण हमारी सम्पत्ति है।

: १५ :

फिर तीसरी बार और अबकी बिलकुल अपने ख़याल से मैंने इस विषय पर विचार करना शुरू किया। मेरी उस परोपकारी-प्रवृत्ति के समय एक विचित्र बात ने मेरे दिल पर बडा असर किया, किन्तु बहुत दिनों तक मैं उसका मतलब नहीं समझ सका। घर पर या बाहर जब कभी मैंने किसी ग़रीब आदमी को उससे बातचीत किये बिना ही दो-चार पैसे दिये तो मुझे ऐसा मालूम पडा, कि उसके मुख पर प्रसन्नता और कृतज्ञता के भाव झलक रहे हैं और इस प्रकार के दान से खुद मुझे भी एक प्रकार का आनन्द होता था। किन्तु जब कभी मैंने उसके साथ बातचीत का सिलसिला शुरू किया, और उसके भूत तथा वर्तमान जीवन के सम्बन्ध मे थोडा-बहुत जानने की चेष्टा की, तो मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि इसको दो-चार या दस-बीस पैसे देकर चलता करना असम्भव है; तब मैं थैली मे हाथ डालकर और यह न समझकर कि कितना देना ठीक होगा, सदा ही अधिक दिया करता था। किन्तु फिर भी मैं देखता कि वह ग़रीब नाराज़ होकर मेरे पास से गया है। यदि मैं अधिक अपनेपन से उससे बातें करने लग जाता तो कितना दान दूँ, इस विषय मे मेरा सन्देह और भी बढ़ जाता; और फिर ऐसी हालत मे मैं चाहे कितना ही क्यो न दूँ, उपकृत व्यक्ति और भी अधिक निराश और असन्तुष्ट दिखाई पडता था। यह एक साधारण नियम-सा था कि जब कभी मैंने किसी ग़रीब आदमी से अच्छी तरह बातचीत करके उसे तीन रुपये या इससे भी कुछ अधिक दिया, तो मैंने सदा ही उसके चेहरे पर

निराश; असन्तोष और कभी-कभी क्रोध के भाव देखे; और कुछ अवसरों पर तो मुझसे १० रुपये पाने के बाद भी मुझे धन्यवाद दिये बिना ही वह इस प्रकार मेरे पास से उठकर गया कि जैसे मैंने उसका अपमान किया हो !

ऐसे अवसरो पर मुझे सदा ही लज्जा और दुःख का अनुभव होता और ऐसा मालूम होता, जैसे मैंने पाप किया हो। जब मैंने किसी ग़रीब आदमी की कुछ हफ्तों, महीनो या वर्षों तक देखभाल की, बातें कीं, अपने विचार उसके सामने प्रकट किये, और इस प्रकार कुछ घनिष्टता हो गई, तो कुछ दिनों मे हमारा सम्बन्ध बड़ा दुःखदायी-सा होजाता और मै देखता कि वह आदमी मुझसे घृणा करने लगा है और मुझे भी ऐसा लगता कि उसका घृणा करना ठीक है। सडक पर जाते हुए कोई भिखारी मुझसे एक पैसा मॉगे और मै उसे दे दूँ, तो उसकी दृष्टि में भी उन दयालु, नेक मनुष्यो मे आ जाता हूँ, जो अन्य मनुष्यों की तरह एक-एक धागा देकर उसके लिए कुर्ता बनवा देते हैं। उस समय वह मुझसे अधिक की आशा नहीं रखता, सिर्फ़ एक धागा मॉगता है—और वह जब मैं उसे देता हूँ, तो वह हृदय से आशीस देता है। किन्तु यदि मैं उसके पास ठहर कर मनुष्य के नाते भाई समझकर उससे बाते करूँ और उसे यह मालूम हो कि मैं योंही रस्ते चलनेवाला साधारण दाता नहीं हूँ, और यदि जैसा कि अक्सर होता है अपने दुख की कहानी वर्णन करते हुए वह रो उठे, तब वह मुझे इत्तफ़ाकिया दान देने वाला आदमी नही समझता बल्कि जैसा कि मैं चाहता [illegible] ह मुझे एक दयालु सद्-गृहस्थ समझता है; और जब मैं दयालु हूँ [illegible]री दयालुता २० पैसे या दस रुपये या दस-हज़ार रुपये देकर भी ख़[illegible] ही हो सकती। दयालुता की कोई सीमा नहीं।

कल्पना कीजिये कि मैं उसे बहुत-सा धन दे देता हूँ, उसके लिए स्थान और वस्त्र का प्रबन्ध कर देता हूँ; और उसे इस योग्य बना देता हूँ कि वह आप अपने पैरों खड़ा हो सके – बिना किसी की सहायता के

खुद अपनी रोज़ी कमा सके। किन्तु किसी न किसी कारण से, दैवी आपत्ति से अथवा अपनी दुर्बलता के कारण मैने उसे जो कुछ दिया, वह सब गॅवा बैठता है। न उसके पास रुपया रहता है, और न पहनने को कपड़ा। वह भूखों मरता तथा शीत से ठिठुरता है, और ऐसी हालत मे वह फिर मेरे पास आता है; तो मैं सहायता देने से इनकार कैसे करूँ! हॉ, यदि मेरी दयालुता का उद्देश्य यह होता कि मैं उसे कुछ रुपये दे दूँ और एक कोट बना दूँ तो इतना कर चुकने के बाद मैं निश्चित हो कर बैठ सकता हूँ। किन्तु मेरे कार्य का लक्ष्य तो यह न था। मेरी इच्छा तो यह थी कि मैं दयालु पुरुष बनूँ, अर्थात् सब अपने आपको अनुभव करूँ। दयालुता का अर्थ सभी ऐसा ही समझते है, और कुछ नही।

इसलिए ऐसा आदमी यदि शराब पीने मे सब कुछ उड़ादे, तुम उसे बीस बार दो और बीसों बार वह सब स्वाहा कर डाले और फिर भूखा का भूखा और नंगा का नंगा रह जाय तो यदि तुम दयालु पुरुष हो तो उसे फिर रुपया दिये बिना नही रह सकते—और तुम अपना हाथ उस समय तक नही खीच सकते, जबतक कि तुम्हारे पास उससे अधिक सामग्री है। किन्तु यदि तुम हाथ खीच लेते हो, तो तुम यह सिद्ध करते हो कि अभी तक तुमने दयालु होने के कारण सहायता नही दी बल्कि इसलिए दी कि दूसरे लोग तथा वह आदमी तुम्हे दयालु समझे। और चूँकि ऐसे अवसरो पर मै हाथ खीच लेता था, सहायता देना बन्द कर देता था, और इस प्रकार अपने करे-धरे पर पानी फेर देता था, इसीलिए मेरे हृदय मे पीड़ाजनक लज्जा की भावना पैदा हो जाती थी।

पर यह भावना थी क्या ? ल्यापिन-गृह तथा गॉव मे, जब ग़रीबों को रुपया या कोई दूसरी चीज़ मैं देता था, तब मैं इस अनुभूति का अनुभव करता था। शहर के ग़रीबों को देखने के लिए मैं जब जाता था, तब भी मुझे इस का अनुभव होता था। हाल ही में एक घटना हुई, जिसने इस लज्जा की भावना को ज़ोरो के साथ मेरे सामने ला रक्खा।

यह घटना गॉव मे हुई। एक यात्री को देने के लिए मुझे २० कोपकों

(रूसी सिक्क) की ज़रूरत थी। किसीसे माँग लाने के लिए मैंने अपने पुत्र को भेजा। वह रसोइये से उधार ले आया। कुछ दिनों बाद दूसरे यात्री आये। मुझे फिर २० कोपक की ज़रूरत हुई। मेरे पास एक रूबल था। मुझे याद आया कि रसोइये को २० कोपक देना है। यह सोचकर कि उसके पास और कोपक होंगे, मैं भोजन-गृह मे गया और उससे कहा-

"मुझे २० कोपक तुमको देने है। पहले यह लो एक रूबल।"

मैंने बोलना समाप्त भी न किया कि रसोइये ने अपनी स्त्री को पास के कमरे से बुलाकर कहा—पार्शा यह रूबल ले लो।

यह सोचकर कि मेरा मतलब यह समझ गई है, मैंने उसे रूबल दे दिया। यहाँ यह कह देना जरूरी है कि रसोइये को हमारे यहाँ रहते हुए एक हफ्ता हो गया था, मैंने उसकी स्त्री को देखा था, पर उससे कभी बात नही की थी। बाकी वापस देने के लिए मैं उससे कहना ही चाहता था कि वह यह समझकर कि मै यह रूबल उसे इनाम दे रहा हूँ, कृतज्ञता प्रकाश करने के लिए वह मेरे हाथ को चूमने को झुकी। मैं कुछ गडबडा कर रसोई-गृह से निकल भागा। मुझे बडी ही लज्जा मालूम हुई। ऐसी लज्जा मैंने बहुत दिनों से अनुभव नही की थी। मेरा शरीर उस समय कॉप रहा था और मुँह सूख गया था। मानों लज्जा से कराहते हुए मैं वहाँ से भाग आया।

इस घटना से मुझे बडा आश्चर्य हुआ। मैंने अपनी स्त्री तथा अपने मित्रों से इसका ज़िक्र किया, और सभी ने कहा कि यदि यह घटना उनके साथ होती तो उनका भी ऐसा ही हाल होता। मैं सोचने लगा—आख़िर ऐसा हुआ क्यों?

इसका उत्तर मास्को की एक घटना से मिला, जो कुछ दिन पहले मास्को में मेरे सामने हुई थी। मैंने इसके ऊपर विचार किया और रसोइये की स्त्री वाली बात पर जो लज्जा मुझे प्रतीत हुई उसका अर्थ मैं समझा। मैं समझा कि मास्को में परोपकार का कार्य करते हुए अथवा जब कभी मैं फ़कीरों तथा यात्रियो को उस साधारण दान से कुछ अधिक

देता हूँ कि जिसके देने की मुझे आदत है और जिसे मैं दान नहीं कहता, केवल सभ्यता और कुलीनता समझता हूँ, लज्जा की लहरें मेरे हृदय में दौड़ जाती है। कोई आदमी दिया जलाने के लिए दीयासलाई माँगे और दियासलाई तुम्हारे पास हो, तो तुम्हें अवश्य ही देनी चाहिए। यदि कोई आदमी २० या २५ कोपक या कुछ रुपये माँगता है और यदि तुम्हारे पास हैं, तो तुन्हे देना ही चाहिये। यह दान-पुण्य नहीं है। यह तो सभ्यता की बात शराफ़त का तक़ाज़ा है।

वह घटना यह थी। एक दिन, शनिवार की सायंकाल के झुटपुटे मे मैं दो किसानों के साथ शहर वापस आ रहा था। एक पुल पार करने के बाद हमें एक बूढा भिखारी मिला। मैंने उसे २० कोपक दिये। मैंने ये कोपक यह सोचकर दिये थे कि साइमन पर, जिसके साथ मैं धार्मिक प्रश्नों पर बातें कर रहा था, इसका कितना अच्छा असर पडेगा।

साइमन बाल्डमीर का रहनेवाला किसान था। उसके एक स्त्री और दो बच्चे मास्को में रहते थे। वह भी ठहरा और अँगरखे का बन्द खोल कर ज़ेब मे से अपनी थैली उसने निकाली और उसपर नज़र डालने के बाद तीन कोपक का एक सिक्का बाहर निकालकर उसे बुड्ढे को दिया और दो कोपक वापस माँगने लगा। उस बुड्ढे आदमी ने अपना हाथ पसार दिया, जिसमें दो-तीन कोपक के सिक्के थे और अकेला एक कोपक। साइमन ने उनकी ओर देखा और उनमें से एक कोपक उठाना चाहा, किन्तु फिर विचार बदलकर अपनी टोपी उतारकर बुड्ढे को सलाम किया और फिर प्रार्थना के रूप में हाथ से क्रास का चिन्ह बनाकर दो कोपक बूढे से लिये बिना ही वह चल दिया। साइमन की आर्थिक अवस्था से मैं खूब परिचित था। उसके पास न तो घर था और न कोई दूसरी जायदाद। जब उसने बुड्ढे को तीन कोपक दिये थे तब उसके पास पाँच रुबल और पचास कोपक थे और यही उसकी सारी पूँजी थी।

मेरी सम्पत्ति लगभग साठ लाख रुबल के होगी। मेरे एक स्त्री और दो बच्चे थे, सो साइमन के भी थे। वह मुझसे छोटा था। इसलिये

उसके बच्चे सख्या मे मुझसे कम थे, किन्तु उसके बच्चे छोटे थे और मेरे बच्चो से दो काफ़ी बडे थे, काम करने लायक़ थे, और इस प्रकार सम्पत्ति के प्रश्न को छोड देने पर हमारी परिस्थितियाँ एक-सी थी, हालाँकि इस तरह भी मैं उससे अच्छा था। उसने तीन कोपक दिये और मैने बीस। अब देखिए कि हम दोनों के दान में क्या अन्तर था। जितना दान उसने किया था उतना दान करने के लिए मुझे कितना देना चाहिए था? उसके पास ६०० कोपक थे, इनमे से उसने एक कोपक दिया और फिर दो, और मेरे पास ६०,००,०० रुबल थे। साइमन के बराबर दान करने के लिए मुझे तीन हज़ार रुबल देने चाहिएँ थे, और उस आदमी से दो हज़ार रुबल वापस देने के लिए कहना था। यदि उसके पास फुटकर न होता तो यह दो हज़ार भी उसके पास छोड़कर क्रास बनाकर शान्तिपूर्वक बिना दिल मे कोई विचार लाये वहाँ से चल देता।

इस विषय पर उस समय मैंने ग़ौर किया, किन्तु इस घटना से जो ज़रूरी परिणाम निकलता है, वह बहुत देर बाद मेरी समझ मे आया। यह परिणाम गणित की तरह बिलकुल शुद्ध होते हुए भी इतना असाधारण और विचित्र है कि उसको समझने में समय लगता है। आदमी के हृदय में यह भावना उठती है कि शायद इसमे कहीं कुछ ग़लती है, पर वास्तव मे उसमे ग़लती है नहीं। ग़लती का ख़याल हमे इसलिए आता है, कि हम लोग भ्रम के भयंकर अन्धकार मे रहते हैं।

जब मै उस परिणाम पर पहुँचा तब उस लज्जा का कारण मेरी समझ मे आया जो रसोइये की स्त्री के सामने तथा दूसरे ग़रीबों को दान देते समय मुझे मालूम हुआ करती थी और अब भी होती है—जब कभी मै उस प्रकार का दान देता हूँ। वास्तव में यह रुपया है क्या जो मैं ग़रीबो को देता हूँ और जिसे रसोइये की स्त्री ने समझा था कि मै उसे दे रहा हूँ? मैं जो दान देता हूँ, वह प्रायः मेरी जायदाद का इतना छोटा हिस्सा होता है कि साइमन तथा रसोइये की स्त्री नहीं समझ सकती कि वह मेरी सम्पत्ति का कितना अंश है—बहुधा लाखवाँ हिस्सा

होता होगा। मैं जो देता हूँ वह इतना थोड़ा होता है कि मेरा दान, दान या त्याग नहीं कहला सकता। यह तो गोया एक प्रकार का दिल-बहलाव है, और सच पूछिए तो रसोइये की स्त्री ने ऐसा ही समझा भी था। यदि राह-चलते किसी अजनबी को मैं एक रूबल या २० कोपक दे देता हूँ तो उसे भी एक रूबल क्यों नहीं दे सकता ? उसके लिए रुपये का यह वितरण ऐसा ही है, जैसे कोई सद्गृहस्थ लोगों में रेवड़ियाँ बँटवावे। यह तो उन लोगों का मनोरंजन है कि जिनके पास बहुत-सा मुफ़्त का पैसा है। रसोइये की स्त्री की भूल ने मुझे यह बात स्पष्ट रूप से बतला दी कि उसका तथा और ग़रीब लोगों का मेरे विषय मे कैसा ख़याल है—यही कि मै मुफ़्त का पैसा लोगो मे बाँटता फिरता हूँ, अर्थात् वह पैसा जो मैने मेहनत करके नही कमाया है। इसलिए उस दिन मुझे लज्जा मालूम हुई थी।

वास्तव मे यह रुपया है क्या और मुझे कैसे मिला ? उसका एक हिस्सा तो मैने लगान के रूप में जमा किया जिसे अदा करने के लिए बेचारे किसानो को अपनी गायें या भेड़ें बेचनी पड़ीं। मेरे धन का दूसरा हिस्सा मेरी लिखी हुई पुस्तको के द्वारा मुझे मिला। यदि मेरी पुस्तकें हानिकारक हैं और फिर भी बिक जाती हैं तो इसका कारण यही हो सकता है कि उनके अन्दर कोई दूषित प्रलोभन है; और इसलिए उन पुस्तकों से जो रुपया मुझे मिलता है वह बुरे रूप से पैदा किया हुआ है। किन्तु यदि मेरी पुस्तकें लाभकारी है तब तो और भी बुरी बात है। मै अपनी पुस्तकें लिखकर वह ज्ञान लोगो को दान तो कर नहीं देता, बल्कि कहता हूँ—मुझे इतने रुपये दो तो मैं इसे तुम्हारे हाथ बेचदूंगा।

लगान के लिए, जैसे किसान को अपनी भेड-बकरी बेचनी पडती है, किताब के लिए ग़रीब विद्यार्थी तथा शिक्षक को भी वैसा ही करना पड़ता है। प्रत्येक ग़रीब आदमी को, जो किताब ख़रीदता है, मुझे रुपया देने के लिए कोई न कोई आवश्यक चीज़ छोड़ देनी पड़ती है। अब, जबकि मैंने इतना रुपया कमा लिया है, तो मैं इसका क्या करूँ ? मैं उसे शहर

में ले जाता हूँ और ग़रीब आदमियों को देता हूँ। लेकिन तभी, जब वे मेरी इच्छाओ की पूर्ति करते है। इन रुपयो के द्वारा जो मैं उन्हे देता हूँ—मुझे उनसे जो-कुछ मिलता है सब ले लेता हूँ। मेरी कोशिश रहती है कि मैं उन्हे दूँ तो कम से-कम, किन्तु ले लूँ वह सब, जितना कि लिया जा सकता हो।

ऐसा करने के बाद अब अचानक ही मै यह रुपया मुफ्त मे ही ग़रीबो को देना शुरू करता हूँ, किन्तु, मै सबको नही जिसकी इच्छा होती है उसी को देता हूँ। तब फिर क्यो न प्रत्येक ग़रीब आदमी यह आशा करे कि सम्भव है आज मेरी भी बारी आ जाय और मेरी भी उन लोगो मे गिनती हो कि जिनमे अपना 'मुफ्त का रुपया' बॉटकर मै अपना दिल बहलाता हूँ ?

बस, हरएक आदमी मुझे ऐसा ही समझता है कि जैसा रसोइये की स्त्री ने समझा था। किन्तु मैं तो यह समझ रहा था कि मैं जो एक हाथ से हज़ारो रुपये छीनकर दूसरे हाथ से अपनी पसन्द के लोगो के आगे कुछ कोपक फेकता रहता हूँ यह दान है—पुण्य है। तब इसमें क्या आश्चर्य कि मुझे लज्जा मालूम हुई ? किन्तु पेश्तर इसके कि मै परोपकार करने के योग्य बनूँ मुझे इस बुराई को छोड देना होगा।

थोडा-सा भी उपकार कर सकने के योग्य मैं तभी होऊँगा, जबकि मैं अपने पास कुछ भी न रक्खूँगा। उदाहरण के लिए उस ग़रीब वेश्या को लीजिए कि जिसने तीन दिन तक एक बीमार स्त्री और उसके बच्चे की सेवा की थी। किन्तु उस समय उसका वह काम मुझे कितना छोटा मालूम पड़ा ? और मै परोपकार की योजनाये गढ़ रहा था। उस समय की बस एक बात सत्य निकली; जिसका अनुभव पहले-पहल ल्यापिन-गृह के बाहर भूखे और शीत से ठिठुरते हुए लोगो को देखकर मुझे हुआ था—अर्थात् मैं ही इस पाप का भागी हूँ, और जिस प्रकार का जीवन मैं व्यतीत कर रहा हूँ वह असम्भव, बिलकुल असम्भव है। तब फिर हम क्या करें ? अब ईश्वर की आज्ञा से विस्तारपूर्वक मै उसका उत्तर दूँगा।

: १६ :

पहले तो इस बात को स्वीकार करना मुझे बड़ा कठिन मालूम हो रहा था, किन्तु जब इस सत्य का मुझे विश्वास होगया तब यह सोचकर मैं भयभीत हो उठा कि अभी तक मै कैसे भयंकर भ्रम मे पड़ा हुआ था। मैं खुद सिर से लेकर पॉव तक दलदल मे फँसा हुआ था, किन्तु फिर भी मैं दूसरो को दलदल से निकालने की चेष्टा कर रहा था! वास्तव मे मैं चाहता क्या हूँ? मैं परोपकार करना चाहता हूँ। मैं ऐसा उपाय ढूँढ निकालना चाहता हूँ कि कोई मनुष्य भूखा-नंगा न रहे, सब मनुष्य की तरह अपना जीवन व्यतीत कर सकें।

मै चाहता तो यह हूँ, देखता हूँ कि जुल्म और जबरदस्ती तथा तरह-तरह की तरकीबों द्वारा, जिनमें मैं भी भाग लेता हूँ, ग़रीब मज़दूरो से अत्यन्त आवश्यकता की चीजे भी छीन ली जा रही हैं, और श्रम न करने वाले अमीर लोग, जिनमे मेरी भी गणना है, दूसरो की मेहनत पर मौज उड़ाते हैं।

मैं देखता हूँ कि दूसरे लोगों की मेहनत पर मौज उड़ाने का ऐसा प्रबन्ध किया गया है कि जो मनुष्य जितना अधिक चालाक है, और उसके द्वारा अथवा उसके पूर्वजों के द्वारा कि जिनसे विरासत से उसे जायदाद मिली है, जितने ही अधिक छल-प्रपंच रचे जायँ, उतना ही अधिक वह दूसरों के श्रम से लाभ उठा सकता है और उसी परिमाण में वह खुद मेहनत करने से बच जाता है।

अमीर-उमरा-धनी-सराफ, व्यापारी, बड़े-बड़े ज़मींदार, सरकारी अफसर पहले वर्ग में हैं। उनके बाद कुछ कम धनवाले बैंकर, व्यापारी और मेरे जैसे ज़मींदारों का नम्बर आता है। इनके बाद छोटे-छोटे दूकानदार, होटलवालों, सूदखोरों, पुलिस-सारजण्टों, इन्सपेक्टरों, शिक्षकों, पुरोहितों और लेखकों का नम्बर है। फिर दरबान, साईस, कोचमैन, भिश्ती, गाड़ी-हाँकनेवाला तथा फेरी लगानेवाले बिसाती हैं; और तब कहीं सबसे अन्त में जाकर बारी आती है—मज़दूरों, कारखाने के काम करनेवालों और किसानों की, हालाँकि इस वर्ग की संख्या अन्य वर्गों की अपेक्षा दस-गुनी अधिक है।

नव्वे फीसदी श्रमजीवियों का जीवन ही ऐसा है कि जिसमें खूब मेहनत और मजदूरी करनी पडती है। कोई भी स्वाभाविक जीवन ऐसा ही होता है—यह सच है। पर जिन तरकीबों से इन लोगों के पास से जीवन की खास जरूरतों की सामग्री छीन ली जाती है, उनके कारण इन बेचारों का जीवन प्रतिवर्ष अधिक कठिन और कष्टमय बनता जा रहा है। इसके साथ ही हम आलसी लोगों का जीवन कला और विज्ञान के सहयोग से प्रतिवर्ष अधिक आनन्दमय, आकर्षक और निश्चिन्त होता जा रहा है।

धनी लोगों के जीवन की निश्चिन्तता तो अब उस अवस्था को पहुँच गई है कि जिसका स्वप्न पुराने ज़माने में लोग देव और परियों की कहानियों में देखा करते थे। उन्हें ऐसी जादू की थैली मिल गई दीखती है कि जिसमें धन कभी घटता ही नहीं। जीवन-रक्षा के निमित्त प्रत्येक मनुष्य के लिए श्रम करने का जो स्वाभाविक नियम है, उससे वे एकदम मुक्त ही नहीं हो गये, बल्कि बिना श्रम किये जीवन के समस्त सुखों का उपयोग करने में वे समर्थ हो गये हैं और अन्त में अपने बच्चों को अथवा जिस किसी को भी चाहें वे 'अक्षय-निधि' वाली यह जादू की थैली विरासत में भी दे जा सकते हैं।

मैं और मेरे-जैसे धनी लोग इस अक्षय-निधि को प्राप्त करने के लिए

तरह-तरह की तरक़ीबें करते हैं, और उसका उपभोग करने के लिए हम लोग शहरों में आ बसते हैं, जहाँ पैदा कुछ नहीं होता किन्तु सफ़ाया सब चीज़ों का अवश्य हो जाता है। अमीर लोगो को यह जादू की थैली मिल सके, इसके लिए गाँव का ग़रीब आदमी लूटा जाता है और वह ग़रीब निरुपाय होकर उनके पीछे दौड़ा हुआ शहर को आता है, और वह भी वैसी ही चालाकियों से काम लेता है, और ऐसा प्रबन्ध करता है, जिससे वह काम थोड़ा करता है और मज़े खूब उडाता है। (और इस प्रकार अन्य काम करनेवालों पर काम का और भी अधिक बोझ आ पडता है) या इस स्थिति को प्राप्त करने से पहले ही बरबाद होकर क्षेत्रो में रहनेवाले नंगे और भूखे लोगो की लगातार तेज़ी से बढ़नेवाली संख्या मे और एक आदमी की वृद्धि करता है।

मै उन लोगो में से हूँ, जो तरह-तरह की तरकीबो से मेहनत करने वालो की जीवनोपयोगी चीज़ें छीन लेते हैं और इस प्रकार अपने लिए जादू की अक्षय-निधि तैयार करते है। आज भी मैं लोगो का शोषण कर रहा हूँ। मैने अपनी स्थिति ऐसी बना ली है कि किसी प्रकार का श्रम किये बिना ही मैं सैकडो-हजारो मनुष्यों को अपना काम करने के लिए मजबूर कर सकता हूँ, और सच पूछिए तो अपने इस विचित्र अधिकार का मैं उपभोग भी कर रहा हूँ; किन्तु फिर भी मै सदा यह समझता हूँ कि मैं इन दीन-लोगो पर दया कर रहा हूँ और उन्हें सहायता पहुँचाने के लिए उत्सुक हूँ।

मै एक आदमी की पीठ पर सवार हो गया हूँ और उसे असहाय तथा निर्बल बनाकर मजबूर करता हूँ, कि वह मुझे आगे ले चले। मैं उसके कन्धों पर बराबर सवार हूँ, फिर भी मै अपने को तथा दूसरो को यह विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि इस आदमी की दुर्दशा से मैं बहुत दुःखी हूँ और उसका दुःख दूर करने में उसकी पीठ पर से उतरने के सिवाय मैं और कुछ उठा न रखूँगा।

बात बिलकुल साफ़ है। यदि मैं ग़रीबों की मदद करना चाहता हूँ,

अर्थात् उनकी ग़रीबी ख़तम करना चाहता हूँ, तो मुझे लोगो को ग़रीब न बनाना चाहिए। फिर भी मैं बिगड़े हुए लोगो को बिना विचारे रुपया दे देता हूँ और जो लोग अभी बिगडे नही है, उनसे बीसो रुपया छीन लेता हूँ – इस प्रकार मैं लोगो को ग़रीब तो बनाता ही हूँ, साथ-ही-साथ उन्हे भ्रष्ट भी करता हूँ।

लोगों की सहायता की इच्छा रखनेवाला मैं हूँ कौन ? मैं दूसरों को सुधारना चाहता हूँ, फिर भी रात-भर रोशनी से जगमगाते हुए कमरे मे ताश खेलता हूँ, और फिर दोपहर तक पडा सोता रहता हूँ। मै, एक दुर्बल, पौरुषहीन मनुष्य—जिसको खुद अपनी सेवा के लिए सैकडो आदमियो की सहायता की ज़रूरत होती है—वही मैं, दूसरो को सहायता देने निकलता हूँ, और सहायता भी उन लोगों को, जो सवेरे पॉच बजे उठते है, ज़मीन पर सोते है, रूखी-सूखी रोटियाँ खाकर रह जाते है और जो जोतना, बोना, लकड़ी काटना, कुल्हाडी मे डडा डालना, घोडो को जोतना और कपडा सीना आदि कार्य करना जानते है और जो शक्ति मे, दृढ़ता मे, कार्य-कुशलता और आत्म-संयम मे मुझसे सैकडो दर्जे बढ़-चढ़कर है। ऐसे लोगो को सुधारने का भार लिया था मैंने !

ऐसे लोगो के संसर्ग मे आकर मैं लज्जित न होता तो और क्या होता ? उनमे सबसे अधिक दुर्बल एक शराबी है, जो ज़िनोफ-गृह मे रहता है और जिसे सब लोग 'आलसी' कहते है। वह भी तो मेरी अपेक्षा कहीं अधिक मेहनती है। मै लोगो से कितना लेता हूँ और बदले मे कितना देता हूँ और वह दूसरो से कितना लेकर उन्हें कितना देता है, इस बात की यदि तुलना की जाय तो वह मुझसे हजारो दर्जे अच्छा निकलेगा।

ऐसा होने पर भी मैं ग़रीबो का सुधार करने का दम भरता हूँ। मगर हम दोनो मे अधिक दीन कौन है ? मुझसे अधिक दीन और कोई न होगा। मै एक अशक्त, परोपजीवी और बिलकुल निकम्मा जीव हूँ, और ख़ास-ख़ास हालतो मे ही जीवित रह सकता हूँ। जब हज़ारो

आदमी मेहनत करें तभी मेरा यह निरुपयोगी जीवन टिक सकता है। वृक्ष के पत्तों को खा डालने वाला मै एक कीडा हूँ। फिर भी मैं चाहता हूँ कि मेरे हाथो उस वृक्ष का रोग दूर हो और वह खूब फूले-फले !

मै अपना जीवन किस प्रकार व्यतीत करता हूँ ? मैं खाता हूँ, बाते करता हूँ, बाते सुनता हूँ। मैं फिर खाता हूँ, लिखता हूँ या पढ़ता हूँ, जो बातें करने तथा सुनने का ही दूसरा तरीका है। मैं फिर भोजन करने बैठता हूँ और खेलता हूँ । फिर खता हूँ, बाते करता हूँ, सुनता हूँ और अन्त मे खाकर सो जाता हूँ । इसी प्रकार मेरे सारे दिन बीतते हैं। मैं और न तो कुछ करता ही हुँ और न करना जानता हूँ । मैं इस प्रकार का जीवन व्यतीत कर सकूँ, इसके लिए दरबान, चौकीदारो, किसानो सईसो, कौचमैनो, भोजन बनाने वाले स्त्री-पुरुषो और धोबी-धोबिनो को सुबह से लेकर रात तक काम करना पडता है। और इनको काम के लिए जिन औजारो की ज़रूरत होती है उन्हे बनाने यथा कुल्हाड़ी, पीपे ब्रश, तश्तरियाँ, लकडी तथा काँच का सामान, जूतो की पालिश, मिट्टी का तेल, घास लकडी और भोजन आदि सामान तैयार करने मे जो मेहनत होती है उसका हिसाब ही अलहदा है। इन सब स्त्री-पुरुषो को रात-दिन कडी मेहनत इसलिए करनी पड़ती है कि मैं मज़े से खाऊँ, बातें करूँ और सोऊँ ! और मैं एक बडा निकम्मा आदमी, यह सोच रहा था कि जो लोग मेरी सेवा कर रहे है मैं उनका उपकार कर रहा हुँ ! मै किसी का कोई भला नही कर सका और मुझे लज्जित होना पड़ा, इसमें कोई आश्चर्य की बात नही। आश्चर्य तो यह है कि ऐसी मूर्ख धारणा मेरे मन मे बँध कैसे गई कि मैं दूसरे लोगो का उपकार कर रहा हूँ और कर भी सकता हूँ ।

उस अपरिचित बूढ़े और बीमार आदमी की सेवा करती हुई वह स्त्री वास्तव में वृद्ध रोगी की सहायता कर रही थी। किसान की स्त्री जो अपने हाथ से पैदा किये हुए नाज की रोटी मे से एक टुकडा काटकर भूखे को देती है, सच्ची सहायक है। और साइमन ने अपनी मेहनत से कमाये हुए

तीन कोपक जो यात्री को दिये थे, वह उसका सच्चा दान था, क्योंकि इन कामो के अन्दर पवित्र परिश्रम और त्याग की स्वर्गीय भावना है किन्तु मैंने न तो किसी की सेवा की और न किसी के लिए कोई काम किया। और मैं जानता हूँ कि जो रुपया मेरे पास है और जिसमें से कुछ मै दूसरों को दे दिया करता हूँ, वह मेरे परिश्रम को नहीं बताता।

मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि रुपये मे अथवा रुपये के मूल्य मे और उसके इकट्ठा करने मे ही कोई दोष है, कोई बुराई है, और मैंने समझा कि मैंने जो बुराइयाँ देखी है उनका मूल कारण यह रुपया ही है और मैं उसी रुपये का मालिक हूँ। तब मेरे मन मे प्रश्न उठा—यह रुपया है क्या ?

: १७ :

रुपया ! यह रुपया क्या है ?

कहा जाता है, रुपया मेहनत का इनाम है। मैं ऐसे शिक्षित लोगों से मिला हूँ, जो ज़ोर देकर कहते हैं कि रुपया जिन लोगों के पास है वह उनके किये हुए परिश्रम का प्रतिकूल है। मै स्वीकार करता हूँ कि पहले भी ऐसी ही धारणा थी, भले ही वह बहुत स्पष्ट न थी। किन्तु अब मुझे यह जानना था कि दरअसल यह रुपया क्या चीज़ है, और ऐसा करने के लिए मैं अर्थ-शास्त्र की ओर झुका।

अर्थ-शास्त्र कहता है कि पैसे मे अन्याय या दोष की कोई बात नहीं है। सामाजिक-जीवन का वह एक कुदरती नतीजा और एक तो विनिमय की सुगमता के लिए, दूसरे चीज़ों का मूल्य निश्चित करनेवाले साधन के रूप मे, तीसरे संचय के लिए, और चौथे लेन-देन के लिए रुपया आवश्यक है।

यदि मेरी जेब में मेरी आवश्यकता से अधिक तीन रुबल पड़े हों, तो किसी भी सभ्य नगर मे जाकर ज़रा-सा इशारा करने भर की देर है कि ऐसे सैंकड़ों आदमी मुझे मिल जायेंगे कि जो तीन रुबलों के बदले में चाहूँ जैसा भद्दे से भद्दा, महाघृणित और अपमानजनक काम करने को तैयार हो जायेंगे। कहा जाता है कि इस विचित्र स्थिति का कारण रुपया नहीं है, समाज के आर्थिक जीवन की विषम अवस्था ही इसका कारण है। एक आदमी का दूसरे आदमी के ऊपर अधिकार-पैसे के कारण नहीं

होता, बल्कि इसका कारण यह है कि काम करने वाले को अपनी मेहनत का पूरा मुआवज़ा नहीं मिलता है। परिश्रम का पूरा प्रतिफल न मिलने का कारण पूँजी, सूद, किराया, मज़दूरी और धन की उत्पत्ति तथा खपत की बड़ी ही टेढ़ी और गूढ़ व्यवस्था है।

सीधी भाषा में यह कहा जा सकता है कि पैसा, बिना पैसे वालों को अपनी अंगुली पर नचा सकता है। किन्तु अर्थ-शास्त्र कहता है कि यह भ्रम है। प्रत्येक प्रकार की पैदावार मे तीन बातें काम मे आती हैं--ज़मीन, सचित श्रम अर्थात् पूँजी, और श्रम। थोडे आदमी बहुतो के ऊपर शासन करें, यह बात पैदावार के इन तीनों साधनों के विभिन्न सम्बन्धो से पैदा होती है। क्योंकि पहले दो साधन, ज़मीन और पूँजी, काम करने वाले मज़दूरो के हाथ मे नहीं है। इस स्थिति और इस स्थिति के कारण जो विभिन्न संयोग उपथित होते हैं, उनकी वजह से बहुत-से लोगों को कुछ ख़ास लोगों की ताबेदारी करनी पडती है।

ऐसा कहा जाता है कि वस्तु की उत्पत्ति में तीन साधन काम में आते है—ज़मीन, पूँजी और मज़दूरी। जो-कुछ पैदा होती है वह द्रव्यों के रूप में—उसका मूल्य इन्ही तीनों साधनों के मालिकों मे विभक्त हो जाता है। और वह होता है इस प्रकार—भाडा अर्थात् ज़मीन की कीमत ज़मीदार को, सूद पूँजीपति को, और मज़दूरी काम करने वाले को मिलती है।

किन्तु क्या यह बात सच है? पहले तो हमे यही देखना है कि क्या उत्पत्ति के सदा तीन ही ज़रिये होते हैं?

प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति के लिए सूर्य की गरमी ज़मीन के समान ही उपयोगी, बल्कि उससे भी ज्यादा जरूरी है। कल्पना कीजिये कि शहर मे किसी वर्ग के लोग दीवाल अथवा वृक्षों के द्वारा दूसरे लोगों को सूर्य के प्रकाश से वञ्चित रक्खें तो उनकी कैसी स्थिति होगी? फिर इसको उत्पत्ति के अंगो मे क्यो नहीं गिनते? पानी भी ज़मीन के ही समान महत्वपूर्ण साधन है। हवा का भी यही हाल है। एक वर्ग के लोग यदि हवा

श्रौर पानी पर पूरा कब्ज़ा लें, तो दूसरे वर्ग के लोगो की हवा-पानी के बिना कैसी हालत होगी, इसकी भी कल्पना की जा सकती है। सामाजिक व्यवस्था द्वारा संरक्षण भी एक स्वतंत्र श्रङ्ग है, मज़दूरों के लिए ख़ुराक और कपडा भी उत्पत्ति के महत्व-पूर्ण साधन है—श्रौर कुछ श्रर्थशास्त्रियों ने इस बात को स्वीकार भी किया है। शिक्षा अर्थात् बोलने श्रौर समझने की शक्ति, जिससे एक काम में से निकलकर दूसरे काम में पड़ने की समझ पैदा होती है, यह भी उत्पत्ति का साधन है।

इस प्रकार उत्पत्ति के साधनों की यदि मैं गणना करने बैठूँ तो एक पूरी पुस्तक भर जाय। तब फिर शास्त्रज्ञो ने ये तीन ही साधन क्यों पसन्द किये? श्रौर श्रर्थशास्त्र की नींव के रूप में इनको ही स्वीकार करने का क्या कारण हो सकता है? सूर्य के प्रकाश, जल, मज़दूरो की ख़ुराक श्रौर कपडे, ज्ञान श्रौर बोलने की शक्ति—ये सभी उत्पत्ति के स्वतन्त्र साधन माने जा सकते हैं। पर इन्हें न मानने का कारण यही है कि सूर्य की किरणों, वर्षा, भोजन, भाषा श्रौर बोलने की शक्ति के उपभोग करने का जो मनुष्या का श्रधिकार है, उसमे बहुत कम हस्तक्षेप करने का श्रवसर श्राता है श्रौर ज़मीन तथा श्रौज़ारों के लिए समाज में प्रायः झगडा होता रहता है।

इस वर्गीकरण का यही एक श्राधार है। उत्पत्ति के साधनों का केवल तीन विभागों में वर्गीकरण भी अनियमित श्रौर स्वेच्छा प्रेरित है श्रौर वस्तुस्थिति पर श्रवलम्बित नहीं है। लेकिन कहा जा सकता है कि यह वर्गीकरण इतना स्वाभाविक प्रतीत होता है कि जहाँ कहीं श्रार्थिक सम्बन्ध स्थापित होता है, वहाँ तुरन्त ही ये तीनो बातें सामने श्रा खडी होती हैं। हमें देखना चाहिए कि क्या यह बात वास्तव मे सच है?

हमारे बिलकुल पास रहने वाले रूसी उपनिवेशको को ही लीजिये। वे कई लाख हैं। वे किसी स्थान को जाते है, वहाँ बसते है, श्रौर काम करना प्रारम्भ कर देते हैं। उस समय यह बात उनके ख़याल में भी नहीं श्राती कि एक श्रादमी जिस ज़मीन का उपयोग नहीं करता वह उसका

मालिक बन सकता है और ज़मीन तो यह कहती ही नहीं कि मुझपर अमुक का अधिकार है। बल्कि औपनिवेशिक विवेकतः यह समझते हैं कि ज़मीन पर सारे समाज का समान अधिकार है और जो कोई जहाँ कहीं भी चाहे जोते और बोये।

खेती-बारी के लिए और मकान आदि बनाने के लिए औपनिवेशिक तरह-तरह के आवश्यक औज़ारों को इकट्ठा करते हैं, पर वे यह कभी नहीं सोचते कि ये औज़ार स्वतः ही मुनाफ़ा देनेवाले हो सकते हैं। ये औजार (अर्थात् पूँजी) कभी ये दावा नहीं करते कि हमारा भी कोई अधिकार है। इसके प्रतिकूल औपनिवेशिक तो विवेकपूर्वक ऐसा मानते हैं कि आपस में एक-दूसरे से औज़ार, अनाज अथवा जो रुपया (अर्थ-शास्त्र की भाषा में पूँजी) उधार लिया जाता है, उसके लिए सूद या लाभ लेना अनुचित है।

ये लोग स्वतन्त्र ज़मीन पर अपने निजी औज़ारों से अथवा बिना सूद माँगे हुए औज़ारों से काम करते हैं। ये लोग या तो अपना-अपना अलहदा काम करते है, या सब मिलकर सामान्य हित के लिए उद्योग प्रारम्भ करते हैं। ऐसे समाज में लगान या भाड़ा, सूद और मज़दूरी का अस्तित्व भी सिद्ध नहीं किया जा सकता। ऐसे समाज का उल्लेख करते समय मैं काल्पनिक बातें नही कहता बल्कि उस वस्तुस्थिति का दिग्दर्शन कराता हूँ कि जो न केवल रूसी औपनिवेशिकों मे बल्कि सभी जगह सभी लोगों में मौजूद रहती है, जबतक कि मानवी स्वभाव की मौलिक पवित्रता को बिगाड़ नहीं दिया जाता। मैं वह बात कह रहा हूँ कि जो प्रत्येक मनुष्य को स्वाभाविक तथा बुद्धिगम्य मालूम होती है। मनुष्य जब किसी जगह बसते हैं तो उनमें से प्रत्येक अपनी-अपनी रुचि के अनुसार काम पसन्द कर लेता और आवश्यक साधनों को प्राप्त करके अपना-अपना कार्य प्रारम्भ कर देता है।

यदि इन लोगों को साथ मिलकर काम करने मे आसानी मालूम होती है तो ये काम करनेवालों का एक मण्डल बना लेते है। किन्तु न तो

कौटुम्बिक प्रथा में और न सम्मिलित संस्थाओं में ही उत्पत्ति के ये साधन अलग-अलग प्रकट होंगे। उस समय केवल मेहनत और उससे सम्बन्ध रखनेवाली आवश्यक चीज़ों की ही ज़रूरत होती है—गरमी और प्रकाश के लिए सूरज की, साँस लेने के लिए हवा की, पीने के लिए पानी की, जोतने-बोने के लिए ज़मीन की, पहनने के लिए कपड़े की और खाने के लिए भोजन की तथा काम करने के लिए हल-कुदाली आदि औज़ारों की आवश्यकता होती है। यह स्पष्ट है कि न तो सूर्य की किरणें, न तन के कपडे, न हल-कुदाली और फावडे जिनसे हर एक आदमी काम करता है, और न वे मशीनें जिनसे कि संघ में मिलकर काम किया जाता है उन लोगो के सिवा किसी और की हो सकती हैं कि जो सूर्य की किरणों का उपभोग करते हैं, हवा में साँस लेते हैं, शरीर को कपडो से ढकते हैं और हल तथा मशीन आदि से काम करते हैं। इन चीज़ों की केवल उन्हीं को ज़रूरत होती है कि जो इनका उपयोग करते हैं।

कोई कह सकता है कि शायद आदिम मानव-समाज मे इन तीन विभागो की आवश्यकता न हुई होगी और जैसे आबादी बढ़ती है, और सभ्यता का विकास होने लगता है, ये विभाग जरूरी हो उठते होंगे। और हमें यह बात माननी ही होगी कि ये विभाग यूरोपियन समाज में मौजूद हैं।

पर देखें इस बात मे कहाँ तक सचाई है ? यह कहा जाता है कि—यूरोपियन समाज मे उत्पत्ति के साधनों का ऐसा ही वर्गीकरण प्रचलित है। अर्थात् एक आदमी ज़मीन का मालिक है, दूसरे के पास काम करने के औज़ार हैं, और तीसरे के पास न ज़मीन है और न औज़ार। हम लोग यह बात सुनने के ऐसे आदी हो गये है कि हमे अब इसमे कोई विचित्रता ही नहीं मालूम होती। किन्तु इस कथन के अन्दर ही उसका खण्डन भी मौजूद है। मज़दूर शब्द की कल्पना मे यह भाव आ जाता है कि उसके पास ज़मीन है, जिसपर वह रहता है; और औज़ार हैं, जिनसे वह काम करता है। यदि उसके पास रहने को ज़मीन और काम करने

के लिए औज़ार नहीं हैं, तो वह मज़दूर ही नहीं हो सकता। ज़मीन और औज़ारों से रहित मज़दूर न तो आज तक कभी रहा और न कभी रह सकता है। ऐसा कोई भी मोची नहीं हो सकता, जिसके पास ज़मीन पर बना हुआ मकान, पानी, हवा और काम करने के औज़ार न हों।

यदि किसान के पास ज़मीन, हल, बैल, पानी और हँसिया आदि नहीं हैं, यदि मोची के पास मकान, परावी और सुई नहीं है, तो इसका यही अर्थ है कि किसी ने उसे ज़मीन से हटा दिया है या ज़बरदस्ती उससे छीन ली है और उसका मकान, गाड़ी, हल, बैल और सुई आदि भी धोखा देकर उससे ले लिये गये हैं। किन्तु इसका यह अर्थ तो कभी हो ही नहीं सकता कि हँसिया रहित किसान या सुई बिना मोची का भी अस्तित्व संसार में हो सकता है।

मछली पकड़ने के सामान के बिना किसी आदमी को ज़मीन पर खड़े हुए देखकर हम यह नहीं समझ सकते कि यह माहीगीर है, जबतक हमें यह न मालूम हो कि किसी ने उसका जाल आदि छीन लिया है। उसी तरह हम किसी ऐसे मज़दूर की कल्पना नहीं कर सकते कि जिसके पास रहने के लिए मकान और काम करने के लिए औज़ार न हों, जब-तक कि किसी ने उसकी ज़मीन से उसे मारकर भगा न दिया हो और औज़ार उससे छीन या लूट न लिये हों।

यदि हम उन सब बातों को उत्पत्ति का साधन मानें, जो मज़दूर से ज़बरदस्ती छीनी जा सकती है तो फिर गुलाम के शरीर पर जो अधिकार का दावा किया जाता है, उसकी भी इन साधनों में गिनती क्यों न की जाय! वर्षा और सूर्य की किरणों पर अधिकार करने के दावे को भी हम क्यों न गिनें!

एक आदमी ऊँची दीवार खड़ी करके अपने पड़ोसी को धूप से वञ्चित कर सकता है, दूसरा कोई आदमी नदी के बहाव को अपने तालाब की ओर फेरकर उसे ज़हरीला बना सकता है, और तीसरा कोई किसी मनुष्य को अपनी सम्पत्ति बनाने का दावा कर सकता है। परन्तु बलात्कार-

पूर्वक यदि कोई ऐसा कर ले, तो भी इन बातों के आधार पर उत्पत्ति के साधनों का वर्गीकरण नहीं हो सकता। ज़मीन और औज़ारों के ऊपर लोगों ने जो अपने कृत्रिम अधिकार जमा रखे है, उनको उत्पत्ति का स्वतन्त्र साधन मानना वैसी ही भूल है, जैसा कि धूप, हवा, पानी और मनुष्य के शरीर पर अधिकार रखने के इन नये निकाले हुए दावों को उत्पत्ति का साधन मानना।

कोई मनुष्य यदि यह दावा करे कि अमुक मनुष्य का शरीर मेरी सम्पत्ति है, तो इसीसे उसका यह कुदरती अधिकार तो छिन नहीं जाता कि वह खुद अपने नफ़े-नुकसान का विचार करे और अपने मालिक के लिए नहीं बल्कि अपने हित के लिए जो उचित समझे, वह काम करे। बस, इसी तरह, दूसरों की ज़मीन और औज़ारों पर जो पूर्ण अधिकार का दावा है, वह मनुष्य की हैसियत से, ज़मीन पर रहने और अपने औज़ारों से अथवा सुगमता समझे तो समाज के सामान्य औजारों से जी चाहे जो काम करने का जो मज़दूर का स्वयं-सिद्ध अधिकार है उससे, उसे कभी वंचित नहीं कर सकता।

वर्तमान आर्थिक समस्या पर विचार करते हुए अर्थशास्त्र केवल इतना ही कह सकता है कि यूरोप में मज़दूरों की जमीन और औजारों पर दूसरे लोग अपना अधिकार बताते हैं। इसके परिणाम-स्वरूप कुछ ही मजदूरों के लिए—सबके लिए किसी हालत में नहीं—हाँ, कुछ ही मजदूरों के लिए उत्पत्ति के जो स्वाभाविक साधारण नियम है, वे विनष्ट और विकृत हो गये हैं। इसलिए वे जमीन और औजारों से वंचित होकर दूसरों के औजारों से काम करने के लिए मजबूर होगये हैं। किन्तु इससे यह तो किसी हालत मे सिद्ध नहीं होता कि उत्पत्ति के सहज साधारण नियमों का यह आकस्मिक उल्लंघन ही वास्तविक और सच्चा नियम है।

निःसन्देह ऐसे कुछ लोग हैं, जो मजदूरों की जमीन पर और उनके औजारों पर अपना अधिकार बताते है, जैसे कि पहले जमाने में कुछ लोग दूसरों के शरीर को अपनी मिलकियत समझने का दावा करते थे।

किन्तु कुछ भी हो, जैसे प्राचीनकाल में इच्छा करते हुए भी स्वामी और दास इन दो श्रेणियो मे मनुष्य-समाज का सच्चा वर्गीकरण हो ही नही सकता, उसी तरह उत्पत्ति के साधनो का भी कोई वैसा वर्गीकरण नही हो सकता, जैसा कि अर्थ-शास्त्री जमीन और पूँजी आदि विभाग करके स्थापित करने की चेष्टा कर रहे हैं।

दूसरो की स्वतन्त्रता का अपहरण करनेवाले इन अन्यायपूर्ण दावो को अर्थशास्त्र 'उत्पत्ति के स्वाभाविक साधनो' के नाम से पुकारता है। और इस स्थिति को ठीक सिद्ध करने के लिए उसने उस जमीन पर, जिसपर कि दूसरे लोग मेहनत करके अपनी रोजी कमाते हैं, और उन औजारो पर कि जिनके द्वारा अन्य लोग काम करते है, कुछ ख़ास लोगों का अधिकार मान लिया। दूसरे शब्दों मे, यह कहा जा सकता है कि उसने एक ऐसी बात को अधिकार का स्वरूप दे दिया, कि जिसका अस्तित्व कभी था ही नही, जो कभी हो ही नही सकती और जो स्वयं अपना खण्डन करती है, क्योकि जो आदमी जमीन का उपयोग नही करता उसका उस जमीन पर दावा करने का अर्थ वास्तव मे इसके सिवा और कुछ नही हो सकता कि जिस जमीन का वह उपयोग नही करता उसके भी करने का अधिकार चाहता है। दूसरे लोगों के औज़ारों पर भी अपना अधिकार रखने का अर्थ इसके अतिरिक्त और कुछ नही है कि वह उन औजारो से काम लेने का अधिकार प्राप्त करना चाहता है, जिनसे कि वह स्वयं काम नहीं लेता। उत्पत्ति के साधनो का वर्गीकरण करके अर्थशास्त्र कहता है कि प्रत्येक मजदूर की—अर्थात् प्रत्येक मनुष्य की, यदि शब्द का सच्चे अर्थ मे प्रयोग किया जाय—स्वाभाविक अवस्था उसकी यही वर्तमान स्वाभाविक अवस्था है, जिसमे कि वह रहता है।

वर्तमान अन्याय को ठीक सिद्ध करने के लिए ही अर्थशास्त्र ने जिस वर्गीकरण को स्वीकार किया है, और जिसे अपनी समस्त समीक्षा का उसने आधार माना है, वह वर्गीकरण ही इस बात के लिए जिम्मेवार है कि उक्त शास्त्र वर्तमान विचित्र परिस्थिति का खुलासा करने के लिए जी

तोड़कर कोशिश करता है, पर सफल नहीं हो पाता; और सामने आनेवाले प्रश्नों का जो बिलकुल सीधा और सरल जवाब है, उसे न मानकर ऐसे टेढ़े-मेढ़े उत्तर देता है कि जिनका कोई अर्थ ही नहीं होता।

अर्थशास्त्र के सामने प्रश्न यह तो है कि धन के द्वारा कुछ लोग जमीन—पूँजी पर एक प्रकार का काल्पनिक अधिकार प्राप्त कर लेते हैं, और जिनके पास धन नहीं है उन्हें वे चाहे तो अपना गुलाम बना सकते है। इसका क्या कारण है ? साधारण मनुष्य तो इसका उत्तर यही देगा कि यह धन का परिणाम है,क्योंकि वह मनुष्यों को गुलाम बना सकता है।

परन्तु अर्थशास्त्र इस बात से इनकार करता है और कहता है, यह बात धन के कारण नहीं होती बल्कि इसकी वजह यह है कि कुछ लोगों के पास जमीन और पूँजी है और कुछ लोगों के पास दोनो में से एक भी नहीं है।

हम पूछते हैं—जिन लोगों के पास जमीन और पूँजी है वे उन लोगों को क्यों सताते हैं कि जिनके पास दो मे से एक भी नहीं है ? हमें जवाब मिलता है—उनके पास जमीन और पूँजी दोनों हैं, इससे।

किन्तु यही तो हमारा प्रश्न था। जमीन और औजारों पर उन्होंने क़ब्जा कैसे किया और इन साधनों से किसी को वंचित कर देना ही क्या जबरदस्ती गुलाम बनाने के समान नहीं है ? जीवन यह महत्वपूर्ण प्रश्न बार-बार पूछता है, अर्थशास्त्र भी यह देखता है और उसका जवाब देने की कोशिश करता है, पर सफल नहीं हो पाता, क्योंकि अपनी ग़लत भित्ति पर बने हुए सिद्धान्तों से चलकर वह एक ऐसे वाहियात चक्कर में पड़ जाता है कि जिसमें से बाहर निकलने का कोई रास्ता ही नहीं है।

इस प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर देने के लिए यह आवश्यक है कि उत्पत्ति के साधनों का जो ग़लत विभाग उसने किया है, उसे वह भूल जाय, घटनाओं के कारण मानना छोड़ दे, और जिस घटना के सम्बन्ध में प्रश्न उठाया गया है, पहले उसके पास के कारणों की ओर फिर दूर के कारणों की तलाश करे।

अर्थ-विज्ञान को इस बात का उत्तर देना चाहिए कि ऐसा क्यों है कि कुछ आदमी ज़मीन और औज़ारों से वञ्चित हैं, और कुछ लोगो के पास ये दोनों ही मौजूद हैं? या, जो लोग ज़मीन पर मेहनत करते हैं और औज़ारों से काम करते हैं उनसे ज़मीन और औज़ार ले लिये जाते हैं—इसका क्या कारण है?

जब अर्थ-विज्ञान इस प्रश्न को अपने सामने रखेगा तो उसके सामने नये विचार आयेंगे, और मज़दूर की स्थिति का कारण उसकी ख़राब स्थिति है, ऐसे विधानों की भूलभुलैयो मे फिरनेवाले झूठे विज्ञान की पहली धारणाये सारी-की-सारी एकदम बदल जायँगी।

सरल-चित्त लोगो के लिए इसमे कोई सन्देह नही हो सकता कि कुछ लोग दूसरे आदमियो के ऊपर जो अत्याचार करते हैं, इसका स्पष्ट कारण धन है। पर विज्ञान इसे अस्वीकार करता हुआ कहता है—रुपया तो केवल विनिमय का ज़रिया है, आदमियो को गुलाम बनाने से उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं।

अच्छा तो हम लोग देखे कि ऐसा है कि नहीं।

: १८ :

रुपया आया कहाँ से ? किस स्थिति में जातियाँ हमेशा अपने पास पैसा रखती हैं, और वे कौन-सी हालतें हैं कि जिनमें जातियो को पैसे की आवश्यकता नही होती ?

पुराने ज़माने में सिथियन और ड्रूबलियन जिस प्रकार रहते थे, वैसे ही आज भी अफ्रिका तथा आस्ट्रेलिया मे कुछ जातियाँ रहती हैं। वे पशु पालकर, तथा खेती-बारी करके अपनी गुज़र करती है। इतिहास के प्रभात मे ही हम उनकी चर्चा सुनते है। और इतिहास का प्रारम्भ आक्रमणकारियो के उल्लेख से ही होता है, और ये आक्रमणकारी सदा एक ही रीति का अनुसरण करते आये है। वे विजित लोगों के पास से उनके पशु, अन्न और वस्त्र जो-कुछ हाथ लगता है, छीन लेते है, बहुत से स्त्री-पुरुषों को क़ैद भी कर लेते है और उन्हे अपने साथ ले जाते हैं।

थोड़े दिनो पीछे वे फिर चढ़ाई करते है। किन्तु पहले आक्रमण से अभी यह जाति पनपने नहीं पाती, और इसलिए लूटकर ले जाने लायक उसके पास कुछ भी नही होता। अतएव आक्रमणकारी जीती हुई कौम की शक्तियों से लाभ उठाने के लिए दूसरी सुविधाजनक तरकीबें ढूँढ निकालते है।

ये तरकीबें इतनी सरल होती है कि हर किसी को सहज ही में सूझ जाती हैं। पहली तरकीब तो यह है कि जीती हुई जाति के लोग गुलाम बना लिये जाते हैं, किन्तु इस तरीके में सारी जाति-की-जाति से काम लेने की व्यवस्था करना और सबको खिलाने-पिलाने का प्रबन्ध करना

पड़ता है। यह एक बड़ी-भारी अड़चन है। इसलिए सहज ही उन्हे एक दूसरी पद्धति सूझ जाती है। वह यह कि विजित जाति को उसकी ज़मीन पर रहने और काम करने देते हैं, पर उस ज़मीन पर अधिकार अपना रखते हैं, और उसे अपने प्रमुख सैनिकों मे बॉट देते है, ताकि उनके द्वारा इन लोगों की मज़दूरी का उपयोग किया जा सके। पर इस पद्धति मे भी ख़राबी तो है ही। विजेता लोगों को विजित जाति की सारी पैदावार पर नज़र रखनी पडती है। और इसलिए पहली दो पद्धतियो जैसी ही एक तीसरी जंगली पद्धति की नक़ल की जाती है। वह यह कि विजेता लोग निजित जाति पर एक प्रकार का ज़रूरी कर लगाते है जो उन्हे नियत समय पर अदा करना पडता है।

विजेताओं का उद्देश्य यह होता है कि वे विजित जाति से उनकी पैदावार का अधिक-से-अधिक भाग ले लें। यह स्पष्ट ही है कि ऐसा करने के लिए विजेता लोग ऐसी ही चीज़े ले जायँगे, जो सबसे अधिक क़ीमती होंगी और जिन्हे ले जाने और इकट्ठा करने मे आसानी होगी। इसलिए वे पशुओं की खाल तथा सोना आदि ऐसी ही चीजें ले जाते है। इसके लिए वे प्रत्येक कुटुम्ब अथवा जमात पर खाल तथा सोने का कर लगाते है, जो नियमित समय पर उन्हें देना होता है, और इस प्रकार सारी जाति की मेहनत से वे सरलतापूर्वक लाभ उठाते है। खाल और सोना जब इस प्रकार उनसे ले लिया जाता है, तब फिर अपने मालिको को देने के लिए अधिक खाल और सोना प्राप्त करने के लिए उन्हे अपनी अन्य सभी चीजे बेचनी पडती हैं, और जब जायदाद बेचने को नहीं रहती है, तो फिर वह अपने आपको और अपनी मेहनत को बेचने के लिए मजबूर होते हैं।

प्राचीन समय मे और मध्य-युग मे भी ऐसा ही होता था; और अब भी ऐसा ही होता है। पुराने जमाने मे एक जाति का दूसरी जाति पर आक्रमण करना और उसे जीतना प्रायः होता ही रहता था। और चूँकि उस समय मानव-बन्धुत्व का भाव न था, इसलिए लोगो पर अधिकार

करने के लिए वैयक्तिक दासता का विशेष चलन था और इसी पर लोग ज्यादा ज़ोर देते थे। मध्यकाल मे जागीर-पद्धति अर्थात् ज़मीन की मालिकी कुछ अंशों में 'वैयक्तिक दासता' का स्थान ग्रहण करती है और इस प्रकार मनुष्य बजाय ज़मीन ज़ोर और ज़ुल्म का केन्द्र बन जाती है। आधुनिक काल में अमेरिका की खोज के समय से और व्यापार के विकास तथा सुवर्ण की पैदाइश मे वृद्धि होने से, जो सारे जगत् में विनिमय का साधन माना जाता है, कर आदि रुपये के रूप में लिये जाते हैं और राज्य-शक्ति की वृद्धि के साथ रुपये की किश्त लोगों को गुलामी मे फँसाने का प्रमुख साधन बन गयी है। अब मनुष्य के समस्त आर्थिक सम्बन्ध इसी के आधार पर चलते है।

'लिट्रेरी मिसेलेनी' में प्रोफ़ेसर याञ्जल का एक लेख प्रकाशित हुआ है, जिसमे फ़िजी द्वीप के आधुनिक इतिहास का वर्णन है। किस प्रकार हमारे जमाने मे रुपये की किश्तबन्दी दूसरे लोगो को अपना गुलाम बनाने का ज़बरदस्त साधन बन गयी है, यह दिखाने के लिए मैं समझता हूँ कि हाल में होनेवाली घटनाओं के विवरण पर बने हुए इस विश्वसनीय इतिहास से बढ़कर प्रभावशाली और स्पष्ट किसी दूसरे उदाहरण की मैं कल्पना भी नहीं कर सकता।

दक्षिण महासागर के पालिनेशिया के द्वीपों में फ़िजी नाम की एक जाति रहती है। जिस स्थान पर ये लोग रहते है वह छोटे-छोटे टापुओ का बना हुआ है, और उनका कुल क्षेत्रफल लगभग चालीस वर्ग मील है। सिर्फ़ आधा ही मुल्क बसा हुआ है और उसमे १५०००० मूल निवासी और १५०० गोरे हैं। इन लोगों को जङ्गली अवस्था छोड़कर सुधरे हुए बहुत दिन हो गये है। ऐसा मालूम होता है कि उनमे काम करने की शक्ति और विकास की योग्यता है, क्योंकि थोड़े ही दिनों में कृषि और पशु-पालन में उन्होंने अपनी दक्षता सिद्ध कर दिखायी है।

ये लोग खूब खुशहाल थे, किन्तु सन् १८५६ में ये भारी मुसीबत में फँस गये। फ़िजी जाति और उसके मुखिया ककोवो को रुपये की ज़रूरत

पड़ी। अमेरिका का संयुक्त राज्य ४५००० डालर मुआवज़े के रूप में ककोवो माँगता था, क्योंकि उसका कहना था कि फ़िजी के लोगों ने अमेरिका के नागरिकों पर ज़ुल्म किया है। यह रुपया वसूल करने के लिए अमेरिकनों ने एक दल रवाना किया, जिसने जमानत के बहाने, अचानक ही, कुछ उत्तमोत्तम टापुओं पर कब्जा कर लिया और यह धमकी दी कि यदि एक निश्चित तिथि तक मुआवजे की रक़म अदा न कर दी जायगी तो उनके नगरों को गोले-बारूद से उड़ा दिया जायगा।

मिशनरियों को लेकर अमेरिकन लोग फिजी द्वीप में बहुत पहले आकर बस गये थे। इन लोगों ने किसी न किसी बहाने से द्वीप की अच्छी-से-अच्छी ज़मीन अपने अधिकार में ले ली और कॉफी और कपास की खेती शुरू कर दी। इन्होंने ढेर-के-ढेर मूल निवासियों को अपने यहाँ नौकर या ग़ुलाम रख लिया और ऐसी शर्तों में उन्हें बाँध लिया जिन्हें ये अर्धसभ्य लोग बिल्कुल नहीं जानते थे।

इन मालिकों और मूल-निवासियों में, कि जिन्हें वे एक तरह से अपना ग़ुलाम ही समझते थे, अनबन होना स्वाभाविक ही था। किसी ऐसे ही झगड़े को उन्होंने फ़िजी के लोगों से मुवाविज़ा माँगने का बहाना बना लिया।

खुशहाल होते हुए भी फिजी के लोगों ने उस समय तक अपने यहाँ उसी स्वाभाविक विनिमय प्रथा को बनाये रखा, जो यूरोप के अन्दर मध्य-युग में प्रचलित थी। इन लोगों के अन्दर सिक्के का चलन तो यों समझिए कि बिलकुल था ही नहीं। इनका सारा आधार वस्तु-विनिमय-पद्धति पर चलता—एक चीज़ देकर बदले में दूसरी चीज़ ले लेते थे। जो थोड़े-से सामाजिक और राज्य-कर देने पड़ते थे उन्हें वे स्थानीय पैदावार के द्वारा अदा करते थे। भला, फ़िजी के लोग और उनका राजा ककोवो क्या कर सकता था, जबकि अमेरिकन लोग ४५ हज़ार डालर माँग रहे थे और उन्हें बेतरह धमका रहे थे। इतनी बड़ी रक़म ही उनके लिए कल्पनातीत थी, देखना तो दरकिनार। अन्य सामन्तों से परामर्श

के बाद ककोवो ने पहले तो यह फ़ैसला किया कि इङ्गलैंड की रानी से इन द्वीपों को अपनी संरक्षता में ले लेने के लिए प्रार्थना की जाय। किन्तु बाद को द्वीपो को अपने राज्य में मिला लेने के लिए इङ्गलैंड से अनुरोध करने का उन्होंने निश्चय किया।

किन्तु इस अर्ध-सभ्य राजा को उसकी मुसीबत के समय सहायता पहुँचाने की इङ्गलैंड को ऐसी उतावली तो थी ही नहीं, इसलिये उस ने इस प्रार्थना पर अत्यन्त सावधानी के साथ विचार करना शुरू किया। सीधा उत्तर देने के बजाय उन्होंने १८६० मे फ़िजी द्वीप के सम्बन्ध में तहक़ीक़ात करने के लिए एक ख़ास कमीशन भेजा, ताकि वह यह फ़ैसला कर सके किजी द्वीप को इङ्गलैण्ड मे मिलाने और अमेरिकनों को संतुष्ट करने के लिए इतनी बडी रकम देने से कोई लाभ भी होगा कि नहीं।

इस दर्म्यान मे अमेरिकन सरकार रुपयों के लिए बराबर तकाज़ा करती रही और उसने जमानत के तौर पर द्वीप के कुछ उत्तमोत्तम भाग अपने कब्जे मे ले लिये, और फिजी जाति की सम्पत्ति का ठीक हाल मालूम होने पर उन्होंने मुआविजे की रक़म बढ़ाकर ९०००० डालर कर दी। साथ ही यह धमकी भी दी कि यदि रुपया फ़ौरन ही अदा न किया गया तो यह रकम और भी बढ़ा दी जायगी। बेचारा ककोवो चारों ओर आपत्तियों से घिरा हुआ था। लेन-देन के व्यवहार की यूरोपीय पद्धति से वह बिलकुल ही अपरिचित था। इसलिए गोरे औपनिवेशकों की सलाह से उसने मेलबोर्न के व्यापारियों से पैसे लेने की चेष्टा की। यहाँतक कि पैसे के लिए वह अपना राज्य तक निजी लोगों के हाथ में सौंपने को तैयार हो गया।

ककोवो की प्रार्थना के परिणाम-स्वरूप मेलबोर्न में, 'पोलिनेशियन कम्पनी' नामक एक कम्पनी बनी। इसने फ़िजी के सरदारो से बहुत ही लाभदायक शर्तें ठहराकर एक दस्तावेज़ तैयार किया। कई किश्तों में रुपया अदा कर देने का वादा करके कम्पनी ने कर्जा अपने ऊपर ले लिया। पहली सन्धि के अनुसार कम्पनी को पहले एक और दो हज़ार

एकड़ बढ़िया ज़मीन प्राप्त हुई; सदा-सर्वदा के लिए सब प्रकार के कर माफ़ हो गये और फिजी मे बैंक स्थापित करने का उन्हे एकाधिकार तथा यथेष्ट सख्या में नोट बनाने का अधिकार भी मिल गया।

यह सन्धि सन् १८६८ में निश्चित रूप से तय हो गयी और तब से ककोवो की स्थानीय सरकार के साथ ही साथ एक दूसरी शक्ति का आविर्भाव हुआ। यह शक्ति उसी व्यापारिक मण्डल की थी जिसके पास द्वीप भर में फैली हुई बहुत बड़ी जायदाद थी, और जिसका सरकार पर काफी ज़ोर और ज़बरदस्त असर था।

अभी तक तो ककोवो की सरकार का काम स्थानीय पैदावार में से मिलनेवाले अंश और थोड़े-से आयात-कर से चल जाता था, किन्तु सन्धि और प्रभावशाली पोलीनेशियन कम्पनी के निर्माण से उसकी आर्थिक स्थिति में अन्तर पड़ा। द्वीप-समूह की बहुत-सी उत्तमोत्तम ज़मीन कम्पनी के हाथ में चली जाने से राज्य की आय कम हो गयी। उधर कम्पनी को आनेवाले तथा जानेवाले माल पर कर न देने की आज्ञा मिल गई थी, इसलिए माल की ज़कात की आमदनी भी बहुत घट गयी। मूल निवासियों की ओर से तो ज़कात की आय वैसे ही बहुत कम थी, क्योंकि निन्यानबे फी सदी ये लोग कपड़ा और धातु की बनी हुई कुछ चीज़ों के अलावा बाहर से आई हुई शायद ही किसी चीज़ का व्यवहार करते थे। किन्तु कम्पनी के सब प्रकार के कर माफ हो जाने से और लोगो के मँगाये हुए माल के द्वारा जो ज़कात की आय होती थी वह एकदम बन्द हो गयी। ककोवो को अब यह चिन्ता हुई कि आय कैसे बढाई जाये?

इस मुश्किल को हल करने लिए फिजी के राजा ने अपने गोरे मित्रों से सलाह पूछी। उन्होने उस देश मे पहले-पहल सीधा कर लगाने की राय दी, और कर-प्राप्ति की झंझट को यथासम्भव कम करने के लिए उन्होंने यह सलाह दी कि इस कर के सम्बन्ध में 'रोकड़-पैसा' वसूल किया जाय। यह कर समस्त राज्य में प्रत्येक मनुष्य पर लगाया गया। प्रत्येक पुरुष को एक पौंड और प्रत्येक स्त्री को चार शिलिङ्ग भरना पड़ते थे।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, फ़िजी के लोगों में अभी तक वस्तु विनिमय पद्धति जारी थी। शायद ही किसी मूल निवासी के पास कोई सिक्का हो। कच्चा माल और पशु ही उनका धन था, रुपया-पैसा नहीं। किन्तु अब इस नये कर को नियमित समय पर चुकाने के लिए उनको बहुत-से रुपयों की ज़रूरत महसूस होने लगी।

अभी तक लोगो को व्यक्तिगत रूप से सरकार का भार सहन करने का अभ्यास न था, हाँ, उसके लिए मेहनत-मज़दूरी कर देते थे। सरकार को जो कर देने होते थे वे सब उस गाँव अथवा जाति के द्वारा अदा किये जाते थे कि जिससे उसका सम्बन्ध होता था। सार्वजनिक सामान्य खेतों की पैदावार में से ही ये कर भरे जाते थे और लोगो की ख़ास आमदनी भी इन्हीं खेतों के द्वारा होती थी। अब उनके लिए केवल एक ही मार्ग था और वह यह कि यूरोपियन औपनिवेशिकों से रुपया उधार लिया जाय अर्थात् या तो यूरोपीय व्यापारी से रुपया माँगे अथवा गोरे कृषक प्लाण्टर से।

व्यापारियों के हाथ उन्हें अपनी चीज़ उन्हीं की शर्तों पर बेच देनी पडती और कभी-कभी तो नियत समय पर कर अदा करने के लिए उन्हें अपनी आगामी फसल भी गिरवी रख देनी पड़ती थी और इससे व्यापारी लोग खूब मनमाना सूद वसूल करते थे। दूसरी सूरत यह थी कि वे प्लाण्टरों से रुपया लेते थे और अपनी मेहनत उनके हाथ बेच देते थे। इस तरह वे कृषक न रहकर उनके नौकर हो जाते थे। फ़िजी द्वीप में मज़दूरी भी बहुत ही कम थी, और वह शायद इसलिए कि वहाँ आदमी काफी से ज्यादा मिलते थे। प्रत्येक बालिग़ को प्रति सप्ताह एक शिलिंग अथवा दो पौंड बारह शिलिंग प्रति वर्ष से अधिक नहीं मिलते थे। परिणाम यह हुआ कि कुटुम्ब का भार तो अलहदा रहा, अपना व्यक्तिगत कर चुकाने के लिए फिजी के लोगो को अपना घर-बार और अपनी ज़मीन छोड़कर कभी-कभी बहुत दूर किसी दूसरे टापू में कम-से-कम ६ मास तक प्लाण्टर की ग़ुलामी करने के लिए जाना पड़ता था। और फिर कुटुम्ब के लोगों

का कर अदा करने के लिए उसे दूसरे उपायों की शरण लेनी पड़ती थी।

इस स्थिति का परिणाम आसानी से समझा जा सकता है १५०००० की आबादी में से ककोबो कुल ६००० पौंड इकट्ठा कर सका। अभी तक सख्ती और ज़ुल्म से लोग अपरिचित थे, किन्तु कर वसूल करने के लिए तरह-तरह का अत्याचार उन लोगों पर किया जाने लगा।

स्थानीय शासन जो अभी तक बिगडने न पाया था, अब शीघ्र ही यूरोपियन प्लाण्टरों के साथ मिलाया गया और प्लाण्टर लोग खूब अपना मतलब साधने लगे। कर न अदा कर सकने के अपराध में फिजी के लोगों को अदालत में पकड़ बुलाया जाता था और उन्हे केवल ख़र्चा ही नहीं देना पडता था बल्कि जेलख़ाने भी जाना पडता था और वह भी ६ महीने से कम के लिए नहीं। यह जेल क्या थी, गोरे लोगों के लिए मज़दूर प्राप्त करने का साधन था। जो गोरा सबसे पहले मुकदमे का ख़र्चा और अपराधी का कर अदा कर देता था, वही उसको अपने काम पर लगाने का हक़दार हो जाता। इस तरह गोरे प्रवासियों को मज़दूरी बहुत ही सस्ती पड़ती।

पहले तो इस अनिवार्य मज़दूरी की अवधि ६ महीने से अधिक न होती थी, पर पीछे से जज़ लोग रिश्वत ले-लेकर १८ महीनों तक की सज़ा देने लगे और कभी-कभी तो बाद को भी सजा बढा देते।

बडी ही जल्दी, केवल थोडे ही वर्षों मे, फ़िजी के लोगों की आर्थिक अवस्था बिरकुल बदल गयी। जिले-के-जिले, जो पहले खूब हरे-भरे और आबाद थे, अब बिल्कुल कङ्गाल हो गये और उनकी आबादी भी आधी रही गयी। बुड्ढों और बीमारों को छोडकर जितने मर्द थे, सभी कर अदा करने के लिए रुपयों की ख़ातिर अथवा अदालती फैसले के परिणाम-स्वरूप घर से दूर, प्लाण्टरों के खेतों मे, मेहनत मज़दूरी करते थे। फ़िजी की स्त्रियों को खेतो में काम करने का अभ्यास न था, इसलिए पुरुषों की अनुपस्थिति में घर की खेती-बाड़ी का काम एकदम बन्द होगया। कुछ

ही सालों के अन्दर फ़िजी की आधी आबादी औपनिवेशिकों की गुलाम बन गयी।

अपनी इस दुर्दशा से छुटकारा पाने के लिए उन्होंने एक बार फिर इङ्गलैंड से प्रार्थना की। एक नया प्रार्थनापत्र तैयार किया, जिसमे बहुत से मुखिया लोगों तथा सरदारों ने हस्ताक्षर किये। यह दस्तावेज़, जिसमें फ़िजी द्वीप को इङ्गलैंड में मिला लेने की प्रार्थना की गयी थी, अँग्रेज़ी राजदूत के हाथ मे सौंप दिया गया। इस बीच में इङ्गलैंड ने अपने भेजे हुए कमीशन-द्वारा फ़िजी द्वीप की वर्तमान अवस्था का ज्ञान प्राप्त कर लिया। इतना ही नहीं बल्कि वैज्ञानिक ढंग से उसने इन द्वीपों का निरीक्षण और उनकी पैमाइश भी करायी और दुनिया के एक कोने में पड़े हुए इस सुन्दर द्वीप-समूह की प्रकृति-प्रदत्त सम्पति को ख़ूब पसन्द किया। सन् १८७४ मे इङ्गलैंड ने सरकारी तौर पर फ़िजी द्वीप को अपने अधिकार में लेकर अपने उपनिवेशो मे मिला लिया; जिससे अमेरिकन प्लाण्टरों को बडा असन्तोष हुआ। ककोबो का देहान्त हो गया। उसके उत्तराधिकारियों को थोडी सी पेंशन दे दी गयी और उन द्वीपों का शासन न्यू-साउथ-वेल्स के गवर्नर सर हरक्यूलीज़ राबिंसन के हाथ में सौंप दिया गया। इङ्गलैंड से सम्बन्धित होने के प्रथम वर्ष फ़िजी मे स्वायत्त-शासन न था बल्कि ये लोग सर हरक्यूलीज़ राबिन्सन के द्वारा नियुक्त किये हुए शासक के अधीन थे।

द्वीप-समूह को अपने हाथ मे ले लेने के बाद उनसे जो आशायें की गयी थी उन्हे पूरा करने का कठिन कार्य अब अँग्रेज़ सरकार को करने के लिए तैयार होना पडा। अँग्रेज़ सरकार ने सबसे पहला काम यह किया कि उस मनुष्य-कर को सदा के लिये हटा दिया कि जिसके कारण कुछ औपनिवेशकों के लाभ के लिए फ़िजी के लोगों मे गुलामी की जड़ पड गयी थी। किन्तु इस कार्य मे सर राबिन्सन को एक बड़ी भारी आपत्ति का सामना करना पडा। जिस मनुष्य-कर को दूर करने के लिए फ़िजी के लोगो ने अँग्रेज़ो की सहायता माँगी थी उसको तो दूर करना ही था,

पर साथ-ही साथ अंग्रेज़ी औपनिवेशिक नीति के अनुसार उन्हे स्वावलम्बी बनकर अपने शासन का खर्चा आप निकालना चाहिए था। मनुष्य-कर हटा देने के बाद फिजी के लोगों से जो आय हो सकती थी, यह सब मिलाकर ६ हज़ार पौण्ड से अधिक न थी और शासन-खर्च के लिए प्रति वर्ष कम-से-कम ७० हज़ार पौण्ड की आवश्यकता थी।

रुपये का कर हटाकर सर राबिन्सन ने मज़दूरी का कर लगाने की तरकीब सोची, पर कर्मचारियों का भरण-पोषण करने लायक आमदनी इससे भी न हुई। गार्डन नाम का नया गवर्नर जबतक न आया तबतक यह स्थिति नहीं सुधरी। उसने आते ही यह निश्चय किया कि फिजी में जबतक रुपये का काफी चलन न हो जायगा, तबतक वह रुपया न माँगकर फिजी वासियों से उनकी पैदावार की चीज़ें ले लेगा और उन्हें अपने प्रबन्ध से बेचेगा।

फिजी लोगों की यह करुण कहानी स्पष्ट बताती है कि वास्तव में पैसा क्या चीज है और उसक असर कहाँ तक पहुँच सकता है। इस उदाहरण में सभी आवश्यक अङ्गों का दिग्दर्शन हो जाता है—गुलामी की पहली और मुख्य शर्त—बन्दूक, धमकियाँ, हत्यायें, लूट-पाट और अन्तिम चीज़ रुपया, जिसने लोगों को गुलाम बनाने के अन्य सब साधनों का स्थान ले लिया है। राष्ट्रों के आर्थिक विकास की रूपरेखा जानने के लिए सदियों का इतिहास पढना पडता है। लेकिन वे सभी घटनायें फिजी में दस ही सालों मे पूरी हो गयी। इन दस सालों मे पैसे के सभी प्रकार के अन्याय व अत्याचार खूब खेले गये हैं।

नाटक इस प्रकार आरम्भ होता है—अमेरिकन सरकार फिजी द्वीप के लोगों को अपने अधीन करने के लिए बन्दूकों से भरे हुए जहाज़ भेजती है। बहाना है रुपया वसूल करने का, पर यह करुण प्रसंग आरम्भ इस प्रकार होता है कि फिजी के समस्त निवासियों—आबाल-वृद्ध नर-नारी सभी पर तोपें लगायी जाती है 'रुपया दो या ज़िन्दगी से हाथ धोओ'—४५ हजार डालर और फिर ६० हज़ार अथवा कत्ल आम। परन्तु

६० हज़ार डालर उन्हें मिलते नही और यहीं से आरम्भ होता है — दृश्य नम्बर दो। इसमे उस भयङ्कर खूनी और क्षणिक पद्धति के साथ पर एक नवीन यातना का आविष्कार होता है, जो इतनी स्पष्ट तो दिखायी नहीं पडती पर उसका असर सब लोगो तक पहुँचता है और देर तक रहता है। फिजी के मूल निवासी मृत्यु के स्थान पर रुपये की गुलामी स्वीकार करते हैं। रुपया उधार लेते ही वह पद्धति सुशिक्षित सेना की तरह अपना काम आरम्भ कर देती है। पाँच वर्ष के अन्दर काम पूर्ण हो जाता है— मनुष्यो ने अपनी ज़मीन और जायदाद के उपयोग करने का अधिकार ही नहीं खो दिया, बल्कि वे अपनी स्वतंत्रता भी खो बैठे, बस, एकदम गुलाम बन गये।

अब तृतीय दृश्य प्रारम्भ होता है। स्थिति बडी ही दुःखजनक है। इन अभागो को सलाह दी जाती है कि वे मालिक बदलकर दूसरे के गुलाम हो जावे। रुपये से उत्पन्न गुलामी से मुक्त होने का उनके दिमाग मे ख़याल तक नही। ये लोग एक दूसरे मालिक को बुलाते है और उससे अपनी हालत सुधारने की प्रार्थना करके अपने को उसके हाथो सौंप देते है। अँग्रेज़ लोग आकर देखते है कि इन लोगो पर शासनाधिकार मिल जाने से वे अपनी जाति के आवश्यकता से अधिक बढे हुए निकम्मे जीवो के भरण-पोषण का प्रबन्ध कर सकेंगे और इसलिए वे इन द्वीपो और उनके अधिवासियो को अपने अधिकार मे ले लेते हैं।

किन्तु इङ्गलैंड उन्हे गुलामो के रूप मे नहीं लेता, उनकी ज़मीन को भी यह अपने कर्मचारियों मे बाँट नही देता। इन पुरानी पद्धतियो की अब ज़रूरत नही, अब केवल एक बात की ज़रूरत है—टैक्स लगने चाहिएँ और ऐसे पर्याप्त परिमाण मे कि एक ओर तो किसानो को व्यावहारिक दासता के पाश से मुक्त न होने दे और दूसरी ओर बहुत से निकम्मे जीवो के लिए मज़े से जीवन व्यतीत करने का प्रबन्ध किया जा सके। फ़िजी-निवासियो को प्रति वर्ष सत्तर हज़ार पौंड अदा करने चाहिएँ —यह खास शर्त है, जिसपर इङ्गलैंड फिजी-निवासियो को अमेरिकन

अत्याचार से बचाने के लिए राज़ी होता है। फ़िजी के लोगों को अपना पूरा गुलाम बनाने लिए शायद एक इसी बात की कमी रह गयी थी। किन्तु स्थिति कुछ ऐसी है कि फिजी द्वीपवाले ये सत्तर हज़ार पौंड किसी हालत मे नही दे सकते, उनपर यह मॉग भारी बोझ है।

अँग्रेज़ कुछ काल के लिए अपनी मॉग पर ज़ोर न देकर प्राकृतिक उपज का ही कुछ अंश लेकर चुप रहते हैं, ताकि जब रुपये का चलन हो जाये तो वह पूरी रक़म वसूल कर सके। वे पहली कम्पनी की तरह व्यवहार नही करते। कम्पनी का व्यवहार तो किसी देश मे उस जङ्गली आक्रमणकारी के समान था, जिसका मतलब सिर्फ़ जो-कुछ मिले, वह लूटना होता है। इङ्गलैंड का व्यवहार दूरदर्शी का-सा होता है। वह सोने का अण्डा देनेवाली मुर्गी को एक बार ही मार नही डालता, बल्कि वह उसे पालता है, ताकि वह बराबर अण्डे देती रहे। इङ्गलैंड पहले अपनी लगाम को ढीला छोड देता है ताकि बाद को खूब कसकर लाभ उठा सके। इस प्रकार बेचारे फिजी के लोगों को गुलामी के उस फन्दे मे फँसा दिया गया, जिसमे समस्त यूरोपियन जाति इस समय फॅसी हुई है और जिसमें से उनके निकलने की कोई सूरत भी नहीं दिखायी देती। यही बात अमेरिका, चीन और मध्य-एशिया मे होती है और सभी विजित जातियों के इतिहास में ऐसी ही घटना पायी जाती है।

रुपया विनिमय का एक निर्दोष साधन है, किन्तु उसी हालत मे कि जब उसे वसूल करने के लिए निरीह नि:शस्त्र लोगो के ऊपर तोपें नही लगायी जाती। किन्तु ज्योही रुपया इकट्ठा करने के लिए तोपो और बन्दूकों का प्रयोग किया जायगा, तो जो-कुछ फिजी मे हुआ वह अनिवार्य रूप से होकर रहेगा और ऐसा ही सदा-सर्वत्र हुआ है।

अत्याचारी लोग बलपूर्वक इतना रुपया मॉगेंगे कि बेचारे दीन लोग गुलाम बनने के लिए मजबूर हो जाते है। इसके अलावा आततायी लोग जितना रुपया जमा हो सकता है उससे सदा ही अधिक मॉगेंगे, जैसा कि इङ्गलैंड और फ़िजी के सम्बन्ध मे हुआ, और यह अधिक रुपया

इसलिए माँगा जाता है, कि गुलाम बनाने की क्रिया जल्दी ही पूरी हो जाय। रुपये की माँग को उस समय तक अवश्य सीमा के अन्दर रखा जाता है,जबतक कि उनके पास पर्याप्त धन और नैतिक भाव रहता है। नैतिक भाव के रहते हुए भी रुपयों की ज़रूरत होने पर इस सीमा की पर्वाह नही की जाती। सरकारें तो सदा ही सीमा से अधिक माँग करती हैं, क्योंकि एक तो सरकारों के लिए न्याय-अन्याय जैसी कोई नैतिक भावना ही नही होती, और दूसरे जैसा कि सभी जानते है, युद्धों के कारण तथा अपने आदमियों को देने के लिए उन्हे रुपयों की सदा ही जरूरत रहती है। सभी सरकारें दीवालिया होती हैं और अठारहवी शताब्दी के एक रूसी राजनीतिज्ञ के इस कथन के अनुसार ही व्यवहार करती है—"किसान के ऊन को काट ही लेना चाहिए ताकि कहीं वह बहुत ज्यादा न बढ़ जाय।" सभी हकूमतें बुरी तरह कर्जदार होती है, और प्राय: कर्ज़ की यह रफ़्तार भयंकर गति से बढ रही है। इसी तरह खर्च का बजट भी बढ जाता है, दूसरे दुश्मनो से झगडने और अपने साथियों को जागीर व इनाम देने के साथ-साथ ज़मीन के लगान मे वृद्धि होती जाती है।

मज़दूरो की उजरत नही बढती, लगान के कानून के कारण नहीं, बल्कि ज़बरदस्ती वसूल किये जानेवाले करो के कारण। इनका अस्तित्व ही केवल इसलिए होता है कि मनुष्यो के पास कुछ रहने न पावे, ताकि मालिको को सन्तुष्ट करने के लिए वे अपने को मेहनत करने के लिए बेच डालने पर मजबूर हों टैक्सो के लगाने का उद्देश्य यह होता है कि मज़दूरो की मज़दूरी का उपभोग किया जा सके।

मज़दूरो की मज़दूरी का उपभोग उसी हालत मे किया जा सकता है कि जब साधारणतः इतने बडे कर लगाये जायँ कि मजदूर सिर्फ अपनी अनिवार्य जरूरतें ही पूरी कर सके। यदि मज़दूरी मे वृद्धि हो तो मजदूर के आगे चलकर दास बन जाने की सम्भावना ही नहीं रहती, इसलिए जबतक ज़बरदस्ती का दौर-दौरा रहेगा तबतक मजदूरी मे वृद्धि कभी हो ही नहीं सकती। कुछ लोग दूसरे लोगो के साथ स्पष्ट खुले ढङ्ग से जो

अन्याय करते है, उसे अर्थशास्त्री 'लोहे के नियम' के नाम से पुकारते हैं; तथा जिस औज़ार के द्वारा अन्याय किया जाता है, उसे यह लोग विनिमय-साधन कहते है और यह निर्दोष विनिमय-साधन, जो मनुष्यो के पारस्परिक व्यापार के लिए आवश्यक है, और कुछ नहीं, रुपया ही है।

एक बात यह भी है कि विनिमय के लिए जो सरल और अनुकूल चीज़ है उसीको विनिमय का साधन नही बनाया जाता; बल्कि विनिमय का साधन वही पदार्थ बनता है, जिसे सरकार चाहती है। यदि सोने की माँग होती है, तो सोना कीमती होता है, और यदि घुटने की हड्डियाँ माँगी जाने लगे, तो वे मूल्यवान बन जाये। यदि यह बात नही है, तो विनिमय के साधनो को सरकार सदा अपनी ही ओर से जारी रखने का अधिकार क्यो रखती है? उदाहरणार्थ फिजी-निवासियो ने अपना एक निज का विनिमय-साधन निश्चित कर लिया है। ये जिस तरह चाहते है उस तरह विनिमय करने की स्वतन्त्रता उन्हे मिलनी चाहिए और तुम बलवान या सत्ताधीश, उनके विनिमय मे हस्तक्षेप न करो। किन्तु इसके बजाय तुम खुद सिक्के बनाते हो, किसी दूसरे को ऐसा करने नही देते, या जैसा कि हम लोगो के यहाँ है, तुम लोग केवल कुछ नोट छापते हो, उसपर राजा का सिर बनाकर एक ख़ास किस्म का हस्ताक्षर कर देते हो और धमकी देते हो कि यदि कोई दूसरा नोट बनायेगा तो सख्त सज़ा पायेगा। इसके बाद अपने कर्मचारियो मे तुम उन्हे बाँट देते हो और यह चाहते हो कि प्रत्येक आदमी लगान और मालगुजारी आदि के रूप मे तुम्हे इस प्रकार के सिक्के अथवा नोट दे, जिनपर एक खास प्रकार के हस्ताक्षर हो, और वे सिक्के या नोट भी इतनी संख्या मे माँगते हो कि इन सिक्को अथवा नोटो को प्राप्त करने के लिए वह अपनी सारी मेहनत और मजदूरी को बेचने पर मजबूर हो जाय और यह सब कारस्तानी करने के बाद तुम हमे यह विश्वास दिलाना चाहते हो कि रुपया विनिमय-साधन के रूप मे हमारे लिए आवश्यक है!

समाज के सब लोग सुखी और स्वतंत्र थे । कोई किसी को न सताता और न गुलामी मे रखता था । किन्तु समाज मे रुपये का आविर्भाव होता है और तुरन्त ही लोहे का-सा कडा नियम बनता है, बढ़ जाता है और मज़दूरी यथासम्भव कम हो जाती है । रूस के आधे, बल्कि आधे से अधिक किसान तरह-तरह के कर अदा करने के लिए स्वेच्छा-पूर्वक अपने को ज़मींदारो अथवा कारखानेवालो के हाथ बेच डालते हैं, क्योंकि मनुष्य-कर तथा अन्य प्रकार के करो को चुकाने के लिए उन्हे मजबूर होकर उन लोगो के पास जाना पडता है कि जिनके पास रुपया है और उनकी आज्ञानुसार उन्हे उनकी गुलामी करनी पडती है । यही इस रुपये का खेल है ।

जब गुलामी की प्रथा बन्द नही हुई थी, तो मै आइवन को कोई भी काम करने के लिए मजबूर कर सकता था और उसके इनकार करने पर उसे पुलिस के हवाले कर देता, जहाँ उसे मार-पीटकर ठीक कर दिया जाता । किन्तु यदि मै आइवन से शक्ति से अधिक काम कराता और उसे वस्त्र या भोजन न देता तो यह मामला अधिकारियो के पास जाता और मुझे उसके लिए जवाब देना पडता ।

किन्तु अब, जब कि गुलामी उठ गयी है, मैं आइवन, पीटर या साइडर से कोई भी काम करा सकता हूँ, और यदि वे इनकार करे, तो मैं लगान अदा करने के लिए उन्हे रुपया नही देता और तब उनपर कोड़े पड़ते है । इस प्रकार वे मेरी बात मानने को विवश होते है । इसके सिवा मै जर्मन, फ्रान्सीसी, चीनी तथा हिन्दुस्तानी को भी इसी साधन के द्वारा अपना काम करने के लिए मजबूर कर सकता हूँ । यदि वे राजी नहीं होते तो मैं ज़मीन किराये पर लेने के लिए या भोजन खरीदने के लिए उन्हे रुपया नहीं दूँगा । चूँकि उनके पास ज़मीन और भोजन कुछ भी नहीं है, इसलिए उन्हे मजबूर होकर मेरे पास आना पड़ेगा यदि मैं उनसे शक्ति से अधिक काम कराऊँ, यहाँतक कि अधिक काम ले-लेकर मै उन्हे मार भी डालूँ, तब भी कोई मुझसे एक शब्द भी नहीं कह सकता, और जो

कहीं मैने राजनीतिक अर्थशास्त्र की किताबे पढली है, तब तो फिर मुझे पूरा विश्वास हो जाता है कि सभी मनुष्य स्वतन्त्र है और रुपया गुलामी का कारण नहीं है।

हमारे किसान बहुत दिनो से जानते है कि मनुष्य लकडी की अपेक्षा रुपये से अधिक चोट पहुँचा सकता है। यह तो अर्थ-शास्त्र के धुरन्धर-ज्ञाता लोग ही है कि जो इस बात को नही समझते।

रुपया गुलामी पैदा नही करता, यह कहना ऐसा ही है कि जैसे पचास वर्ष पहले कोई यह दावा करता कि 'सर्फ लॉ' 'गुलामो का कायदा' गुलामी का बिलकुल ही कारण न था। अर्थशास्त्री कहते है कि रुपया तो विनिमय का एक निर्दोष साधन है। रुपये के जोर से एक मनुष्य दूसरे को गुलाम बना सकता है। तथापि ५० साल पहले इसी तरह, क्या वह नहीं कहा जाता था कि गुलामी तो पारस्परिक सेवा का एक निर्दोष प्रबन्ध है, साधन नही, और फिर कोई मनुष्य किसी को अपना गुलाम बना ले तो क्या हुआ! यह तो एक पारस्परिक समझौता है। कुछ लोग शारीरिक श्रम करते हैं और दूसरे लोग अर्थात् मालिक अपने गुलामो के शारीरिक तथा मानसिक हितों का ख़याल रखते है और उनके काम का निरीक्षण करते है। क्या ताज्जुब कि किसी ने ऐसा कहा भी हो?

: १९ :

अन्य क़ानूनी विज्ञानो की तरह इस कपोल-कल्पित शास्त्र–आर्थशास्त्र का भी उद्देश्य यदि समाज मे होनेवाले अन्याय-अत्याचार का समर्थन न होता तो अर्थ-शास्त्र यह देखे बिना न रहता कि कुछ लोगों को ज़मीन और पूँजी से वञ्चित कर देना और कुछ लोगो का दूसरो को अपना गुलाम बना लेना—ये सब विचित्र बातें पैसे ही की वजह से होती है और पैसे ही के द्वारा कुछ लोग दूसरे लोगो की मेहनत का उपभोग करते है—उन्हे गुलाम बना लेते है।

मैं फिर दोहराता हूँ, जिसके पास पैसा है वह सारा अनाज खरीदकर अपने कब्जे मे ला सकता है और चाहे तो अन्य लोगों को तरसा-तरसाकर भूखो मार सकता है, जैसा कि बडे परिमाण मे प्राय हमारी आँखो के आगे होता है। इन विचित्र घटनाओं के साथ पैसे का क्या सम्बन्ध है, इसे खोजना ज़रूरी दीखता है। किन्तु अर्थ-शास्त्र पूर्ण विश्वास के साथ यह ऐलान करता है कि इस मामले से पैसे का किसी प्रकार का कोई भी सम्बन्ध नही है।

अर्थ-शास्त्र कहता है—पैसा भी अन्य चीज़ो की तरह एक प्रकार का माल है, जिसका मूल्य पैदावार पर निर्भर रहता है, फ़र्क़ केवल इतना है कि मूल्य निर्धारित करने, सञ्चित करने और दूसरी चीज़ो की कीमत चुकाने के लिए सरल और अनुकूल साधन होने के कारण इसे ही विनिमय-साधन के रूप मे पसन्द किया गया है। एक आदमी जूते बनाता है, दूसरा अन्न पैदा करता है, तीसरा भेड़-बकरियाँ पालता है, और ये

सब लोग अपनी चीज़ों को सरलतापूर्वक अदला-बदली करने के लिए रुपया-पैसा जारी करते है। यह रुपया मेहनत के इनाम के तौर पर ग्रहण किया जाता है, और इस विनिमय-साधन के द्वारा वे जूतो को मांस के टुकडे से अथवा दस सेर आटे से बदल सकते है।

इस काल्पनिक विज्ञान के अनुयायी अपने सामने ऐसी अवस्था को चित्रित करने के आदी और शौकीन है, किन्तु ससार मे ऐसी अवस्था कभी हुई ही नही। मानव-समाज मे जहाँ कही भी रुपये का चलन हुआ है वहाँ बलवान और सशस्त्र लोगो ने दुर्बल और निस्सहाय लोगो को सताया भी है। और जहाँ कही भी अन्याय और अत्याचार हुआ है, वहाँ मजदूरी या माल के मूल्य-स्वरूप पैसा अथवा पशु, खाल, धातु, आदि जो-कुछ भी रहा हो, वह वस्तु-विनिमय का साधन न रहकर दूसरो के बलात्कार से अपने को बचाने का साधन बन जाता है।

इसमे शक नहीं कि विज्ञान पैसे मे जिन निर्दोष गुणो को बताता है, वे उसके अन्दर मौजूद है, किन्तु ये गुण वही कायम रह सकते है, जहाँ ज़ोर-ज़ुल्म और बलात्कार न हो, जहाँ एक आदर्श समाज की स्थापना हो। किन्तु ऐसे आदर्श समाज मे मूल्य-निर्णायक के रूप मे पैसे की ज़रूरत ही न होगी। जहाँ सर्व-साधारण पर राज्य की ओर से अत्याचार नहीं होता, वहाँ न तो पहले कभी पैसा था और न अब हो सकता है। पैसे का मुख्य उद्देश्य वस्तु-विनिमय का नियत साधन बनना नहीं, बल्कि अन्याय और अत्याचार को सहारा देना-मात्र है। जहाँ अन्याय और अत्याचार है वहाँ विनिमय के नियत साधन के रूप मे पैसे का उपयोग नही हो सकता, क्योंकि वह मज़दूरी या माल को क़ीमत का ठीक एवज़ नहीं बन सकता। और इसका कारण यह है कि जब एक मनुष्य दूसरे मनुष्य की मेहनत को ज़बरदस्ती छीन सकता है, तो फिर मूल्य-निर्णायक जैसी कोई वस्तु ही नहीं रह सकती।

किसी आदमी के पाले हुए घोडे, बाघ अथवा अन्य पशु दूसरे आदमियो-द्वारा छीन लिये जायॅ और वे बाज़ार मे बेचने के लिए लाये जायॅ

और इन चुराये हुए घोडे, गाय आदि के मुक़ाबिले मे दूसरे घोड़े और गाय आदि पशु भी बराबर मूल्य पर बेचे जायँ, तो यह स्पष्ट है कि इन-का मूल्य इन पशुओ के पालने की मेहनत के बराबर कभी नहीं होगा। इस परिवर्तन के साथ ही दूसरी चीज़ो के मूल्य पर असर पड़ेगा और इस प्रकार पैसा मूल्यों का निर्णय न कर सकेगा। फिर यदि कोई आदमी गाय या घोडे को ज़बरदस्ती छीन सकता है तो वह खुद रुपये को भी इसी प्रकार बलपूर्वक प्राप्त कर सकता है और इस रुपये के द्वारा वह सभी चीज़ो को खरीद सकता है। जब रुपया खुद बलपूर्वक प्राप्त किया जाता है और वह चीज़े ख़रीदने के काम आता है, तो उसमे विनिमय-साधन का कोई गुण ही नहीं रहता। अत्याचारी पहले रुपया छीन लेता है और फिर वही रुपया दूसरो की मेहनत से पैदा की हुई चीज़ो के बदले मे देता है, अर्थात् वह बदले मे तो कुछ देता ही नहीं—वह जो-कुछ चाहता है, मेहनत करनेवालो से उसे मिल जाता है।

अच्छा, थोडी देर के लिए मान लीजिए कि इस प्रकार की असम्भव और काल्पनिक अवस्था सचमुच कही पर है, वहाँ बलात्कार नही है और रुपये का चलन है। सोने अथवा चाँदी का मूल्य-निर्णायक तथा विनिमय-साधन के रूप मे प्रयोग होता है। इस समाज मे जो-कुछ बचत होती है वह रुपये के रूप मे रहती है। विजेता के रूप मे किसी अत्याचारी का समाज मे प्रवेश होता है। मान लीजिए यह अत्याचारी विजेता लोगो के घोडो, कपडो, मकानो और गौओं पर अपना अधिकार बताता है, किन्तु चूँकि इन सब चीज़ो को लेकर अपने पास रखने मे तकलीफ होती है, इसलिए वह उस रुपये-पैसे को लेने की इच्छा करता है कि जो इन लोगो के सब प्रकार के मूल्यो का प्रतिनिधि समझा जाता है और जिसके द्वारा सब प्रकार की चीज़े प्राप्त की जा सकती है। ऐसा होते ही इस समाज मे विजेता और उसके साथियो के लिए रुपया एक दूसरे ही अर्थ का बोधक हो जाता है। अभी तक वस्तु-विनिमय के साधन की जो ख़ासियत उसमे थी, वह जाती रहती है।

किस चीज़ का कितना मूल्य होना चाहिए, इसका निर्णय सदा शक्तिशाली अत्याचारी की इच्छा पर निर्भर रहता है। जिन चीजों की उसे सबसे ज्यादा आवश्यकता होती है और जिनके लिए वह अधिक रुपया देता है, वही अधिक मूल्यवान समझी जाती है, और जिनकी ज़रूरत उसे नही होती, वे कम मूल्य की गिनी जाती है। जिस समाज मे अत्याचार का प्रभाव हो जाता है, वहाँ रुपया अत्याचार करने और अत्याचार से बचने का साधन बन जाता है।

कल्पना कीजिए—किसान लोग अपने जमीदार को कपडा, मुर्गी, मुर्गे, भेड, बकरियाँ लाकर देते हैं और उनके लिए रोज़ मेहनत-मज़दूरी करते है। ज़मींदार इन चीजों के बजाय रुपया लेना स्वीकार करते है और चीजो का मूल्य निर्धारित कर देते है। जिन लोगो के पास कपडा, अनाज, पशु, देने को नही हैं, या जो शारीरिक सेवा नहीं कर सकते हैं, वे एक निश्चित रकम अदा कर सकते है। यह तो स्पष्ट है कि इस ज़मींदार के कृषक-समाज मे वस्तुओं का मूल्य ज़मीदार की इच्छा और ज़रूरत पर ही निर्भर रहेगा। यदि उसे नाज की ज़रूरत है, तो वह उसका मूल्य अधिक रखेगा और कपडे, पशु या शारीरिक सेवा का कम। इसलिए जिनके पास नाज नहीं होगा, वे नाज ख़रीदकर ज़मीदार को देने के लिए अपना श्रम, कपडा और पशु दूसरो के हाथ बेच डालेंगे।

यदि सभी चीज़ों के बदले ज़मीदार रुपया लेना पसन्द करे, तब भी चीज़ो का मूल्य मेहनत को देखकर निश्चित न होगा, बल्कि उसका निश्चय निर्भर रहेगा। एक तो ज़मींदार द्वारा माँगी हुई रकम पर और दूसरे किसान द्वारा पैदा किये हुए उन पदार्थों पर, जिनकी जमींदार को ज़्यादा ज़रूरत होगी और जिनके लिए वह अधिक मूल्य देने को तैयार है।

ज़मीदार किसानो से जो रुपया माँगता है उसका असर चीज़ों की क़ीमत पर दो हालतो मे नहीं पडेगा। जब उस ज़मींदार के किसान दुनिया के दूसरे लोगो से एकदम अलहदा होकर रहे और उनका दूसरे लोगो से कोई सम्बन्ध न हो, और दूसरे उस हालत मे, जब ज़मींदार

रुपये से अपने गाँव मे नहीं, दूसरी जगह चीजें खरीदें । इन्हीं दो हालतो मे चीज़ो की कीमत वस्तुत: वही-की-वही रह सकेगी और रुपया मूल्य-निर्णायक और विनिमय-साधन बन जायगा ।

किन्तु यदि इन किसानो का पडोस के गाँववालो से कोई व्यापारिक सम्बन्ध होगा; तो अपने पडोस के गाँववालो के हाथ बेची जानेवाली चीज़ो का मूल्य उस गाँव के ज़मीदार-द्वारा माँगी हुई रकम के अनुसार होगा । यदि पडोस के गाँव के लोगों को अपने ज़मीदार को इस गाँव के लोगो की अपेक्षा कम रक़म देनी होती है, तो इस गाँव की पैदावार दूसरे गाँव की पैदावार की अपेक्षा सस्ती बिकेगी, और यदि दूसरे गाँववालो को ज्यादा रक़म देनी पड़ती है, तो इस गाँव की पैदावार वहाँ महँगी बिकेगी। चीज़ो की कीमत पर ज़मीदार की रुपये की माँग का असर उस हालत मे भी नही पडेगा कि जब जमा की हुई रकम अपने आसामियो की चीज़े खरीदने मे ख़र्च न हो । यदि वह अपने किसानो से ख़रीदेगा, तो यह स्पष्ट है कि विभिन्न पदार्थों का मूल्य बराबर बदलता रहेगा । ज़मीदार जिस चीज़ को ज्यादा चाहेगा, उसीका मूल्य बढ जायगा ।

एक ज़मीदार ने अपने गाँव के लोगो पर भारी मनुष्य-कर लगाया है और उसके पडोसी ने बहुत कम । यह स्वाभाविक है कि पहले ज़मीदार की जागीर मे दूसरे के गाँव की अपेक्षा प्रत्येक चीज़ सस्ती होगी, क्योंकि यहाँ लोगो को रुपये की बहुत जरूरत होती है; और दोनो ही रियासतो मे मनुष्य-कर की वृद्धि अथवा कमी के ऊपर चीज़ो की कीमत निर्भर रहेगी । बलात्कार अथवा ज़बरदस्ती का चीज़ो के मूल्य पर एक यह असर पड़ता है ।

पहले के परिणाम-स्वरूप एक दूसरा असर भी होता है और वह चीजो के तुलनात्मक मूल्य से सम्बन्ध रखता है । फ़र्ज कीजिए एक ज़मीदार घोडो का शौकीन है और उनके लिए बडी-बडी कीमतें देता है, दूसरे को तौलियो, अँगौछो का शौक है, और वह अँगौछो के लिए अच्छा मूल्य देता है । अब यह तो स्पष्ट ही है कि इन दोनो रियासतो मे

घोडे और अँगौछे महँगे होंगे और उनका मूल्य अपेक्षाकृत गाय अथवा नाज के मूल्य से कही ज्यादा होगा। यदि कल अँगौछों का शौक़ीन ज़मीदार मर जाय और उसके उत्तराधिकारियो को मुर्गे-मुर्गियो का शौक हो तो यह स्पष्ट है कि अँगौछो की क़ीमत कम हो जायगी और मुर्गे-मुर्गियो की बढ जायगी।

समाज मे जहाँ एक मनुष्य दूसरे के ऊपर ज़बरदस्ती करता है, वहाँ पैसा माल या मेहनत के मूल्य-स्वरूप कितने अंशो तक रहेगा, यह एकदम अत्याचारी की इच्छा के ऊपर निर्भर रहता है, और विनिमय का साधन बनने की इसकी योग्यता नष्ट होकर दूसरो की मेहनत से लाभ उठाने का एक अत्यन्त अनुकूल और सुविधा-जनक साधन हो जाता है। अत्याचारी को विनिमय या मूल्य-निर्धारण के लिए पैसे की ज़रूरत नही पडती, क्योंकि वह जो चाहता है बदले मे कुछ दिये बिना ही ले लेता है, और स्वयं ही प्रत्येक पदार्थ का मूल्य निर्धारित करता है। उसे पैसे की जरूरत होती है केवल इसलिए कि वह सुविधा-पूर्वक दूसरो पर अत्याचार कर सके और यह सुविधा इस बात मे है कि रुपया-पैसा खूब इकट्ठा किया जा सकता है और इसके द्वारा अधिकाश मानव-समाज को ग़ुलाम बनाकर रखा जा सकता है।

अपने को जिस समय जितने घोडे, गाय, भेड चाहिएँ उतने उसी समय मिल सके. इसके लिए इन सभी जानवरों को लेकर अपने पास रखना सुविधा-जनक नही है, क्योकि उन्हे चारा देना पडता है। नाज मे भी यही बात है, क्योंकि उसके सड-गल जाने की सम्भावना है। ग़ुलामो के सम्बन्ध मे भी ऐसा ही है। किसी समय मनुष्य को हज़ारो की जरूरत हो सकती है और किसी समय एक की भी नहीं। किन्तु ये सब असुविधाये दूर हो जाती हैं, और जिस चीज की जरूरत हो वह भी मिल सकती है। इसीलिए अत्याचारी रुपया माँगता है। रुपया माँगने मे एक और भी सुविधा है कि दूसरे मनुष्यों के परिश्रम से लाभ उठाने का उसका अधिकार कुछ थोडे-से मनुष्यों तक ही परिमित नही रहता, बल्कि जिस किसी

को भी रुपये की ज़रूरत हो, उन सभी तक व्याप्त हो सकता है।

जब रुपये का चलन न था तो प्रत्येक ज़मीदार केवल अपने ही असामियो की मेहनत का लाभ ले सकता था; किन्तु जब वह मिलकर किसानो से रुपया मॉगने लगे, जो उनके पास नहीं था, तब बिना किसी प्रकार के भेद-भाव के सभी राज्यों के आदमियो के परिश्रम का उपभोग करने में वे समर्थ बन गये। इस प्रकार लोगो की मज़दूरी के फल को रुपये के रूप मे लेने से उन्हे बडी सुविधा होती है और केवल इसीलिए रुपया चाहा जाता है।

जिन ग़रीब दुःखी लोगों से रुपया लिया जाता है, उनके लिए वह न तो विनिमय मे काम आता है, क्योकि वे तो बिना पैसे के ही चीज़ो की अदला-बदली कर लेते है, जैसा कि राज-सत्ता की स्थापना के पहले सभी जातियाँ करती थीं, न चीजो का मूल्य निर्धारित करने के काम में, क्योंकि यह निर्णय तो उनसे पूछे बिना ही कर दिया जाता है; न सञ्चय के काम मे, क्योंकि जिसकी पैदावार छीन ली जाती थी उसके पास सञ्चय करने को कुछ रह ही नहीं जाता और न लेन-देन के काम मे, क्योंकि अत्याचार-पीडित को लेने की अपेक्षा सदा देना ही अधिक पडता है' यदि मजदूर अपनी मेहनत के बदले में अपने मालिक की दुकान से चीज़े लेता है, तब तो उसे रुपया न मिलकर माल मिलता ही है औ यदि वह अपनी कमाई से जीवन की आवश्यक सामग्री दूसरी दुकान प ख़रीदने जाता है तो उससे फौरन ही रुपया मॉगा जाता है और उसे धमकी दी जाती है कि यदि रुपया अदा न करोगे, तो न तुम्हे ज़मीन दी जायगी और न अन्न दिया जायगा; या फिर तुम्हारी गाय या घोडा छीन लेंगे, या तुमसे ज़बरदस्ती काम करायँगे और फिर तुम्हे जेल भेज देंगे इस आफत से वह अपनी पैदावार और अपनी तथा अपने बच्चो की मेहनत बेचकर ही छुटकारा पा सकता है और यह भी साधारण विनिमय के निश्चित मूल्य पर नहीं, बल्कि पैसा मॉगनेवाली सत्ता-द्वारा निर्धारित मूल्य पर।

इस स्थिति में कि जब लगान और कर का प्रभाव चीजो के मूल्य पर पडता है—और जैसा कि सभी जगह होता है, ज़मीदारों के यहाँ छोटे पैमाने पर और राज्य मे बडे पैमाने पर, और राज्यो मे जो मूल्य मे हेर-फेर होते हैं उनके कारण तो हमे इतने स्पष्ट रूप से दिखायी पडते हैं कि जैसे मदारी को पर्दे के पीछे खडा देखकर कठपुतलियों के चलने-फिरने का कारण हर कोई समझ जाता है। तब भी ऐसी स्थिति मे भी यदि कोई यह दावा करे कि रुपया विनिमय का साधन और मूल्य-निर्णायक है तो यह और कुछ नहीं, तो कम-से-कम आश्चर्य-जनक तो है ही।

: २० :

एक आदमी दूसरे आदमी की जान ले सकता है और जान लेने की धमकी देकर उसे अपनी इच्छानुसार काम करने पर मजबूर कर सकता है। यही दासता का एक-मात्र कारण है। हम यह देख सकते है कि जब कोई आदमी अपनी रुचि वा इच्छा के विरुद्ध दूसरे आदमी की इच्छानुसार काम काम करता है, तो इसका मूल कारण और कही नही, किसी-न-किसी रूप मे, इसी धमकी के अन्दर ही होता है। यदि एक आदमी अपने पास खाने तक को न रखकर अपनी सारी कमाई दूसरे को दे देता है, अपने बच्चो को सख्त मेहनत करने के लिए भेजता है, खेतो को बिना जोते पडा रहने देता है और अपना सारा जीवन अनावश्यक घृणित काम करने मे व्यतीत करता है, तब हम निश्चयपूर्वक कह सकते है कि वह यह सब काम इसीलिए करता है कि इन कामो को न करना जान से हाथ धोने के समान होगा। यह सब रोज हम अपनी आँखो से देखते हैं।

हमारे इस सभ्यससार मे, जहाँ अधिकांश लोग कठोर-से-कठोर कष्ट सहकर भी अपनी रुचि के प्रतिकूल और अनावश्यक ऐसे काम करते हैं एक प्रकार की भयङ्कर दासता प्रचलित है, और इसका आधार लोगों का अस्तित्व मिटा डालने की धमकी है। अच्छा तो, यह दासता आयी कहाँ से ? धमकी की शक्ति कहाँ छिपी हुई है ?

पुराने जमाने में लोगो को पददलित करने के साधन और उन्हें मार डालने की धमकी—ये सब लोगो के लिए बिलकुल स्पष्ट थे। लोगों को

गुलाम बनाने का आदिम साधन सीधी-सादी भाषा मे तलवार से मार डालने की धमकी देना था। एक सशस्त्र मनुष्य निहत्थे आदमी से कहता है—देख, जैसे मैंने तेरे भाई को मार डाला, वैसे मैं तुझे भी मार सकता हूँ, लेकिन मै ऐसा करना नही चाहता। मै तेरी जान बख्शता हूँ। एक तो इसलिए कि तुझे मारने की मेरी इच्छा नही, दूसरे मैं तुझे मार डालूँ, इसके बजाय तेरे और मेरे दोनो के लिए यह बेहतर होगा कि तू मेरा काम किया कर। इसलिए मैं जो-कुछ कहूँ, उसे चुपचाप कर; नही तो, याद रख मैं तुझे जीता न छोड़ूँगा।

इस प्रकार बेचारा दुर्बल मनुष्य सबल मनुष्य की बात मानने को मजबूर हुआ और उसका विनम्र आज्ञा-पालक बन गया। निहत्था आदमी मजदूरी करता था और सशस्त्र हुक्म देता था। यही वह व्यक्तिगत दासता थी, जो पहले-पहल सभी जातियों में पैदा हुई और जो अब भी जंगली जातियों मे पायी जाती है।

दासता का प्रारम्भ तो इसी प्रकार की धमकी से होता है; किन्तु जीवन जैसे जटिल होता जाता है, दासता की रीति भी बदलती जाती है। जीवन की जटिलता के कारण यह तरीका अत्याचारी के लिए असुविधा-जनक हो उठता है। गुलामो से काम लेने के लिए उन्हे खिलाना-पिलाना पडता है, कपडे देने पडते हैं, और उनके काम की निगरानी करनी पडती है, और इसलिए उनकी संख्या थोडी ही रह जाती है। इसके अलावा ऐसा करने से मालिक को बराबर गुलामो के साथ रहना पडता है और मार डालने की धमकी दे-देकर उनसे काम कराना होता है और इसलिए लोगो को गुलाम बनाने की एक नयी रीति निकाली गयी।

पाँच हजार वर्ष पूर्व बाइबिल के अनुसार लोगो को अपनी मुट्ठी मे करने का यह नवीन सुविधा-जनक और चतुरतापूर्ण साधन यूसुफ़ ने खोज निकाला था। आजकल जङ्गली जानवरों और अक्खड घोडो को सधाने में जो तरकीब काम आती है वह उससे मिलती-जुलती है। यह तरकीब है भूखों मारने की।

बाइबल में इस तरकीब का इस प्रकार वर्णन है—

४८. और यूसुफ़ ने सातों वर्ष का मिश्र देश का नाज इकट्ठा किया और वह सारा नाज शहरों में जमा कर रखा; शहरो के चारों ओर के खेतो का जो नाज था वह भी शहरो मे भर लिया ।

४९. यूसुफ़ ने समुद्र की रेती की तरह नाज इकट्ठा किया; अन्त में उसने गिनती करना भी छोड़ा, क्योंकि वह बेशुमार था ।

५३. इसके बाद मिश्र देश के सुकाल के सात वर्ष समाप्त हुए ।

५४. और यूसुफ़ के कथनानुसार सात वर्ष का दुष्काल पड़ा । सभी देशों मे दुष्काल था, पर मिश्र-भर मे खाने को मौजूद था ।

५५. फिर जब सारे मिश्र देश में खाने की कमी हुई तब लोगों ने फैरोआ के पास जाकर भोजन के लिए चिल्लाना शुरू किया, फैरोआ ने सब मिश्र-निवासियों से कहा—'यूसुफ के पास जाओ, वह जैसा कहे, वैसा करो ।'

५६. सारी पृथ्वी-भर मे अकाल का ज़ोर था, यूसुफ ने अपने सब कोठार खोल दिये और मिश्र-वासियो को नाज बेचने लगा । मिश्र देश मे दुष्काल का खूब ज़ोर था ।

५७. सभी देशों के लोग मिश्र मे यूसुफ के पास नाज खरीदने को दौड़े, क्योंकि सभी देशों मे भयानक दुष्काल था ।

तलवार की धमकी से लोगो को गुलाम बनाने की असली रीति का उपयोग करके दुष्काल के समय के लिए युसुफ़ ने सुकाल मे नाज इकट्ठा किया । इस प्रकार भूख के द्वारा मिश्र के आस-पास के देशों के लोगो को यूसुफ़ ने सरलतापूर्वक और निश्चित रूप से अपने तावे में कर लिया । फिर जब लोग भूखो मरने लगे तब उसने ऐसी तरकीब की, जिससे लोग सदा के लिए उसके कब्ज़े मे रहे । (प्रकरण ४७ पद १३--२६ मे इसका नीचे लिखे अनुसार वर्णन है ।)

पीछे सारे देश मे खाने को न रहा, क्योंकि दुष्काल भयङ्कर था । मिश्र तथा कैनान भर मे मुर्दनी-सी छा गयी ।

यूसुफ ने जो नाज बेचा था, उसके बदले में मिश्र तथा कैनान मे जितना रूपया था, सब इकट्ठा कर लिया और यह सारा धन यूसुफ़ ने फैरोआ के घर में ला रखा।

जब मिश्र तथा कैनान मे रूपया न रहा, तो सबने यूसुफ़ के पास आकर कहा—हमे खाने को दो। हमारे पास पैसा नहीं है, पर तुम्हारे होते हुए क्या हम भूखों मरेंगे?

यूसुफ ने कहा—तो तुम अपने पशु लाओ। द्रव्य नही रहा है, तो तुम्हारे पशु लेकर तुम्हें अनाज देंगे।

तब लोग यूसुफ के पास अपने पशु ले गये और यूसुफ ने उनके घोड़े, गाय, बैल, मेढ़े, बकरे और गधे लेकर बदले मे उन्हें अनाज दिया। और उसके सब पशु लेकर एक साल तक उन्हे अन्न दिया।

वर्ष समाप्त होने पर दूसरे वर्ष वे लोग यूसुफ के पास आये और कहने लगे—महाराज! हम आपसे कुछ छिपाना नही चाहते। हमारा द्रव्य समाप्त हो गया है और हमारे पशु भी बिक गये हैं। आप जानते हैं कि अब हमारे पास हमारे शरीर और हमारी ज़मीन के सिवाय और कुछ भी बाकी नही रहा। क्या हम लोग तुम्हारी आँखों के सामने अपनी ज़मीन के साथ खत्म हो जायेगे? हमे और हमारी ज़मीन को अन्न के बदले में ले लो, हम और हमारी ज़मीन फैरोआ के तावे में रहेगी। हमें बीज दो, जिससे हम जीते रहें और ज़मीन उजाड़ न हो जाये।

यूसुफ़ ने मिश्र की सारी जमीन फैरोआ के लिए खरीद ली। मिश्र-वासियों में से हरएक ने अपने खेत बेच डाले। क्योकि वे अकाल से पीडित हो रहे थे। बस, सारी ज़मीन फैरोआ की मिल्कियत हो गयी।

आदमियों के लिए उसने यह किया कि मिश्र के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक के सब लोगो को शहरो मे लाकर बसाया।

सिर्फ़ पुरोहितो की ज़मीन यूसुफ़ ने नही खरीदी, क्योकि वह फैरोआ की ओर से वृत्ति के रूप मे दी गयी थी और उसीसे वे अपनी गुजर करते थे।

तब यूसुफ ने लोगो से कहा—देखो, आज हमने तुम्हें और तुम्हारी भूमि को फैरोआ के लिए ख़रीद लिया है। अब लो यह बीज और जमीन जोतो-बोओ। पर जब नाज पके, तो फ़सल का पाँचवाँ भाग फैरोआ को देना और शेष चार भाग तुम्हारे रहेगे। इसमें से तुम बीज के लिए रख छोड़ना और अपना, अपने कुटुम्ब का तथा अपने बाल-बच्चो का भरण-पोषण करना।

लोगो ने कहा—तुमने हमे जीवन-दान दिया है। महाराज! हमपर कृपा-दृष्टि रखो, हम फैरोआ के सेवक होकर रहेगे।

यूसुफ़ का बनाया हुआ नियम मिश्र देश मे आज तक जारी है कि जमीन की पैदावार का पाँचवाँ भाग फैरोआ को मिलता है। केवल पुरोहितो की ज़मीन इस नियम से मुक्त है, क्योंकि वह फैरोआ ने ख़रीदी नही थी।

इससे पहले लोगो की मजदूरी मे लाभ उठाने के लिए फैरोआ को उनपर अत्याचार और ज़बरदस्ती द्वारा काम करना पडता था। पर अब तो ज़मीन और फसलें सभी पर फैरोआ का अधिकार होने से केवल नाज के भण्डार को बलपूर्वक अपने अधीन रखने की जरूरत थी और फिर भूख उनसे सब काम करा लेती।

सारी ज़मीन फैरोआ की हो गयी और लोगो से वसूल किया हुआ नाज का भण्डार भी उसी के अधीन था, इसलिए प्रत्येक मनुष्य से तलवार के भय से काम करवाने के बदले उसे केवल नाज को ही बल-पूर्वक अपने कब्ज़े मे रखना था—और, लोग तलवार से नही वरन् भूख से उसके गुलाम बनने लगे।

किसी वर्ष अकाल पडे तो सभी लोगो को फैरोआ चाहे तो भूखो मार सकता है और सुकाल मे भी जिसके पास किसी आकस्मिक घटना के कारण अन्न न हो वह भी भूखो मारा जा सकता है। इस प्रकार गुलाम बनाने की दूसरी रीति स्थापित हुई।

गुलाम बनाने की पहली रीति मे सत्ताधारी मनुष्य के पास केवल

सशस्त्र सिपाहियो ही की जरूरत होती है, जो गॉव के लोगो पर अपना रोब जमाकर और मौत का डर बताकर अपने मालिक की आज्ञा का लोगो से पालन कराते है। इस रीति मे केवल अपने सैनिको को ही दूसरो से छीनी हुई सम्पत्ति मे से भाग देना पडता है। किन्तु दूसरी पद्धति मे अनाज के भण्डारो की तथा ज़मीन की भुखमरो से रक्षा करने-वाले सिपाहियो के अतिरिक्त अत्याचारी को और किस्म की मदद देनेवाले तथा अनाज को इकट्ठा करने तथा बेचने का काम करनेवाले अनेक छोटे-मोटे यूसुफ़ो की आवश्यकता पडती है। इसलिए अन्यायी को अपनी उपज मे से कुछ भाग इन लोगो को भी देना पड़ता है, यूसुफ को सुन्दर वस्त्र, सोने की अँगूठी, नौकर-चाकर तथा अनाज और उसके भाइयो तथा सगे-सम्बन्धियो को सोना-चॉदी प्रदान करना पडता है। इसके अतिरिक्त दूसरी पद्धति मे केवल व्यवस्थापक तथा नौकर-चाकर ही भागीदार नही होते, बल्कि स्थिति ही ऐसी होती है कि जिन किसी के पास भी अनाज-भण्डार होता है, वे सब अन्न-विहीन भूखे लोगो पर अन्याय करने मे सम्मिलित हो जाते है। पशु-बल पर अवलम्बित पहली पद्धति मे प्रत्येक शस्त्रधारी मनुष्य निर्बलो और नि.शस्त्र लोगो पर अन्याय करने मे हिस्सा लेने लगता है। ठीक इसी तरह भूखो मारने की नीति पर अवलम्बित दूसरी पद्धति मे प्रत्येक मनुष्य, जिसके पास नाज भरा हुआ है, इस अन्याय-व्यापार में भागीदार बन जाता है और जिनके पास नाज नही होता, उनपर हुकूमत करता है।

पहली पद्धति की अपेक्षा इस पद्धति में जुल्म करनेवालो को यह लाभ है कि (१) मज़दूरो से अपनी इच्छानुसार काम करा लेने मे विशेष श्रम नही करना पडता, मज़दूर स्वयं ही आते है और अपने को उसके हाथों बेच डालते है, और (२) पहली पद्धति की अपेक्षा बहुत थोडे मनुष्य उनके अन्याय-पाश से बच सकते है। इस दूसरी पद्धति मे अत्या-चारी की हानि सिर्फ़ इतनी ही है कि पहली पद्धति की अपेक्षा इसमे अधिक लोगो को भाग देना पडता है।

इस दूसरी पद्धति में पीडित लोगों को लाभ यह है कि उन्हे सदा निरे पशु-बल के अधीन रहना नहीं पड़ता, इससे वे निश्चिन्त रहते हैं और दलित अवस्था मे से निकालकर स्वयं अत्याचारी-वर्ग मे शामिल होने की आशा वे कर सकते है । अनुकूल अवस्था मे इस स्थिति को प्राप्त भी कर लेते हैं । उनके लिए ख़राबी यह है कि अन्याय मे भाग लेने से वे कभी बच नही सकते। दरिद्र अवस्था में वे अन्याय-पीडित होगे तो समृद्ध अवस्था में वे स्वयं दूसरों पर अन्याय करने लगेंगे ।

गुलाम बनाने की यह नयी पद्धति प्रायः पुरानी पशु-बलवाली नीति के साथ-ही-साथ काम मे आती है । जैसी-जैसी ज़रूरत होती है, वैसे-वैसे बलवान मनुष्य पहली पद्धति को संकुचित करता जाता है और दूसरी पद्धति का अधिकाधिक प्रयोग करता जाता है। किन्तु सत्ताधारी को इस पद्धति से भी पूरा-पूरा सन्तोष नहीं होता । अधिक-से-अधिक मज़दूरों की मेहनत से अधिक-से-अधिक लाभ उठाना और जितने अधिक लोग बन सकें, उन्हें गुलाम बनाना चाहता है। इसलिए एक तीसरी पद्धति का आविष्कार होता है ।

यह नयी तीसरी पद्धति कर लगाने की है । दूसरी पद्धति के अनुसार यह भी भूखों मारने की नीति पर अवलम्बित है, परन्तु मनुष्यों से उसकी रोटी छीन लेने के बाद उन्हें गुलाम बनाने के लिए उनकी जीवन-सम्बन्धी दूसरी आवश्यकतायें भी छीन ली जाती है । बलवान मनुष्य अपने ही द्वारा बनाये हुए सिक्को को इतनी बडी संख्या मे वसूल करता है कि इन सिक्को को प्राप्त करने के लिए गुलामो को यूसुफ़ द्वारा निश्चित पन्चमांश अनाज की अपेक्षा कही अधिक नाज बेचना पडता है; और केवल इतना ही नही, बल्कि अपनी ख़ास ज़रूरत की चीज़ें, माँस चमड़ा, ऊन, कपडा, बरतन और मकान तक बेच डालने पडते हैं । इस प्रकार अत्याचारी के भूख के डर से नही, बल्कि शीत, प्यास तथा अन्य प्रकार की आपत्तियों का डर दिखाकर अपने गुलामों को सदा अपने कब्ज़े मे रख सकता है ।

इस ढङ्ग से तीसरी तरह की गुलामी—पैसे की ग़ुलामी अस्तित्व मे आती है। इसमे सबल मनुष्य निर्बल से कहता है—तुममे से प्रत्येक मनुष्य के साथ मैं चाहूँ जैसा व्यवहार कर सकता हूँ। मै तुम्हे बन्दूक से मार सकता हूँ, अथवा तुम्हारी आजीविका देनेवाली तुम्हारी ज़मीन छीनकर तुम्हे नष्ट कर सकता हूँ, अथवा इसी रुपये से, जो तुम मुझे दोगे, मै तुम्हारे खाने का सारा नाज खरीदकर और दूसरे लोगो के हाथ बेचकर तुम्हे भूखो मार सकता हूँ; मैं तुम्हारे कपडे, गहने, तुम्हारा घर-बार—ग़र्ज़ेकि तुम्हारे पास जो-कुछ है वह सभी छीन सकता हूँ। पर ऐसा करना मुझे अच्छा नहीं लगता; इसलिए मैं तुम्हे इस बात की स्वतन्त्रता देता हूँ कि तुम जो चाहो सो काम करो, बस, तुम्हे इतना करना होगा कि मनुष्य-कर के रूप मे, अथवा तुम्हारी ज़मीन के हिसाब से, या तुम्हारे खाने-पीने की चीज़ो अथवा वस्त्राभूषण या मकानो के लिहाज़ से मैं जितना रुपया मॉगूँ, वह तुम मुझे दे दो। तुम यह रकम अदा कर दो और फिर आपस मे चाहे जैसे रहो, जो चाहो सो करो; पर इस बात को समझ लो कि मै न तो अनाथ-विधवाओ की रक्षा करूँगा, न बीमार और बूढे लोगो की, और न ऐसे लोगो की जिनका घर-बार आग से जल गया है। मैं तो सिर्फ इस बात का इन्तज़ाम करूँगा कि रुपये का लेन-देन ठीक तरह चलता रहे। जो लोग ठीक तौर से निश्चित रकम मुझे देते रहेगे, उनकी ही रक्षा करने की ज़िम्मेवारी मैं लेता हूँ। मुझे इस बात की पर्वा नही कि लोग इस रुपये को कहाँ से और किस प्रकार लाते है। अपनी मॉग की स्वीकृति-स्वरूप अन्यायी बलवान मनुष्य अपने बनाये हुए सिक्के लोगो मे बॉट देता है।

दूसरी पद्धति की अपेक्षा तीसरी पद्धति मे व्यवस्था रखने का काम कही अधिक जटिल है। दूसरी पद्धति मे तो नाज उगाहने का काम ठेके पर दिया जा सकता है, जैसे पुराने जमाने मे होता था, किन्तु लोगो के ऊपर कर लगाने से तो कर लगाने योग्य मनुष्यो की, और कोई मनुष्य अथवा कोई उद्योग कर लगने से बच न जाय, इस बात की बडी भारी

व्यवस्था रखनी पड़ती है और इसलिए इस पद्धति मे अत्याचारियो की दूसरी पद्धति की अपेक्षा अधिक मनुष्यो को अपनी आय का भाग देना पडता है। इस पद्धति मे स्थिति कुछ ऐसी होती है कि जिनके पास पैसा है, वे सभी लोग अन्यायी के भागीदार बन सकते हैं, फिर चाहे वे देशी हो अथवा विदेशी। पहली और दूसरी पद्धति की अपेक्षा अन्यायी को तीसरी पद्धति मे ये लाभ विशेष होते है—

दूसरी पद्धति मे किसानो से फ़सल की पैदावार के अनुसार ही लगान आदि वसूल किया जा सकता है, क्योंकि यदि उनके पास अधिक नाज नही है तो उनसे अधिक प्राप्ति की कोई सूरत ही नहीं रहती। किन्तु इस नवीन द्रव्य-पद्धति मे तो जितना चाहो उतना वसूल कर लो और वह भी सरलतापूर्वक। क्योंकि बेचारे किसान को ऋण चुकाने के लिए अपने पशु, वस्त्र और मकान तक बेचने पडते है। लोहे के पेच की तरह द्रव्य-कर को सरलतापूर्वक अन्तिम सीमा तक पहुँचाया जा सकता है और सुनहले अण्डे प्राप्त किये जा सकते है—बस इतना ही ख़याल रखना पड़ता है कि मुर्गी बिलकुल मर न जाय।

दूसरा लाभ यह है कि इस पद्धति मे जिनके पास ज़मीन नही होती है उनपर भी अन्यायी अपना हाथ फेर सकता है। पहले तो ये लोग अपनी मेहनत का थोडा-सा भाग अत्याचारी को देकर उसके अन्याय से छुटकारा पा जाते थे। अब तो अनाज के बदले में मज़दूरी का जो भाग देते थे, उसे देने के बाद भी कर के रूप मे मज़दूरी का और भी बहुत-सा हिस्सा देना पडता है।

दूसरी पद्धति की अपेक्षा इस तीसरी पद्धति मे पीडित लोगो को लाभ इतना ही है कि इसमें कुछ अधिक स्वतन्त्रता रहती है। वे जहाँ चाहे रहे, जो चाहे करें, वे खेत बोये या न बोये, किसी को उन्हे हिसाब देने की ज़रूरत नहीं—और यदि उनके पास द्रव्य है तो वे अपने को एकदम स्वतन्त्र भी समझ सकते है, और यदि उनके पास कुछ फाज़िल रुपया हो तो वे केवल स्वतन्त्र ही नहीं, बल्कि खुद अत्याचारी का पद प्राप्त

करने की भी आशा कर सकते हैं, और थोड़े समय के लिए वे उस स्थिति को पहुँच भी जाते हैं।

अन्याय-पीड़ित लोगों को इसमें हानि यह है कि औसतन उनकी हालत बहुत ख़राब हो जाती है। उनकी कमाई का अधिकांश भाग उन से ले लिया जाता है, क्योंकि उनकी मेहनत पर मज़े उड़ानेवाले लोगों की संख्या बढ़ जाती है और इसलिए उनके भरण-पोषण का भार बचे हुए थोड़े लोगों पर पड़ता है।

गुलाम बनाने की यह तीसरी पद्धति भी बहुत पुरानी है। पहली दोनों पद्धतियों को एकदम ही छोड़े बिना उनके साथ साथ अमल में आती रही है।

इन तीनों पद्धतियों की पेचदार कीलों से मिसाल दी जा सकती है, जो मज़दूरों को दबानेवाले तख्ते में लगी हुई हों। बीच का पेंच जिसपर सबका दारोमदार है और जिसके बिना दूसरे पेच बेकाम है, जो सबसे पहले कसा जाता है और कभी ढीला नहीं किया जाता है—अङ्ग-दासता का पेंच है, जिसमें मार डालने की धमकी देकर कुछ लोग दूसरे लोगों को अपना गुलाम बनाते हैं। लोगों की ज़मीन तथा अनाज छीनकर उन्हें ग़ुलाम बनाना, यह दूसरा पेच है। पहले पेच के बाद यह दूसरा पेच कसा जाता है। इसमें भी मौत का डर दिखाकर ही ज़मीन और समाज पर क़ब्ज़ा क़ायम रखा जाता है। लोगों के पास जो रुपया नहीं होता है, उसे कर के रूप में लोगों से माँगकर गुलाम बनना तीसरा पेंच है, और इसमें भी जो रुपये की माँग होती है, उसके पीछे भी हत्या की धमकी तो रहती ही है।

ये तीनों पेच कस दिये जाते हैं और ढीले उसी हालत में किये जाते हैं, जब इनमें से एक और भी अधिक ज़ोर के साथ कस दिया जाता है। श्रम-जीवियों को पूर्ण रूप से गुलाम बनाने के लिए ये तीनों ही जरूरी हैं और हमारे समाज में इन तीनों का प्रयोग हो रहा है।

तलवार से मार डालने की धमकी देकर लोगों को ग़ुलाम बनाने

की पहली पद्धति नष्ट तो कभी हुई ही नही और जबतक अत्याचार का अस्तित्व रहेगा, नष्ट होगी भी नही। क्योकि यह धमकी ही सभी प्रकार के अत्याचारो का आधार है।

हम लोग निश्चित रूप से समझते हैं कि हमारे सभ्य-संसार से गुलामी बिलकुल नष्ट हो गयी है और उसके अन्तिम अवशेष भी अमेरिका तथा रूस मे भस्मीभूत हो गये। हम समझते है कि अब कुछ जंगली जातियों मे ही यह प्रथा पायी जाती है, हमारे अन्दर तो अब उसका कोई अस्तित्व ही नही है। किंतु जब हम यह सोचते हैं, तो एक छोटी-सी बात भूल जाते है—उन लाखो सहस्र सैनिको को हम भूल जाते है कि जो प्रत्येक राज्य मे पाये जाते है और जिनके बिना कोई भी राज्य टिक नहीं सकता। ये लाखो सैनिक अपने शासकों के गुलाम नही तो और क्या हैं? क्या ये लोग मृत्यु और यातना की धमकी के कारण, जो धमकी कभी-कभी अमल मे आती है, अपने सेनानायको की आज्ञा पालन करने के लिए मजबूर नही होते? अन्तर केवल इतना ही है कि इन गुलामो की तावेदारी को गुलामगीरी नही अनुशासन कहते हैं, और दूसरे गुलाम मरण-पर्यन्त गुलामी करते हैं, किन्तु ये सैनिक नौकरी की मियाद मे ही गुलामी करते है।

गुलाम बनाने की ये तीनों पद्धतियॉ सदा प्रचलित रही हैं और आज भी मौजूद है, पर लोग या तो उनकी पर्वा ही नहीं करते या उनकी आवश्यकता और अनिवार्यता को सिद्ध करने के लिए नये-नये बहाने खोज निकालते है। आश्चर्य की बात तो यह है जिसपर अन्य सभी बातो का आधार रहता है, जो पेच सबसे अधिक कसा होता है और जिसके अधीन समाज की सभी बाते रहती है, वही हमे दिखायी नही पडता।

प्राचीनकाल मे जब समस्त समाज-तंत्र व्यक्तिगत दासता पर निर्भर था, तब बडे-से-बडे दिमागों को भी यह बात न दीख पडी। प्लैटो, जेनोफ़न अरस्तू और रोमन लोग तो समझते थे कि इससे विपरीत तो कुछ हो ही नही

सकता। दासता तो युद्ध का स्वाभाविक और अनिवार्य परिणाम है और इसके बिना मानव-समाज के अस्तित्व की कल्पना ही असम्भव है। इसी प्रकार मध्य-युग में लोग भूमि-स्वामित्व के अर्थ को नहीं समझ पाये, जिसपर उनके समय के समस्त आर्थिक तंत्र की रचना थी।

ठीक इसी तरह आजकल हमारे ज़माने मे कोई नहीं देखता और शायद कोई देखना भी नही चाहता कि इस समय के अधिकांश लोगो की दासता का कारण वह कर है, जिसे सरकार उन लोगो से वसूल करती है, जिन्हें उसने उन्हीं करों के द्वारा पालित-पोषित अपने माली तथा फ़ौजी विभागों-द्वारा अपना ग़ुलाम बना रखा है।

: २१ :

कोई आश्चर्य नहीं कि सदा से गुलामी के पाश मे जकड़े हुए गुलाम खुद भी अपनी स्थिति को नही समझते और जिस अवस्था मे सदा से रहते चले आये है, उसीको वे मानव-जीवन की स्वाभाविक स्थिति मानते है और जब उनकी दासता के स्वरूप मे कुछ परिवर्तन होता है, तो वे उसी छोटे-मोटे सुधार को अपने सन्तोष का कारण मान बैठते है। इन गुलामो के मालिक भी वास्तव मे यह समझते हैं कि वे एक पेच को ढीला करके अपने गुलामो को कछ स्वतन्त्रता दे रहे है, हालाँकि दूसरे पेच के आवश्यकता से अधिक कस जाने के कारण ही वे ऐसा करने को बाध्य होते हैं।

गुलाम और मालिक दोनों ही अपनी-अपनी स्थिति के अभ्यस्त हो जाते है। गुलाम तो यह जानते ही नहीं कि आज़ादी क्या चीज़ है? वे तो सिर्फ इतना ही चाहते हैं कि उनकी स्थिति में कुछ सुधार अथवा उनकी अवस्था मे कुछ परिवर्तन हो जाय। अपने अन्याय-अत्याचार को छिपाने के लिए उत्सुक मालिक भी प्राचीन पद्धति के स्थान पर दासता के जिन नवीन रूपो की वे स्थापना करते हैं, उनका एक नया अर्थ लगाने की चेष्टा करते है।

किन्तु यह बात समझ मे नहीं आती कि प्रगतिशील कहलानेवाला अर्थ-शास्त्र लोगो की आर्थिक स्थिति का विचार करते समय लोगो की साम्पत्तिक अवस्था के आधार-स्तम्भ को देखना कैसे भूल जाता है? शास्त्र का काम है मुख्य घटनाओ के सम्बन्ध और बहुत-सी घटनाओं के सामान्य

कारणों की खोज करना। किन्तु आधुनिक सम्पत्ति-शास्त्र के अधिकांश कर्णधार बिलकुल इससे उल्टा कार्य कर रहे हैं। घटनाओं के भीतरी रहस्यों और सम्बन्धों को वे कलेजे की तरह छिपाना चाहते हैं और बिलकुल सीधे-सादे महत्वपूर्ण सवालों को चालाकी और सफ़ाई के साथ टाल देते हैं।

आधुनिक अर्थशास्त्र का यह व्यवहार उस अड़ियल टट्टू की भाँति है, जो उतार की जगह पर, जहाँ बोझा नहीं खींचना पड़ता सरलतापूर्वक चलता रहता है, किन्तु जहाँ बोझा खींचने का अवसर आया कि तुरन्त ही, जैसे दूसरी तरफ उसे कोई काम हो, वह दूसरे रास्ते की ओर मुड़ जाता है। अर्थशास्त्र के सामने जब कोई आवश्यक और गम्भीर प्रश्न आता है, तो वह उस प्रश्न से बिलकुल असम्बद्ध प्रश्नों की पाण्डित्यपूर्ण चर्चा करने लग जाता है। लोगों का ध्यान उन बातों की ओर से हटाना ही इसका एकमात्र कारण है। अधिकांश आदमी दूसरे व्यक्ति की आज्ञा के बिना न तो काम कर सकते हैं, और न भोजन ही कर सकते है। इस अस्वाभाविक, राक्षसी, कभी समझ में न आनेवाली और अनुपयुक्त ही नहीं बल्कि हानिकारक स्थिति का क्या कारण है? यदि आप अर्थशास्त्र से इसका उत्तर माँगेंगे तो वह गम्भीर मुद्रा बनाकर कहेगा—ऐसा होने का केवल यही कारण है कि कुछ आदमी दूसरे मनुष्यों की मेहनत और भरण-पोषण का प्रबन्ध और निरीक्षण करते हैं।

तुम पूछोगे—'यह कैसा स्वामित्व का अधिकार है, जो यह आज्ञा देता है कि एक श्रेणी के मनुष्य दूसरी श्रेणी के मनुष्यों की ज़मीन, खुराक और मेहनत को छीन लें? तुम्हे गम्भीरतापूर्वक फिर उत्तर मिलेगा—"इस अधिकार की रचना परिश्रम का संरक्षण के तत्त्व पर की गयी है।"—अर्थात् कुछ लोगों के परिश्रम का संरक्षण दूसरे लोगों के परिश्रम का अपहरण करके किया जाता है।

"वह रुपया क्या चीज़ है, जिसे सरकार स्थान-स्थान पर अपने अधिकारियों द्वारा ढलवाती है, और जो श्रमिकों के पास से बहुत बड़ी संख्या

में वसूल किया जाता है तथा राष्ट्रीय ऋण के रूप में भी इसका भार मज़दूरो के बेचारे भावी वंशजो पर डाला जाता है ?" जब तुम ऐसा सवाल करोगे और साथ ही यह भी पूछोगे कि "यह रुपया लोगो के पास से जिस हद तक निकाला जा सकता है निकाला जाता है, तो क्या इतने भारी करो का परिणाम कर-दाताओं की आर्थिक दशा पर कुछ भी नहीं पडता ?" तो तुम्हे पूर्ण निश्चयात्मक रूप से उत्तर मिलेगा—"रुपया भी शक्कर और कपडे की तरह एक प्रकार का व्यापारी पदार्थ है। अन्तर केवल इतना ही है कि शक्कर और कपडे से भी, विनिमय करने में, यह अधिक सुविधाजनक है। करो के कारण रिआया की माली हालत पर कुछ भी असर नही पड़ता। धनोपार्जन, विनिमय तथा वितरण एक वस्तु है और कर बिलकुल ही दूसरी चीज़।"

तुम पूछोगे कि सरकार अपनी इच्छा के अनुसार भाव घटाती-बढ़ाती है और जिन-जिनके पास ज़मीन होती है, उन सबको कर-वृद्धि के द्वारा गुलाम बनाती है तो क्या इसका भी लोगो की आर्थिक अवस्था पर कुछ भी असर नही पडता ? अत्यन्त गम्भीर होकर अर्थशास्त्र जवाब देगा, "बिलकुल नही ! पैदावार, विनिमय और क्रय-विक्रय एक अलग विषय है; और कर लगाना तथा शासन-कार्य दूसरा विषय है, इसका अर्थशास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं।"

अन्त मे तुम पूछोगे—"सरकार ने सारे राष्ट्र को गुलामी मे जकड दिया है, वह अपनी इच्छानुसार सब लोगो को पंगु बना सकती है, उन्हे सैनिक गुलामी में फँसाकर उनकी अधिकांश आमदनी को वह उनसे छीन लेती है। क्या इन सबका जनता की साम्पत्तिक अवस्था पर कुछ भी प्रभाव नहीं पडेगा ?" तो संक्षेप मे इसका तुम्हे जवाब मिलेगा— "यह सारा सवाल ही दूसरा है; यह तो राजनीति का विषय है।"

कितने ही आदमी इस बात से यह समझेंगे कि शास्त्र मूर्खता के कारण ऐसा करता है। किन्तु शास्त्र के सिद्धान्तो का यदि विश्लेषण करें, तो हमे विश्वास हो जायगा कि यह मूर्खता नही प्रत्युत् बड़ी चतुरता है।

इस शास्त्र का एक निश्चित हेतु है और यह उनको बराबर निभाता रहता है। लोगों को सन्देह एवं भ्रम मे रखना और मानव-जाति को सत्य अथवा कल्याण की ओर प्रगति करने से रोकना, वही इसका ध्येय है। एक वाहियात अन्ध-विश्वास बहुत दिनों से लोगों में चला आता है और वह अभी तक क़ायम है, और इस अन्ध-विश्वास ने भयङ्कर-से-भयङ्कर धार्मिक अन्ध-विश्वासों से भी बढकर हानि पहुँचायी है। इसी वहम को अर्थ-शास्त्र अपनी पूरी ताकत के साथ टिकाये हुए है।

यह वहम भी दूसरे धार्मिक अन्ध-विश्वासों जैसा ही है। एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य के प्रति जो कर्तव्य है, उससे भी कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य एक काल्पनिक व्यक्ति के प्रति है, इस बात का यह शास्त्र प्रतिपादन करता है। धर्म-शास्त्र मे यह काल्पनिक व्यक्ति ईश्वर है और राजनीति-शास्त्र मे यह व्यक्ति है राज्य।

लोक-कल्याण के लिए राज्य की अत्यन्त आवश्यकता है और उसे अपना फर्ज अदा करना पडता है—जनता को व्यवस्थित रखना होता है और शत्रुओं से उसकी रक्षा करनी पडती है। ऐसा करने के लिए राज्य को फौज तथा रुपये की आवश्यकता होती है। राज्य के नागरिकों को मिलकर इस रक़म को पूरा करना चाहिए। इसलिए मनुष्यों के सारे पारस्पिक सम्बन्धों का विचार राज्य के अस्तित्व को ध्यान में रखकर ही करना चाहिए।

एक साधारण अपढ़ मनुष्य कहता है—"मुझे अपने पिता को खेती के काम मे सहायता पहुँचानी है, मुझे शादी करनी है, मगर बजाय इसके, मुझे पकडकर छ: वर्ष की सैनिक-शिक्षा के लिए कैम्प मे भेज देते हैं, मै सिपाहीगिरी छोडकर खेती तथा अपने कुटुम्ब का भरण-पोषण करना चाहता हूँ, किन्तु जबतक मै रुपये न दूँ तबतक आस-पास सौ मील तक मुझे खेती करने की आज्ञा ही न मिले, और पैसा तो मेरे पास एक भी नहीं है। फिर मैं जिसको रुपये दूँगा, उसे खेती का बिलकुल ज्ञान नहीं है और वह इतने अधिक दाम माँगता है कि मुझे ज़मीन की खातिर

अपनी अधिकाँश मेहनत उसको भेंट कर देनी पडती है। मैं कुछ कमाने की फ़िक्र करता हूँ और अपने व्यय के अतिरिक्त बचे हुए पैसे अपने बाल-बच्चो को दे देना चाहता हूँ; लेकिन गाँव का एक सिपाही आता है और जो कुछ मेरे पास बचा था, टैक्सों के नाम पर उठा ले जाता है। मै फिर कमाता हूँ और वह फिर आकर छीन ले जाता है। मेरी सारी—तिल-तिलमात्र—आर्थिक दशा सरकारी माँग पर आश्रित है। मै समझता हूँ, अब तो राज्य के बन्धनों से मुक्त होने पर ही मेरी और मेरे बन्धुओ की स्थिति सुधर सकती है।"

किन्तु शास्त्र कहता है; "तुम मूर्खता के कारण ऐसा सोचते हो। सम्पत्ति की उत्पत्ति, हेर-फेर और खरीद-फरोख़्त का अध्ययन करो और आर्थिक प्रश्नो को राज्य के मसलो मे मत मिलाओ। तुम अपनी जिस परवशता की ओर संकेत करते हो, वह तुम्हारे लिए अंकुश-रूप नही है, वरन् यही वे कुर्बानियाँ है, जो अन्य लोगों के साथ तुम्हे अपनी स्वतन्त्रता और कल्याण के लिए करनी चाहिए।"

इसपर उपर्युक्त भोला-भाला आदमी फिर कहता है—किन्तु इन लोगो ने तो मेरे लडके को भी मुझसे छीन लिया है और मेरे दूसरे लडके को भी, जैसे-जैसे वह बडा होता जाता है, छीन ले जाने के लिए कर रहे हैं। वे ज़बरदस्ती उन्हे, मेरे पास से, छीन ले जाते हैं और शत्रुओ की गोलियों के सामने लडने के लिए दूसरे देश मे भेज देते हैं। मैंने या मेरे लडको ने इस देश का नाम तक नही सुना था। हमे यह भी नही मालूम हो पाता है कि यह युद्ध किस लिए हो रहा है। लेकिन जो ज़मीन हमे जोतने को नहीं दी जाती है तथा जिसके अभाव मे हमे भूखो मरना पडता है, वह किसी ऐसे शख्स ने ज़बरदस्ती अपने कब्ज़े मे कर रखी है कि जिसे हमने कभी नही देखा और न उसकी उपयोगिता ही हमारी समझ मे आती है। जिन करो के कारण मेरे लडके से सरकारी सिपाही मेरी गाय छीन ले गया है वह कर, मुझे पक्का विश्वास है, सरकारी अधिकारी और मन्त्रिमण्डल के अनेक सभासदो के पास जायेगा। इन्हे न तो मैं

पहचानता हूँ और न मुझे यह विश्वास है कि उनसे मुझे कुछ फ़ायदा होगा। तब फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि इन ज्यादतियों के द्वारा मेरी स्वतन्त्रता की रक्षा होगी और इन तमाम बुराइयों से मेरा भला होगा ?"

मनुष्य को गुलाम बना डालना सरल है। उससे वह काम करा लेना भी जिसे वह नापसन्द करे, सम्भव है। किन्तु जिस समय वह अत्याचारों को सहन कर रहा हो, उससे यह कबूल करा लेना असम्भव है कि ये बातें तो उसकी स्वतन्त्रता की द्योतक हैं। यह बिलकुल असम्भव है कि वह दुष्टता का अनुभव होने पर भी उसे कल्याणकारी वस्तु के नाम से पुकारे। इतना सब-कुछ होने पर भी वर्तमान समय का शास्त्र ऐसा मानने को विवश करता है।

सरकार—जुल्म पर आश्रित शस्त्रधारी सत्ता—लोगों पर अत्याचार करती है। वह पहले ही से यह निश्चय कर लेती है कि उन लोगों से वह क्या चाहती है। जिस प्रकार अंग्रेज़ों ने फ़िजी के लोगों के साथ किया, उसी प्रकार सरकार पहले से ही अन्दाज़ लगा लेती है कि मज़दूरों से काम लेने में उसे कितने सहायकों की आवश्यकता है। अपने इन मददगारों को वह सैनिकों, ज़मींदारों तथा कर वसूल करनेवाले लोगों में विभाजित कर देती है। गुलाम अपनी मज़दूरी देते हैं। वे यह भी मानते हैं कि मालिकों की ख़ातिर नहीं, वरन् अपनी स्वतन्त्रता और कल्याण के लिए उन्हें 'राज्य' नामक देवता की पूजा करने और उसके आगे रक्त का बलिदान करने की आवश्यकता है। उनको विश्वास है कि इस देवता को सन्तुष्ट कर लेने के बाद फिर उनकी छुट्टी है। इन भ्रान्तियों के फैलने का कारण सिर्फ यही है कि प्राचीन समय के सम्प्रदाय और पुरोहित धर्म के नाम पर ऐसी ही बातें करते थे और आज भी भिन्न-भिन्न विद्वान् और पंडितगण विज्ञान और शास्त्र के नाम पर यही बात कहते हैं। अपने को धर्माचार्य और पण्डित कहलानेवाले इन लोगों पर से अपनी अन्ध-श्रद्धा उठा लो तो इन बातों की निस्सारता अपने-आप प्रकट

हो जायगी। जो लोग दूसरों पर ज़ुल्म करते हैं, वे कहते है कि राज्य-व्यवस्था के लिए ऐसे ज़ुल्मों की आवश्यकता है, लोगों की शान्ति और कल्याण के लिए राज्य-व्यवस्था की ज़रूरत है । इसका अर्थ यह हुआ कि अत्याचारी लोगों की स्वतन्त्रता और कल्याण के लिए ही अत्याचार करते है। किन्तु लोगों को बुद्धि इसलिए मिली है कि वह अपना नफा-नुकसान समझें और जिसे अच्छा समझें स्वेच्छापूर्वक उसपर आचरण करने की उन्हें स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए।

शास्त्र के अनुसार तो सिद्ध किया जा सकता है कि बहुत-कम लोग जानते हैं कि सार्वजनिक हित किस बात मे छिपा हुआ है। दूसरे अधिकांश लोग इस सार्वजनिक हित को भले ही अहित समझें, फिर भी थोडे से लोग दूसरे लोगो को वह काम करने के लिए विवश कर सकते हैं, जिसे सार्वजनिक हित कहते हैं।

सत्य और कल्याण की ओर जानेवाली मानव-जाति की प्रगति को रोकनेवाला वहम और धोखेबाजी इसी एक बात मे छिपी हुई है । इस भ्रम और चालाकी को ज्यों-की-त्यों बनाये रखने के लिए राज्य से सम्बन्ध रखनेवाले सभी शास्त्र और खासकर अर्थशास्त्र कमर कसे हुए है। लोगो की परतन्त्रता और ग़ुलाम अवस्था को उनसे छिपाये रखना ही उनका उद्देश्य है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह तरह-तरह के साधन ढूँढता है। ज़ुल्म को, जो सम्पूर्ण गुलामी का मूलस्रोत है; यह स्वाभाविक और अनिवार्य बताता है। इस प्रकार यह लोगो को भयंकर धोखा देता है और उनकी दुर्दशा के वास्तविकता कारणों की ओर से उन की आँखे बन्द कर लेता है।

ग़ुलामी को मिटे बहुत समय हो गया। यूरोप से यह उठा दी गयी। अमेरिका और रूस मे भी यह नष्ट कर दी गयी। किन्तु केवल शब्दों मे ही इसे नष्ट किया गया है—व्यवहार मे यह ज्यों-की-त्यों मौजूद है।

ग़ुलामी क्या है? मनुष्यो को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जिस मेहनत की आवश्यकता है, वह स्वयं न करके दूसरों से जबरन

कराना ही गुलामी है। तमाम यूरोपियन देशों मे ऐसे-ऐसे आदमी पड़े हुए हैं जो बलपूर्वक दूसरे हज़ारो मनुष्यो के परिश्रम का अपने लिए उपयोग करते है और ऐसा करना वे अपना अधिकार समझते है; ऐसे लोग भी यूरोप में पड़े हुए हैं कि जो ज़ुल्म के शिकार होते हैं और जो ऐसा करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। इसका अर्थ यह है कि यूरोप मे गुलामी अपने भयंकर रूप मे विराजमान है।

गुलामी मौजूद तो है ही। लेकिन यह है कहाँ और किसमें ? यह गुलामी वही है, जहाँ वह सदा से रहती चली आयी है। यह जबरदस्त और हथियारबन्द मनुष्यों के द्वारा निर्बल और निरस्त्र मनुष्यो पर होनेवाले ज़ुल्मो मे छिपी रहती है।

जहाँ अत्याचारो को कानून-कायदे के नाम से पुकारा जाता है, वहीं दासता मौजूद मिलेगी। इन ज़ुल्मों का रूप भिन्न हो सकता है। या तो राजा स्त्रियो तथा नन्हे बच्चों की हत्या करते अथवा गाँवों को उजाड़ते हुए सेना-सहित चढ़ाई करें, या गुलामों के मालिक ज़मीन के लिए गुलामो के पास से मेहनत अथवा मूल्य लें और कुछ बाकी रह जाय उसकी वसूली के लिए शस्त्रधारी सैनिकों की सहायता लें, या कुछ निश्चित व्यक्ति गाँव-गाँव फिरकर वसूल करें, या मन्त्रि-मण्डल प्रान्त और जिलाधिकारियों द्वारा लगान लेवें और देने में आनाकानी करे तो सैनिक टुकड़ियाँ भेज दे—इनमे से किसी भी तरह लोगो पर अत्याचार किये जायँ, सभी गुलामी के रूप हैं। संक्षेप मे यही कहा जा सकता है कि जबतक तोप और तलवार के बल पर अत्याचार का अस्तित्व है तबतक सम्पत्ति लोगो के हाथ मे नही आ सकती, वह तो स्वेच्छाचारियो के हाथ मे अवश्य चली जायगी।

यदि किसी बर्तन में से पानी टपकता हो, तो उसमे छेद का होना अनिवार्य है। जब हम बर्तन का पेंदा देखेंगे तो हमे बहुत से सूराखो मे से पानी टपकता हुआ दिखाई देगा। इन काल्पनिक सूराखो को बन्द करने का हम चाहे जितना प्रयत्न करे फिर भी पानी टपकता ही रहेगा।

पानी टपकना बन्द करने के लिए तो जिस स्थान से पानी जाता हो; उसे ढूँढ निकालने और मिल जाने पर अन्दर से उस सूराख को बन्द करने की ज़रूरत है। लोगों की सम्पत्ति का अनियमितरूप मे जो वितरण हो रहा है, उसका अन्त करने का भी यही तरीका है—उन सूराखो को बन्द कर दिया जाये, जिनमे से होकर वह बह निकलती है।

यह कहा जाता है कि मज़दूर-मण्डल का निर्माण करो, तमाम धन को सार्वजनिक सम्पत्ति बनाओ और सारी ज़मीन को भी सार्वजनिक सम्पत्ति बना डालो। ये सब बाते जिन सूराखो में से पानी टपकता हुआ-सा हमे दिखाई पडता है, उनको बाहर की ओर से बन्द करने के समान है। यदि हमे मज़दूरो की सम्पत्ति को दूसरो के हाथो मे जाने देने से रोकना मंजूर है, तो हमे अन्दर से उस सूराख को ढूँढ निकालने की ज़रूरत है कि जहाँ से वास्तव मे पानी टपकता है। और यह सूराख है—सशस्त्र मनुष्य का निरस्त्र पर अत्याचार करना, मेहनत करनेवाले को सैनिक सत्ता के द्वारा उसकी मेहनत के लाभ से वंचित कर देना और उसकी ज़मीन छीन लेना तथा पैदावार लूट लेना। 'दूसरो को मार डालने का मुझे अधिकार है'—ऐसा कहनेवाला जबतक एक भी हथियारबन्द आदमी इस संसार मे रहेगा, फिर चाहे वह कोई हो, जबतक गुलामी और सम्पत्ति का अनियमित वितरण बराबर बना रहेगा।

धन परिश्रम का प्रतिनिधि है। हाँ, धन परिश्रम का प्रतिनिधि है। किन्तु किसी की मेहनत का ? हमारे समाज मे तो इस बात का एक भी उदाहरण मिलना दुर्लभ है कि रुपया उसके मालिक के परिश्रम का फल है। अधिकांश मे तो यह सब जगह दूसरे आदमियो की मेहनत का परिणाम होता है—मनुष्यो की भूतकाल और भविष्य की मेहनत का फल होता है। दूसरे लोगों से जबरदस्ती काम कराने की जो पद्धति चल रही है, यह उसीका प्रतिनिधि है।

सम्पत्ति की यदि बिलकुल ठीक और सीधी-साधी व्याख्या करें तो कह सकते हैं कि यह एक सांकेतिक शब्द है, जो दूसरे लोगों की मेहनत

को अपने स्वार्थ के लिए उपयोग करने का हक—और अधिक सच्चाई के साथ कहा जाय तो, शक्ति देता है। आदर्श अर्थ मे तो यह अधिकार अथवा शक्ति उसे ही मिलनी चाहिए कि जिसे धन परिश्रम के फल-स्वरूप मिला हो।

जब समाज मे ज़ोर-जबरदस्ती का अस्तित्व होता है, तब धन एक नये प्रकार की अव्यक्त गुलामी का कारण बन जाता है। प्राचीन दासता का स्थान यह परिवर्द्धित नयी गुलामी ले लेती है। एक गुलामो का मालिक यह समझता है कि पीटर, आइवन और सिडोर की मेहनत पर मेरा अधिकार है। लेकिन जहाँ प्रत्येक मनुष्य के पास से पैसे की माँग की जाती है, वहाँ जिस आदमी के पास धन होता है वह उन सब आदमियो की मेहनत अपने हस्तगत कर लेता है, जिन्हे रुपये की ज़रूरत होती है। 'मालिक को अपने गुलामो पर पूर्ण अधिकार है'—दासता के इस महान् निर्दय और दु:ख-स्वरूप को यह रुपया छिपा देता है। साथ ही रुपये की इस नयी व्यवस्था मे मालिक और गुलामो के बीच रहनेवाले वे माननीय सम्बन्ध, जिनके कारण व्यक्तिगत गुलामी की कठोरता कितने ही अशो मे कम हो जाती है, कही नाम को भी नही रह जाते है।

मैं इस समय यह बहस नही करता कि यह स्थिति मनुष्य की जाति के विकास के लिए प्रगति के लिए, अथवा कदाचित ऐसी ही किसी वस्तु के लिए आवश्यक है कि नहीं। मैने केवल अपने मन मे धन का अर्थ स्पष्ट करने और धन को जो मै 'परिश्रम का फल' समझता था मेरी उस भूल को सुधारने के लिए इतना विश्लेषण किया है। अब अनुभव ने मेरा समाधान कर दिया कि धन परिश्रम का प्रतिनिधि नहीं है, प्रत्युत अधिकाश में अत्याचार अथवा ज़ुल्म पर अवस्थित हानिकारक योजनाओ का प्रतिनिधि है।

'धन परिश्रम का प्रतिनिधि है'—धन का ऐसा वाञ्छनीय स्वरूप अब इस ज़माने मे नही रह गया है। कही-कही अपवादरूप मे ही धन परिश्रम के फल-स्वरूप दिखायी देता है। साधारणत. धन दूसरो के श्रम का उपभोग करने का साधन बन गया है।

धन और स्पर्द्धा के बढते हुए प्रचार के कारण, धन का यह अर्थ अधिकाधिक दृढ़ होता जा रहा है। धन का मतलब दूसरे के परिश्रम का लाभ छीन लेने का अधिकार अथवा शक्ति है।

धन एक नये प्रकार की गुलामी है। प्राचीन और इस नवीन गुलामी मे भेद सिर्फ इतना ही है कि यह अव्यक्त दासता है—इसे गुलामी मे गुलाम के साथ के सब मानवी-सम्बन्ध छूट जाते हैं।

रुपया रुपया है। उसका मूल्य उसके ही समान है जो हमेशा एक समान और कानून-से-निर्धारित होता है। और फिर गुलामी जिस प्रकार अनैतिक गिनी जाती है, उसी प्रकार धन का उपयोग अमानुषिक भी नही गिना जाता।

धन और गुलामी एक ही वस्तु है—इसके उद्देश्य एक है और इस के परिणाम भी एक से हैं। मज़दूरी पेशा लोगो की श्रेणी के एक समर्थ लेखक ने वास्तव में बहुत ही ठीक कहा है कि धन का उद्देश्य मनुष्यो को मूल नियमो से मुक्त कर देना है। यह मूल नियम जीवन का नैसर्गिक नियम है कि अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए प्रत्येक आदमी को शारीरिक परिश्रम करना चाहिए। धन का भी मालिको पर वही प्रभाव पडा है, जो गुलामगीरी मे पडता था—नयी और असंख्य नयी आवश्यकतायें, कभी तृप्त न होनेवाली अनगिनत नयी ज़रूरतें, रोज़ ढूँढ निकाली जाती हैं और इनका पोषण किया जाता है। बीभत्स लम्पटता, विषय-भोग और शक्तिहीनता की वृद्धि होती है। गुलामो पर इसका यह असर होता है कि उनकी मनुष्यता कुचल दी जाती है और उन्हे पशु बना डाला जाता है।

रुपया गुलामी का नया और भयङ्कर स्वरूप है और पुरानी व्यक्तिगत दासता की भाँति यह गुलाम और मालिक दोनो को पतित और भ्रष्ट बना देता है। इतना ही क्यो, यह उससे अधिक बुरा है, क्योंकि गुलामी में दास और स्वामी के बीच मानव-सम्बन्ध की स्निग्धता रहती है; वह उसे भी एकदम ही नष्ट कर देता है।

: २२ :

"सिद्धान्त की दृष्टि से तो यह सब ठीक है, लेकिन व्यवहार मे क्या होगा ?" लोगो के मुहँ से इन शब्दो को सुनकर मुझे सदा आश्चर्य होता है। जैसे कि सिद्धान्त तो बाते करने के लिए सुन्दर शब्द-मात्र है, वह कार्य मे परिणत करने की चीज़ ही नही है। हमारे जीवन के सारे कार्य अनिवार्यतः सिद्धान्तों पर जैसे निर्भर ही न हो ! जो ऐसा ही विचित्र ख़याल प्रचलित होता है तब तो दुनिया मे ढेर-के-ढेर मूर्खतापूर्ण सिद्धांतो की रचना हुई होती। हम जानते है कि सिद्धान्त उस नतीजे को कहते है कि जो किसी विषय पर विचार करके मनुष्य निकालता है। और व्यवहार वह है, जिसे मनुष्य कार्य-रूप मे परिणत करता है। तब फिर कोई मनुष्य सोचे तो कि अमुक कार्य अमुक रीति पर करना चाहिए, पर करे उससे उलटा—यह कैसे हो सकता है ? यदि रोटी बनाने का सिद्धान्त यह हो कि पहले आटा गूँधा जाय और फिर ख़मीर उठाने के लिए उसे रख छोड़ा जाय, तो कोई बेवकूफ ही होगा, जो इसके विपरीत आचरण करेगा। पर हम लोगों मे तो ऐसा कहने का रिवाज-सा होगया है कि सिद्धान्त तो यह ठीक है, पर व्यवहार में यह कैसा रहेगा ?

मेरा अनुभव है कि सिद्धान्त से ही व्यवहार फलित होता है। वह इसलिए नही कि मै अपने सिद्धान्त को ठीक सिद्ध करना चाहता हूँ, बल्कि इसलिए कि उसके प्रतिकूल व्यवहार मुझ से हो ही नही सकता। मैने जिस विषय पर विचार किया है, उसे मै यदि अच्छी तरह समझ गया हूँ, तो फिर मैं जिस तरह उसे समझा हूँ, उससे प्रतिकूल मैं व्यवहार कर ही कैसे सकता हूँ ?

मेरे पास धन था। यह धन परिश्रम का पुरस्कार है, अथवा सामान्यतः अच्छी चीज़ है और इसका मालिक होना कानूनन जायज़ है—इस सर्व-साधारण मे फैले हुए वहम का मैं भी कायल था। इस धन से मैने ग़रीबो की मदद करने का विचार किया। परन्तु ज्यो ही मैंने धन देना शुरू किया, त्यों ही मुझे मालूम हुआ कि यह तो ग़रीबो के ऊपर लिखी हुई हुंडियाँ मैने इकट्ठी कर रक्खी थी और वही मैं उन्हे दे रहा हूँ। मैंने देखा कि मेरा यह काम वैसा ही है, जैसा कि पुराने ज़माने मे ज़मीदार लोग अपने कुछ गुलामो को दूसरे गुलामो के लिए काम करने को मजबूर करते थे। मैंने देखा कि धन का कैसा भी उपयोग करो, चाहे उससे कोई चीज़ खरीदो, अथवा उसे मुफ्त मे ही किसी को दे दो, इसका अर्थ यही होता है कि तुम ग़रीबो के नाम हुंडी लिखकर भेजते हो अथवा दूसरो को देते हो, जिससे वे ग़रीबो के पास जाकर हुडी सिकरवा लें। इसलिए मै स्पष्ट रूप से समझ गया कि ग़रीबो से धन छीनकर उससे उनकी मदद करना बिलकुल बेवकूफ़ी है।

मै यह समझ गया कि रुपया अच्छी चीज़ नही है; इतना ही नहीं, वह स्पष्टतः अनिष्टकर है, क्योकि वह ग़रीबो को उनकी मेहनत से वञ्चित कर देता है और इस मेहनत के फल मे ही उनका मुख्य हित है, और यह मै किसी को दे नहीं सकता, क्योकि मैं स्वयं उससे वञ्चित हूँ। मै न तो स्वयं मेहनत करता हूँ और न अपनी मेहनत का मज़ा चखने का मुझे सौभाग्य प्राप्त है।

शायद कोई पूछे—रुपये की इतनी सूक्ष्म तात्त्विक विवेचना करने में ऐसा कौन-सा बडा भारी लाभ है ? किन्तु रुपये का यह विचार केवल विचार के लिए नही है, बल्कि उस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर पाने के लिए है कि जिसने मुझे इतना परेशान कर रक्खा है और जिसपर मेरा जीवन अवलम्बित है। मैं यह जानना चाहता हूँ कि मेरा कर्तव्य क्या है ?

जिस समय मुझे मालूम हो गया कि धन क्या है, रुपया क्या है, उसी समय यह स्पष्ट हो गया कि मुझे क्या करना चाहिए और दूसरे सब

लोगों को भी क्या करना चाहिए और अन्त में सबको जो अनिवार्य रूप से करना ही पड़ेगा, वह भी मुझे स्पष्ट हो गया, और कोई सन्देह न रहा। सच तो यह है कि जो बात मैं बहुत दिनों से जानता था, उससे कोई नयी बात मुझे नहीं सूझी। सत्य का यह उपदेश तो बहुत पहले से मानव-जाति को दिया जाता रहा है। बहुत ही प्राचीन काल में भगवान बुद्ध तथा इसैया, लाओत्से तथा सुकरात ने इस सचाई की घोषणा मानव-जाति के सामने की थी, और उसके बाद यूरोप में ईसामसीह तथा उनके पूर्व-गामी जान बैप्टिस्ट ने तो अत्यन्त स्पष्ट और सन्देहरहित भाष में उसी सत्य का उपदेश दिया।

लोगों ने जब जॉन से पूछा कि 'अब हम क्या करें ?' तो उसने सूक्ष्म और स्पष्टरूप से उत्तर दिया थ —'जिसके पास दो कोट है, वह एक कोट उस आदमी को दे दे, जिसके पास एक भी न हो, और जिसके पास भोजन है, वह भी ऐसा ही करे।' (ल्यूक अ० ३; पद १०-११)।

यही बात और अधिक स्पष्टता के साथ धनिकों को शाप तथा ग़रीबों को आशीर्वाद देते हुए ईसामसीह ने कही है। उन्होंने कहा कि हम ब्रह्म और माया दोनों के होकर नहीं रह सकते। उन्होंने अपने शिष्यों को केवल धन लेने ही के लिए मना नहीं किया था, परन्तु अपने पास दो कोट न रखने का भी आदेश दिया था। धनी नवयुवक से उन्होंने कहा था कि धनिक होने के कारण तुम ईश्वर के दरबार में नहीं जा सकते। यह भी कहा कि सुई के नकुए में से ऊँट का निकल जाना तो सम्भव है, पर अमीर आदमी का स्वर्ग में प्रवेश करना असम्भव है।

उन्होंने कहा कि मेरा अनुकरण करने के लिए जो अपना घर-बार, बाल-बच्चे, खेती-बारी तथा अपना सर्वस्व त्यागने के लिए तैयार नहीं है, वह मेरा शिष्य नहीं हो सकता। उन्होंने एक धनिक की कहानी सुनायी। उसने आजकल के धनी लोगों की तरह कोई बुरा काम तो किया नहीं था, केवल खूब आनन्द से खाता-पीता और अच्छे कपड़े पहनता था। वह इसीसे आत्मा को खो बैठा। लज़ारस नाम का एक भिखारी भी था,

जिसने कोई विशेष अच्छा काम न किया, अपनी ग़रीबी और भिक्षुक-जीवन के कारण ही उसका उद्धार हो गया।

मैं इस सत्य को बहुत पहले ही से जानता था, किन्तु दुनिया की झूठी शिक्षा ने उसे ऐसी चालाकी से ढक लिया था कि वह केवल एक सिद्धांत भर रह गया था—अर्थात् वह शुद्ध कल्पना-मात्र था, क्योंकि लोग प्रायः सिद्धान्त शब्द का ही अर्थ करते हैं। किन्तु ज्योंही दुनिया की झूठी शिक्षा का परदा मेरे मन से उठा त्योंही सिद्धान्त और व्यवहार मुझे एक दिखायी देने लगे।

मैंने समझा कि मनुष्य को अपने कल्याण के साथ ही दूसरे मनुष्यों का भी कल्याण अवश्य करना चाहिए। जीवन-संघर्ष के नियमों की भित्ति पर हिंसा और कलह का समर्थन करने के लिए कई लोगों को पशु-जीवन से खोजकर उदाहरण देने का शौक होता है, तो हमें मधु-मक्खी-जैसे सामाजिक जीवों की ज़िन्दगी का दृष्टान्त देना चाहिए। अपने पड़ोसी से प्रेम करने और उसकी सेवा करने का तो मनुष्य का स्वाभाविक कर्तव्य है ही, यदि यह न भी सोचें तो भी बुद्धि और मनुष्य-स्वभाव का यह तकाज़ा है कि मनुष्य अपने भाइयों की सेवा करे और मानव-जाति के सामुदायिक हित के लिए उद्योग करे।

मैंने समझा कि मनुष्य के लिए यही स्वाभाविक नियम है, जिसका पालन करके ही वह अपने मनुष्य-जन्म को सफल बनाकर सुखी हो सकता है। मैंने यह भी समझा कि लुटेरी मधु-मक्खियों की तरह कुछ लोग अपने बल का दुरुपयोग करके मेहनत-मज़दूरी के कामों से बच निकलते हैं और दूसरों की मेहनत से लाभ उठाते हैं, तथा दूसरों के परिश्रम का उपयोग वह सार्वजनिक हित के लिए न करके अपनी दिनों-दिन बढ़ती हुई वासनाओं की तृप्ति के लिए ही उसका उपयोग करते हैं। ऐसे लोग उस प्राकृतिक नियम को तोड़ते हैं और परिणाम-स्वरूप लुटेरी मधु-मक्खियों ही की तरह वे नष्ट हो जाते हैं।

मैंने समझा कि ग़ुलामी मनुष्यों के दुःखों का कारण है, और मैं

यह भी समझ गया कि इस समय हमारे.जमाने मे जो गुलामी प्रचलित है, उसके आधारभूत ये तीन कारण हैं— सैनिक हिंसा, भूमि-स्वामित्व और विभिन्न करो के रूप में रुपया वसूल करना। आधुनिक काल की दासता के इन तीनो कारणो के अर्थ को समझने के बाद उनसे छुटकारा पाने की इच्छा और चेष्टा किये बिना मुझसे रहा ही नही गया।

सर्फ़-पद्धति के ज़माने मे मै भी ज़मींदार था, और मेरे अधीन भी बहुत से दास थे। जब मुझे मालूम हुआ कि यह स्थिति पापमय है, तो अन्य समान विचारवाले लोगो के साथ मैंने इसमे से निकलने का यत्न किया। इस पाप-पङ्क से मैने अपने को इस प्रकार छुडाया। मै यह समझता था कि यह स्थिति पापमय है, इसलिए जबतक मैं उससे पूर्ण-रूप से मुक्त न हो जाऊँ तबतक मैने अपनी ज़मींदारी अधिकारो का जहाँतक बन सके, कम-से-कम उपयोग करने का निश्चय किया। जैसे मेरे कोई अधिकार है ही नहीं, इसी प्रकार मै रहने लगा।

वर्तमान दासता के सम्बन्ध मे भी मुझे ऐसा ही कहना है। अर्थात जबतक मैं पैसे और ज़मीन के कारण प्राप्त पाविष्ट अधिकारो से अपने को एकदम मुक्त नही कर लेता, तबतक मुझे जहाँतक हो इन अधिकारो का कम-से-कम उपयोग करना चाहिए और साथ-ही-साथ दूसरे लोगों को इन कल्पित अधिकारों की अनीतिमत्ता और अमानुषिकता के विषय मे समझाना चाहिए।

गुलामो का जो मालिक दूसरे लोगो की मेहनत का उपभोग करता है, वही दासता-रूपी पाप का भागीदार है, फिर वह दासता मनुष्य के शरीर पर अधिकार द्वारा हो, या ज़मीन पर क़ब्जे के द्वारा हो अथवा विभिन्न करो के रूप मे रुपया-वसूली द्वारा हो। अतएव मनुष्य यदि वस्तुतः गुलामी को नापसन्द करता और उसमे भाग लेना नही चाहता है, तो उसे सबसे पहला काम जो करना चाहिए, वह यह है कि उसे दूसरे मनुष्यो की मेहनत का उपभोग नही करना चाहिए—न तो सरकारी

नौकरी-द्वारा, न भूमि पर क़ब्ज़ा करके और न रुपये के बल से। सरकारी नौकरी, भूमि-स्वामित्व और रुपया इन तीनों से मनुष्य को बचना चाहिए; यही गुलामी के कारण है।

दूसरे मनुष्य के परिश्रम के फल का उपभोग करने के किसी भी साधन का इस्तैमाल न करने का यदि कोई मनुष्य निश्चय करे, तो उसे अवश्य ही एक ओर तो अपनी आवश्यताओं को कम करना पड़ेगा, और दूसरी ओर अभी तक आपका जो काम दूसरों से करना था, वह खुद हाथ से करना पड़ेगा।

यह सीधी-सादी बात मेरे दिल में बैठ गयी और उसने मेरे जीवन को एकदम ही बदल दिया। मनुष्यों के दुःखों को देखकर जो हार्दिक वेदना मुझे होती थी उससे अब मैं मुक्त हो गया। ग़रीबों की मदद करने की मेरी योजना की असफलता के जो तीन कारण थे, उन्हें मैं अब स्पष्ट-रूप से समझ गया। उसका पहला कारण यह था कि लोग शहरों में जाकर एकत्रित हो जाते हैं और गाँव का धन भी खींचकर वहीं चला जाता है। बस, ज़रूरत इस बात की है कि सरकारी नौकरी करके, अथवा भूमि-स्वामित्व-द्वारा या रुपये के ज़रिये दूसरे लोगों की मज़दूरी का लाभ उठाने की प्रवृत्ति दूर कर दी जाये और अपनी आवश्यकताओं को भरसक अपने ही हाथों पूरा करने का यत्न किया जाये। तब फिर गाँव छोड़कर शहर में रहने का किसी को ख़याल भी न आवेगा। गाँव में रहकर अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं को स्वयं अपने ही हाथों जुटाना शहर की अपेक्षा बहुत सरल है, क्योंकि वहाँ नगर में सभी चीज़ें दूसरों के परिश्रम-द्वारा उपार्जित की हुई हैं और बाहर से लायी गयी हैं। गाँव में जरूरतमन्द की सहायता आसानी से की जा सकती है और वहाँ रहकर मनुष्य यह कभी अनुभव न करेगा कि मैं बिलकुल व्यर्थ और नाचीज़ हूँ, जैसा कि मुझे उस समय अनुभव हुआ था कि जब मैं अपने नगर के दरिद्र लोगों को अपने रुपये से नहीं बल्कि दूसरों के परिश्रम के फल से सहायता करने की सोचता था।

दूसरा कारण अमीरों और ग़रीबों के बीच का भेद-भाव था। मनुष्य सरकारी नौकरी करके अथवा भूमि और रुपये के मालिक बनकर दूसरों के परिश्रम का उपभोग करने की इच्छा न करे, तो उसे मज़बूर होकर अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति खुद अपने हाथों करनी पड़ेगी, और तब स्वभावतः बिना किसी प्रकार का उद्योग किये ही, उसके और ग़रीब आदमियों के बीच की दीवार टूट जायगी। वह कन्धे से कन्धा मिला कर उनके साथ खड़ा होगा और उनको सहायता पहुँचाने में भी समर्थ बनेगा।

तीसरा कारण मेरी शर्म थी। जिस पैसे द्वारा मैं गरीबों की मदद करना चाहता था, उस धन का मालिक होना पाप है, यह ज्ञान ही मेरी उस शर्म का कारण था। मनुष्य सरकारी नौकर द्वारा अथवा भूमि और धन के स्वामित्व द्वारा दूसरों के परिश्रम के फलों का उपयोग करना छोड़ दे तो उसके पास यह 'मुफ्त का पैसा' कभी रहे ही नहीं। यह देखकर ही तो लोग मुझसे सहायता माँगने आते थे, और उसे पूरा न कर सकने के कारण मेरे मन में ग्लानि उठती थी और अपने अन्याययुक्त जीवन के प्रति विद्रोह की भावना पैदा होती थी।

: २३ :

मैंने देखा कि मनुष्यों के दु:ख और पतन का कारण यही है कि कुछ लोग दूसरे लोगों को गुलाम बनाकर रखते हैं। अतएव मैं इस सीधे निर्णय पर पहुँचा कि यदि मुझे दूसरों की मदद करनी है तो जिन दु:खों को मै दूर करना चाहता हूँ, सबसे पहले मुझे उन दु:खों की उत्पत्ति का कारण न बनना चाहिए—अर्थात्, दूसरे मनुष्यों को गुलाम बनाने में मुझे भाग न लेना चाहिए।

परन्तु मनुष्यों को गुलाम बनाने की मुझे जो ज़रूरत मालूम पडती है, वह इसीलिए कि बचपन से ही स्वयं अपने हाथ से काम न करने की तथा दूसरों की मेहनत पर जीवित रहने की मुझे आदत पड गयी है। मै ऐसे समाज मे रहता हूँ कि जहाँ लोग दूसरों से अपनी गुलामी कराने के आदी ही नही हैं, बल्कि अनेक प्रकार के चतुरतापूर्ण अथवा दम्भ-युक्त वाक्छल से गुलामी को न्यायानुकूल भी सिद्ध करते है।

मैं तो इस सीधे-सादे परिणाम पर पहुँचा कि लोगों को दु:ख और पाप मे न डालना हो तो दूसरों की मज़दूरी का भरसक कम-से-कम प्रयोग करना चाहिए और स्वयं अपने ही हाथों यथासम्भव अधिक से अधिक काम करना चाहिए। इस प्रकार देर तक घूम फिरकर मैं उसी निर्णय पर पहुँचा, जिस तरह चीन के एक महात्मा ने पाँच हजार बरस पहले इस तरह बताया था—'यदि संसार मे कोई एक आलसी मनुष्य है, तो अवश्य ही दूसरा कोई भूखा मरता होगा।' जिस दुर्बल घोडे पर मैं बैठा हूँ,

उसपर यदि मुझे दया आती हो और मैं सचमुच उसके कष्ट दूर करना चाहता हूँ तो सबसे पहला काम मुझे यह करना चाहिए कि मैं घोडे पर से उतर पडूँ और पैदल चलूँ ।

अपने समाज के दु.खो को दूर करने के लिए हम चारो ओर देखते हैं—सरकारी, सरकार-विरोधी, वैज्ञानिक तथा परोपकारी प्रवृत्तियो तथा समस्याओं द्वारा इसे दूर करने की चेष्टा करते है, किन्तु हम उसी उपाय को नही देखते, जो सबकी आँखो के सामने है । हम अपनी टट्टियों को गन्दगी से भरकर दूसरे आदमियो से साफ कराते हैं और यह दिखाना चाहते हैं कि हमे इन काम करनेवालो के लिए दु:ख है और हम उनका दु.ख दूर करना चाहते है । इस उद्देश्य को सिद्ध करने के लिए हम तरह-तरह के उपाय ढूँढते हैं; किन्तु जो सबसे सरल-स्पष्ट मार्ग है, बस उसीकी ओर नही देखते । हम न अपने हाथों से गन्दगी दूर करते हैं और न जगल मे शौच जाते है ।

बिलकुल सरल और स्पष्ट है; किन्तु यह सरल और स्पष्ट उसी हालत मे है कि जब हमारी आवश्यकतायें भी वैसी ही सरल और स्पष्ट हो और जब हम स्वयं स्वस्थ हो और सुस्ती तथा काहिली से एकदम ही खोखले न होगये हों ।

मै गॉव मे रहता और ॲगीठी के पास पडा रहता हूँ और अपने पडोसी को, जो मेरा कर्जदार है, आज्ञा देता हूँ कि लकडी काटकर लाओ और मेरी ॲगीठी को गरमाओ । यह स्पष्ट है कि मैं सुस्त हूँ और अपने पडोसी को उसके अपने काम से हटाता हूँ । मुझे इसके लिए शर्म आनी चाहिए, जब मेरे रग-पट्ठे मजबूत है और मैं काम करने का अभ्यस्त हूँ, तो इस तरह बिना काम पडे-पडे मेरी तबीयत भी उकता जानी चाहिए और स्वयं उठकर मुझे लकडियाँ काटने जाना चाहिए ।

विलासिता तथा आलस्य के लिए तथा उनके द्वारा होने वाले प्रलोभनो के बचाव के लिए मनुष्यो ने तरह-तरह की बातें ढूँढ निकाली हैं । आलसी शिरोमणि के लिए अपना पाप समझना उसी तरह कठिन है, जैसे अपनी

अँगीठी जलाने तक के लिए दूसरे पर निर्भर रहनेवाला किसान अपने दोष को नही समझ सकता।

जो लोग चोटी पर है उनके लिए यह समझना भी बडा कठिन होता है कि वास्तव में उनका कर्तव्य क्या है? लोग जब असत्य के ढेर की चोटी से, जहाँ वे खडे हैं, उस धरातल की ओर देखते है कि जहाँ फिर से साधारण मनुष्य जीवन प्रारम्भ करने के लिए उन्हे उतरकर जाना है, तो उनका दिमाग चकरा जाता है और यही कारण है कि यह सीधा और स्पष्ट सत्य लोगो को इतना विचित्र मालूम होता है।

जिस आदमी के पास वर्दी-धारी दस नौकर हैं, कोचमैन और रसोइये हैं, तस्वीरे और 'पियानो' है, उसे तो सचमुच ही यह बात बडी अजीब और हास्यास्पद मालूम होगी कि मनुष्य का—मैं नहीं कहता कि अच्छे आदमी का, बल्कि प्रत्येक ऐसे मनुष्य का कि जो बिलकुल ही पशु ही नही है। यह प्रथम धर्म है कि वह यह खाना पकाने के लिए अपनी लकडी स्वयं काटकर लाये, अपने जूते स्वयं साफ़ करे, जिन्हे उसने लापर्वाही से कीचड मे घुसकर मैला कर दिया है; अपने नहाने के लिए अपना पानी खुद भर लाये और नहाकर जिस पानी को मैला कर दिया, उसे वह खुद उठा कर फेंक आये।

आज सवेरे मै अपने मकान मे वहाँ गया, जहाँ से अङ्गीठियाँ जलायी जाती है। एक किसान उस अङ्गीठी को सुलगा रहा था, जिससे मेरे लडके का कमरा गरम रहता है। मैं उसके शयनागार मे घुसा। वह अभी पड़ा सो रहा था और सुबह के ग्यारह बज चुके थे। बहाना यह था—'आज छुट्टी है, पढ़ाई न होगी'। १८ वर्ष का तन्दुरुस्त मज़बूत छोकरा जिसने पिछली रात को आवश्यकता से अधिक खाया है, ११ बजे तक पडा सो रहा है और उसकी ही उम्र का एक किसान सवेरे-सवेरे बहुत-सा काम करके अब दसवी अङ्गीठी सुलगा रहा था! मैंने सोचा—'अच्छा हो कि यह किसान इस हट्टे-कट्टे काहिल छोकरे के लिए अङ्गीठी को न सुलगाए।' किन्तु उसी समय ध्यान आया कि इसी अङ्गीठी से हमारे घर की रसोईन

के कमरे को भी गरमी पहुँचती है। वह एक चालीस वर्ष की स्त्री है, और रात को मेरे लडके ने जो खाना उडाया था, उसे तैयार करने और बरतन माँजने मे सवेरे तीन बजे तक लगी रही और इसके बावजूद भी वह सात बजे उठ बैठी। वह अपनी अङ्गीठी स्वय नहीं सुलगा सकती, उसके पास समय नही है। किसान उसके लिए भी अङ्गीठी सुलगा रहा था और उसके नाम पर मेरा यह सुस्त छोकरा भी गर्माया जा रहा था।

यह ठीक है कि इस प्रकार लोगों के लाभ एक दूसरे से गुथे हुए हैं, किन्तु विना अधिक विचार किये ही प्रत्येक मनुष्य का अन्त.करण स्वयं कह देगा कि मेहनत कौन करता है और सुस्त कौन पड़ा रहता है? किन्तु केवल अन्त.करण ही यह बात नही बतलाता है, हमारी हिसाब की नोटबुक भी यह बतला देती है। हम जितना अधिक रुपया खर्च करते हैं, उतने ही लोग हमारे लिए काम करते हैं, और हम जितना ही कम खर्च करते है उतना ही अधिक हम अपना काम अपने आप करते है। 'मेरी विलासता से दूसरो की रोज़ी चलती है। यदि मैं अपने सईस को छुट्टी दे दूँ तो वह बेचारा बूढा आदमी कहाँ जायेगा ?' क्या प्रत्येक मनुष्य अपना प्रत्येक कार्य स्वयं करे? अपना कोट भी बनाये और अपनी लकडियाँ भी चीरे? तब फिर श्रम-विभाग का क्या होगा और उद्योग धन्धे तथा सामाजिक काम कहाँ जायँगे?' और सबके अन्त मे आकर खड़े होते है वे महा भयानक शब्द—सभ्यता, विज्ञान और कला!

: २४ :

गत वर्ष (१८८४ ई०) मार्च के महीने मे रात को कुछ देर से मैं घर जा रहा था। गली मे घुसने पर दूर के एक खेत मे बरफ के ऊपर ऊपर काली-काली परछाइयाँ-सी मुझे दिखाई दी। मेरा ध्यान उधर न जाता, यदि गली पर किनारे पर खड़े हुए सिपाही ने उन परछाइयों की ओर देखते हुए चिल्लाकर न कहा होता।

"वासिली ! तुम आते क्यों नही ?"

एक आवाज़ ने जवाब दिया "यह चलती ही नही।" और इसके बाद परछाइयाँ सिपाही की ओर आती हुई दिखाई दीं। मैं ठहर गया और सिपाही से पूछा—"क्या मामला है ?"

उसने कहा "जनोफ़-गृह से कुछ लडकियाँ लाये हैं और उन्हें कोतवाली लिये जा रहे हैं, उनमे से एक पीछे रह गयी है, वह चलती ही नही है।" भेड की खाल का कोट पहने एक चौकीदार अब दिखाई पडा। उसके आगे आगे एक लडकी आ रही थी, जिसे वह पीछे से ढकेल रहा था। मैं, चौकीदार और सिपाही जाडे के कोट पहने हुए थे, केवल उस लडकी ही के पास कोट नहीं था, वह 'गाउन' पहने हुई थी। उसका कद छोटा और शरीर चौडा और बेडौल था।

सिपाही ने चिल्लाकर कहा—"अरी ओ शैतान की बच्ची ! हम तेरे लिए क्या रातभर यहाँ खडे रहेंगे ? चलती है कि मैं अभी बताऊँ ?" मालूम होता था कि सिपाही थककर परेशान हो गया था। वह कुछ दूर

चली और फिर ठहर गयी। बूढ़े चौकीदार ने उसे हाथ पकड़कर खींचा। वह नेक आदमी था, मैं उसे जानता था। क्रोध का-सा भाव धारण करके उसने कहा; "सुनती है कि नहीं!" वह लड़खड़ायी और घुटी हुई भद्दी आवाज़ में बोली—"रहने दो, धक्का मत दो, मैं खुद चलती हूँ।"

चौकीदार ने कहा—"तू सर्दी से ठिठुर कर मर जायेगी।"

"मेरे-जैसी लड़की को ठण्ड नहीं लगती। मेरे जिस्म में बहुत-सा गरम-गरम खून है।" उसने यह बात कही तो थी हँसी से, पर उसके शब्द ऐसे मालूम पड़े, मानो वह शाप दे रही हो।

गली के एक लैम्प के पास, वह फिर खड़ी हो गयी, और खम्भे का सहारा लेकर अपने ठिठुरे हाथों से जेब में कुछ ढूँढने लगी। उन्होंने फिर पुकारा, किन्तु वह ज़रा बड़बड़ायी और जेबें टटोलती रही। उसके एक हाथ में बुझी हुई सिगरेट थी और दूसरे में दियासलाई। मैं पीछे ही खड़ा था, उसके पास से होकर निकलने में या नज़दीक जाकर उसकी ओर देखने में मुझे लज्जा मालूम होती थी। किन्तु मैं इरादा करके उसके पास आया। वह खम्भे से कन्धा टेके खड़ी थी और उसपर घिसकर दियासलाई जलाने का प्रयत्न कर रही थी।

मैंने ग़ौर से उसकी ओर देखा। उसका पेट बैठा हुआ था और वह मुझे तीस वर्ष की-सी मालूम पड़ती थी। उसका रङ्ग मैला, आँखें छोटी धुँधली और शराब पीने के कारण भारी और लाल थीं। उसकी नाक चपटी, होंठ टेढ़े और लार से भरे थे और सूखे बालों का एक गुच्छा रूमाल से बाहर निकला हुआ था। उसके हाथ-पाँव छोटे पर धड़ लम्बा और चपटा था।

मैं उसके सामने खड़ा हुआ। वह मेरी ओर देखकर हँसी, मानो वह जानती थी कि मै क्या बात सोच रहा हूँ। मुझे मालूम हुआ कि मुझे उससे कुछ कहना चाहिए। मैं उसे यह दिखलाना चाहता था कि मै उसपर दया करता हूँ।

मैने पूछा—"क्या तुम्हारे माँ-बाप है ?" वह बैठे हुए गले से हँसी और फिर एकाएक रुककर अपनी भौहों को उठाकर एकटक मेरी ओर देखने लगी।

मैने फिर पूछा—"क्या तुम्हारे माँ-बाप है ?"

वह मुहँ सिकोड़कर हँसी, मानो वह कह रही थी—'यह भी तुम्हारे पूछने लायक कोई सवाल ?' आख़िरकार वह बोली—"मेरी माँ है, किन्तु इससे तुम्हे क्या मतलब ?"

"तुम्हारी उम्र क्या है ?"

"पन्द्रह वर्ष से कुछ ऊपर, सोलहवाँ साल है"—उसने तुरन्त ही जवाब दिया, क्योकि वह यह प्रश्न सुनने की अभ्यस्त थी।

"चल-चल आगे बढ़; हम यहाँ तेरे मारे सर्दी खा रहे है।" सिपाही ने डाटकर कहा। वह खम्भे को छोड़कर लडखडाती हुई गली-गली कोतवाली की ओर चली, और मै फाटक की ओर मुडकर अपने घर मे दाखिल हुआ और दर्याफ्त किया कि क्या मेरी लडकियाँ घर मे है ? मुझे बताया गया कि वे किसी महफ़िल में गयी थीं, जहाँ उन्हें बडा आनन्द आया और अब वे सो रही है।

दूसरे दिन सवेरे मैं यह जानने के लिए उस बेचारी लडकी का क्या हुआ, कोतवाली जानेवाला था। मैं जल्दी जाने के लिए तैयार हुआ। इतने मे एक आदमी मुझसे मिलने आया। उच्च वर्ण मे अनेकों मनुष्य अभागे होते है, जो अपनी दुर्बलताओं के कारण ग़रीबी की हालत में आ पडते है और जिनकी दशा कभी तो सँभल जाती है और कभी फिर बिगड जाती है। यह उसी श्रेणी का मनुष्य था। मै उसे तीन वर्ष से जानता था, और इन तीन वर्षों मे उसे कई बार अपना सर्वस्व यहाँ-तक कि अपने कपडे भी बेचने पडे। वह रात को आज-कल जनोफ़-गृह मे बिताता और दिन मे मेरे यहाँ रहता। मै बाहर निकलने ही वाला था कि वह मुझे मिला और मैं कुछ कहूँ इससे पहले ही कल रात को जिनोफ़ गृह में हुई घटना का वर्णन करने लगा। अभी उसकी बात आधी

भी न हो पायी थी कि वह बूढ़ा आदमी, जिसने ज़माने के बहुत-से उतार-चढ़ाव देखे थे और जिसने खुद अपनी ज़िन्दगी में बहुत-कुछ दुःख भोगा था, फूट-फूटकर रोने लगा। वह अधिक न बोल सका और उसने अपना मुँह दूसरी ओर फेर लिया। उसने जो कहानी सुनायी थी, उसकी सत्यता की जाँच मैंने घटनास्थल पर जाकर की। वहाँ मुझे कुछ और भी बातें मालूम हुईं। मैं यहाँ पर वे सभी बातें लिखूँगा।

निचले हिस्से के ३२ नम्बर के कमरे में, जहाँ मेरे दोस्त रहते थे, बहुत-से स्त्री-पुरुष रात को सोने के लिए आते थे। वे ५ कोपक के लिए एक-दूसरे के साथ सो जाते थे। वहीं एक धोबिन रहती थी, जो लगभग ३० वर्ष की उम्र की थी और जिसका रंग गोरा व देखने में सुन्दर था। वह स्वभाव की शान्त और शरीर से दुर्बल थी। इस घर की मालकिन एक नाविक की रखेल थी। गरमी में उसका प्रेमी नाव खेता था और सर्दी में वे रात को ठहरनेवाले लोगों को स्थान किराये पर देकर अपनी रोज़ी चलाते थे।

वह धोबिन भी कुछ महीनों से यहीं रहती थी और बड़ी शान्त स्त्री थी, किन्तु अभी कुछ दिनों से वे लोग उसके रहने पर आपत्ति करने लगे, क्योंकि उसे खाँसी थी, जिससे दूसरों की नींद में विघ्न होता था। ८० वर्ष की एक बूढ़ी औरत जो स्थायी रूप से वहीं रहती थी और जो कुछ सनकी-सी थी, ख़ास तौर से धोबिन का न रहना नापसन्द करने लगी। वह बराबर उसे तङ्ग करती, क्योंकि धोबिन रात भर बुरी तरह खाँसती और उसे सोने न देती थी। धोबिन बेचारी कुछ न बोलती। मकान का किराया उसपर चढ़ गया था और वह अपने को दोषी समझती थी, इसीलिए सब कुछ बर्दाश्त करती थी। शक्ति क्षीण हो जाने से अब वह काम भी दिन-पर दिन कम करने लगी, इसीलिए यह किराया न चुका सकती थी। पिछले हफ्ते तो वह कुछ भी काम न कर सकी और खाँसी के कारण वहाँके सभी निवासियों और ख़ासकर उस बुढ़िया के लिए वह बवाल-जान हो रही थी।

चार दिन पहले घर की मालकिन ने मकान खाली करने के लिए नोटिस दिया। ६० कोपक तो उसपर चढ़े हुए थे, वह उन्हे अदा नही कर सकती थी, और न ऐसी कोई आशा ही थी कि वह अदा कर सकेगी; जिसपर दूसरे रहनेवाले उसके खाँसने की शिकायत करते थे।

मालकिन ने जब उस धोबिन को नोटिस दिया और उससे कहा कि यदि वह रुपया नही दे सकती है तो मकान खाली कर दे, तब वह बुढ़िया बड़ी खुश हुई और उसे घर में से निकालकर सहन मे ला खड़ा किया। धोबिन चली गयी, किन्तु एक घण्टे बाद फिर वापस आगयी। मालकिन का जी न हुआ कि वह उस ग़रीब को फिर से चले जाने को कहे। दूसरे और तीसरे दिन भी वह वहीं रही। वह बराबर यही कहती, "मै अब जाऊँ कहाँ ?" तीसरे दिन मालकिन का प्रेमी आया, वह मास्को का रहनेवाला था और शहर के सब कायदे-कानून जानता था। वह एक सिपाही को बुला लाया। तलवार और पिस्तौल से सज्जित सिपाही ने घर मे आकर शान्ति और सभ्यता के साथ धोबिन को निकाल बाहर कर दिया।

मार्च का महीना था। सूरज निकला था, किन्तु कडाके का जाडा पड़ रहा था। बरफ़ गल-गलकर बह रहा था और नौकर लोग जमे हुए बर्फ़ को तोड रहे थे। बर्फ़ पर चलनेवाली गाड़ियाँ सरकती जाती थीं और पत्थरो से लगकर आवाज़ पैदा करती थी। वह धोबिन पहाड़ी के ऊपर चढ़ गयी, जहाँ धूप थी। वह गिरजाघर तक पहुँची और ड्योढ़ी के पास धूप मे बैठ गयी। किन्तु जब सूर्य मकानो के पीछे छिपने लगा और तालाबो पर बर्फ़ की झीनी-झीनी चादर-सी बिछने लगी, तो धोबिन ठण्ड के मारे घबरायी। वह उठी और धीरे-धीरे चलने लगी...किधर ? घर की ओर—उसी मकान की ओर, जहाँ अभी तक रहा करती थी। ठहर-ठहरकर, दम लेते हुए वह जा रही थी। अँधेरा होते-होते वह फाटक तक पहुँची, अन्दर की ओर मुड़ी कि उसका पैर फ़िसल गया। वह चीख मारकर गिर पड़ी।

उधर होकर एक आदमी निकला, फिर दूसरा निकला। उन्होंने सोचा, 'यह शराब पीकर सोयी होगी।' एक और मर्द उधर से होकर गुजरा और उसीसे ठुकरा गया। उसने दरबान से कहा—"फाटक पर शराब पिये हुए कोई औरत पड़ी है। मेरी तो अभी गर्दन टूटते-टूटते बची। उसे वहाँ से जरा उठवा दो।"

दरबान ने आकर देखा, धोबिन मरी पडी है। मेरे मित्र ने यही सब बाते सुनायी। पाठक शायद यही समझें कि १९ वर्ष की वेश्या और धोबिनवाली बात मैंने कहीं से ला कर रखदी है, किन्तु वे ऐसा न समझे। वास्तव मे ये दोनो ही घटनाये एक ही रात को हुई। मुझे तारीख तो ठीक याद नहीं, किन्तु १८८४ के मार्च का महीना था।

अपने मित्र की कही हुई कहानी सुनकर मैं कोतवाली की ओर चला और वहाँसे उस धोबिन के सम्बन्ध मे सारी बाते जानने के लिए जिनोफ-गृह जाने का निश्चय किया।

मौसम सुन्दर था, धूप खिली हुई थी। छाया मे कल रात की पडी हुई बर्फ के नीचे पानी बहता हुआ दिखाई देता था, और धूप मे तथा मैदान मे तो बर्फ़ बड़ी तेजी से पिघल रही थी। नदी के पार बाग के वृक्ष नीले-नीले से दिखाई देते थे, सुहावनी ऋतु देखकर मनुष्यो के हृदय मे भी मौज करने की तरंगे उठती थीं किन्तु वे चिन्ताओं से घिरे हुए थे। गिरजों की घण्टियाँ बज रही थीं, और उनके साथ ही छावनी से बन्दूकों की गोलियो की सरसराहट और निशाने पर लगने के धमाके की आवाज़ सुनाई देती थी, जो घण्टियो की आवाज़ के साथ मिल जाती थी।

मैं कोतवाली पहुँचा। कई हथियारबन्द सिपाही मुझे अपने अफसर के पास ले गये। वह भी तलवार और पिस्तौल से सज्जित था। उसके सामने चिथडे पहने, थर-थर काँपता हुआ एक बुड्ढा बैठा था। दुर्बलता के कारण पूछे हुए सवालों का जवाब वह ठीक तरह नहीं दे पाता था। अपना काम निपटाकर वह मेरी ओर मुख़ातिब हुआ। मैंने रात

वाली वेश्या के बारे मे उससे पूछा । मेरी बातें ध्यान से सुनकर वह मुस्कराया । उसका मुस्कराना केवल इसीलिए नही था कि मैं यह बात नहीं जानता था कि वह कोतवाली क्यो लाई गयी, बल्कि खासकर इस-लिए की मुझे उसकी अल्प-वयस्कता पर आश्चर्य हुआ । उसने हँसते हुए कहा, 'अजी जनाब ! कुछ तो बारह और तेरह वर्ष की होती हैं, और चौदह वर्ष की तो अनगिनती ।'

रातवाली लड़की के विषय मे उसने कहा कि सम्भवतः वह तो कमिटी को भेज भी दी गयी होगी । मैंने जब उससे पूछा कि ये लोग रात को कहाँ रक्खे जाते है; तो कुछ अनिश्चित-सा उत्तर देकर उसने टाल दिया । जिस खास लडकी के विषय मे मैं पूछ रहा था, उसकी उसे याद न थी, क्योंकि, इस तरह अनेको रोज़ ही आती हैं ।

नम्बर ३२ के जिनोफ़-गृह मे जब मैं पहुँचा, तो मैंने देखा कि उस मरी हुई धोबिन के पास बैठा हुआ पादरी मृतक की आत्मा की सद्गति के लिए प्रार्थना कर रहा था । उसे उठाकर जिस तख्ते पर वह सोया करती थी, उसी पर लिटा दिया था । और वहाँके रहनेवालो ने, जो सभी मरभूखे-से थे, आपस में चन्दा करके उसके क्रिया-कर्म का प्रबन्ध किया था । उस बुड्ढी औरत ने उसे कपडा पहनाकर तैयार किया था । पादरी अँधेरे में कुछ पढ़ रहा था, लबादा ओढे हुए एक औरत मोमबत्ती थामे हुए थी, और एक दूसरी मोमबत्ती लिये एक आदमी खड़ा था, जो बढ़िया कपडे पहने एक पूरा सद्गृहस्थ-सा मालूम पडता था । यह आदमी इस धोबिन का भाई था, जिसे लोग कहीं से ढूँढकर लाये थे ।

मृत स्त्री के पास से होकर मैं मालकिन के कमरे मे गया और उससे प्रश्न करने लगा । वह मेरे प्रश्नो से डरी—शायद इसलिए कि कही किसी बात के लिए मुझपर मुकदमा न चले, किन्तु कुछ ही देर मे खूब खुलकर बातें करने लगी और मुझे सब बातें बता दीं । वापस लौटते हुए मैंने मृतक शरीर की ओर देखा । मृतक सभी सुन्दर मालूम पड़ते हैं किन्तु यह तो और भी सुन्दर और हृदय पर असर करनेवाला

मालूम होता था । उसका मुखडा सफेद और साफ था, आँखे बड़ी-बडी, किन्तु बन्द थीं, गाल बैठे हुए, और उठी पेशानी पर खूबसूरत मुलायम बाल पड़े हुए थे। उसका चेहरा थका हुआ, किन्तु दयापूर्ण था। दुःख का कोई चिन्ह ही न था, हाँ, कुछ आश्चर्य का भाव अवश्य था।

इसी दिन मास्को मे एक बडा भारी नाच होनेवाला था। उसी रात को आठ बजे मै घर से बाहर निकला। मै ऐसे मुहल्ले मे रहता हूँ, जो मिलो से घिरा हुआ है। मै जब घर से बाहर निकला तो छुट्टी की सीटी हो चुकी थी और एक सप्ताह तक लगातार-काम के बाद लोगो को एक दिन की छुट्टी मिली थी। कारखाने के लोग मेरे पास से गुज़र रहे थे और सबके सब भट्टी और सराय की ओर जा रहे थे। बहुत-से तो अभी से पीकर मतवाले हो रहे थे और कुछ औरतो के साथ थे।

हर रोज़ पाँच बजे मैं मिलो की सीटियाँ सुनता हूँ, जिनका अर्थ यह होता है कि स्त्रियो, बच्चो और वृद्धो को काम करने मे लगा दिया गया। आठ बजे दूसरी सीटी होती है—इसके मानी आध घण्टे की छुट्टी। १२ बजे तीसरी सीटी—अर्थात् भोजन के लिए एक घण्टे की मुहलत। आठ बजे रात को चौथी सीटी होती है; काम बन्द हो जाता है। विचित्र दैवयोग से मेरे पडोस की तीनो मिलें नाच-गान के काम की चीजें ही तैयार करती हैं। एक कारखाने मे—जो सबसे ज्यादा नजदीक है—मोजो के सिवा और कुछ नही बनता, दूसरे मे रेशमी माल और तीसरे मे इत्र और पोमेड।

इन सीटियो को सुनकर किसी के जी मे इससे अधिक ख़याल शायद ही कोई पैदा होगा—वह देखो, सीटी बज गई, घूमने का समय हो गया।

किन्तु उनका जो वास्तविक अर्थ है, उसे भी मनुष्य को समझना होगा। सबेरे पाँच बजे बजनेवाली सीटी का यह अर्थ है कि रात-भर अन्धी कोठरी मे जो स्त्री और पुरुष एक साथ पडकर सोते थे; वे मुहँ-

अँधेरे उठते हैं और जल्दी-जल्दी कारखाने की ओर जाते है। वहाँ उन्हे उस काम में हिस्सा लेना पड़ता है कि जिसका न तो कोई अन्त है और न जो उनके लिए उपयोगी ही है, और फिर वहाँ गरमी और गन्दगी से भरी हुई दम घोटनेवाली हवा मे बारह-बारह और कभी-कभी इससे भी अधिक घण्टो तक काम करते हैं। रात होने पर वे सो जाते हैं और फिर सवेरे उठते है; उठकर वही काम करते हैं कि जो वास्तव मे उनके लिए कोई अर्थ ही नही रखता, किन्तु केवल पेट की खातिर उन्हे वह काम करना पडता है।

हफ्तों पर हफ्ते इसी तरह बीत जाते है। बीच में एक दिन छुट्टी का आता है। आज उसी तरह की छुट्टी मनाने के लिए बाहर निकलते हुए मजदूरों को मै देखता हूँ। वे गलियों मे घूमते है। चारो ओर सराय, होटल और स्त्रियाँ है। वे शराब पीकर एक दूसरे से धक्का-मुक्की करते है और लडकियो को—वैसी ही लड़कियो को, जैसी कि कल रात को लोग पकडकर कोतवाली ले गये—अपने साथ लेकर फिरते है। गाडी किराये करके वे एक होटल से दूसरे होटल को जाते है, एक दूसरे को गालियाँ देते है, और क्या-क्या बकते फिरते हैं इसका उन्हें बिलकुल ही ज्ञान नहीं होता। पहले जब मै इन मजदूरो को इस तरह भटकते देखता तो मै घृणा से एक ओर हट जाता और मन ही मन उन्हें बुरा-भला कहता। किन्तु जबसे मैं इन नित्य बोलनेवाली सीटियों का अर्थ समझ गया हूँ, तबसे मुझे उलटा इस बात का आश्चर्य होने लगा है कि वे सभी श्रमिक भिखारियो की अवस्था को क्यों नही प्राप्त हो गये, और सभी स्त्रियो की हालत लडकी की-सी क्यों न हो गयी ?

इस तरह ग्यारह बजे तक घूम-फिरकर मैं यह देखता रहा कि ये लोग क्या करते हैं ? ११ बजे के बाद इन लोगों की हरकतें ठण्डी पडी और इधर-उधर कुछ ही मतवाले फिरते हुए दिखाई देने लगे। मुझे कुछ ऐसे स्त्री-पुरुष भी मिले, जिन्हें सिपाही पकडकर कोतवाली लिये जा रहे थे।

अब हर तरफ से गाडियाँ निकलती हुई दिखाई दीं, जो सबकी सब एक ही तरफ जा रही थीं। कोचबक्स पर कोचमैन होता था, जो प्राय: भेड के चमडे का कोट पहने हुए होता था, और एक सईस होता था, जो टोपी ओढे खासा छैला-सा बना होता था। कपडे से ढके हुए हृष्ट-पुष्ट घोडे पन्द्रह मील फी घण्टे की रफ्तार से दौडते जाते थे। गाडियो में शाल ओढ़े महिलाये बैठी हुई थी। वे इसके लिए बहुत सतर्क थी कि कहीं उनका साज-श्रृंगार बिगड न जाये। घोडो की काठियो, गाड़ियों हिन्दुस्तानी रबर के बने हुए पहियो और कोचमैनों के कोट से लेकर उनके मोजे, जूते, फूल, मखमल, दस्ताने इत्र आदि सभी सामान उन्ही लोगों के बनाये हुए थे, जिनमे से कुछ तो अपने गन्दे कमरो मे सो रहे थे, कुछ वास-गृहो मे वेश्याओ के साथ, और कुछ कोतवाली मे।

नाच मे जानेवाले उन लोगो के पास से होकर गुजरते हैं और उन के पास जो चीजें होती हैं, वे भी सब इन्ही की बनायी होती है। फिर भी इनके मन में यह कल्पना तक नहीं होती कि जिस मुजरे मे वे जा रहे है उसमे और इन मतवाले लोगों मे, जिन्हें उनके कोचमैन डाटते हुए चलते है, कोई सम्बन्ध भी है, ये लोग उत्सव मे जाकर खूब आनन्द मनाते हैं। रात के ११ बजे से लेकर सुबह ६ बजे तक सारी रात ये लोग आनन्द-प्रमोद में मग्न रहते है, जबकि इनके लिए काम करने-वाले बेचारे मज़दूर भूखे पेट अनाथालय मे पडे रहते है या उस धोबिन की तरह मार्ग मे सर्दी से ठिठुर-ठिठुर कर मर जाते है।

इनके नाच मे होता क्या है ? स्त्रियाँ और कुमारियाँ अपनी छाती खुली रखकर और कृत्रिम रूप से नितम्बों को ऊँचा करके ऐसी बेहयाई से वहाँ आकर मनुष्यो के सामने खडी होती हैं कि जैसे कोई भी स्त्री या कन्या, जो अभी शील-रहित नहीं हुई है, कभी किसी पुरुष के सामने आना पसन्द न करेगी। इस अर्धनग्न अवस्था मे खुली हुई छाती, कंधो तक नंगे हाथों के साथ और ऐसी पोशाक पहनकर जो पीछे की तरफ फूली हुई होती है किन्तु नितम्ब-भाग खूब कसा हुआ होता है, स्त्रियाँ और

कन्यायें, जिनका मुख्य गुण लज्जा समझा जाता रहा है, अजनबी आदमियो के सामने आती है। वे आदमी भी निर्लज्जतापूर्ण और खूब चुस्त कपडे पहने होते हैं। ऐसी दशा मे ये स्त्री और पुरुष एक-दूसरे का आलिंगन करते है और फिर उन्मादक संगीत की ताल पर खूब घूम-घूमकर नाचते है। बूढ़ी स्त्रियाँ भी, जो प्रायः ऐसी ही अर्धनग्न अवस्था मे होती है, वहाँ बैठी-बैठी तमाशा देखा करती है, और आनन्द से खूब खाती और पीती है। वृद्ध पुरुष भी ऐसा ही करते हैं। यह ठीक ही है कि यह सब लीला रात्रि को होती है जबकि सब ग़रीब लोग सो जाते है और इस काण्ड को देख नही सकते।

किन्तु लोगों से छिपाने के लिए यह लीला रात्रि को नहीं की जाती है। उनकी दृष्टि मे तो उसमें छिपाने की कोई बात ही नही है; जो कुछ वहाँ होता है सब बड़ा सुन्दर और अच्छा है।

नृत्योत्सव बड़े आनन्द से होता है, यह माना; किन्तु, यह आनन्द आया कहाँ से? यह बात तो निस्संदिग्ध और स्पष्ट है कि जब हम किसी ऐसे आदमी को देखते हैं, जो भूखा-प्यासा है और सर्दी से ठिठुर रहा है, तो हमें आनन्द मनाते लज्जा आती है और जबतक वह भोजन नही कर लेता, तब तक हम आनन्द मनाना प्रारम्भ नही कर सकते। जब हम देखते हैं कि कुछ निर्दयी शैतान छोकरे अधचिरी लकडी मे कुत्ते की दुम को दाब देते हैं, तो हमे बडा बुरा लगता है और हमारी समझ मे नही आता कि इस शरारत मे इन लोगों को क्या मज़ा आता है? तब फिर हम अपने आनन्दोत्सव के समय ऐसे अन्धे क्योंकर हो जाते है कि हम उस दशा को नहीं देख पाते, जिसमें हमने उन बेचारे ग़रीब आदमियो को दबा दिया है, जो हमारे भोग-विलास की खातिर दुःख उठाते है।

डेढ़-डेढ़ सौ रुबल की पोशाक पहनकर जो स्त्रियाँ नृत्योत्सव मे आती है वे नाच-घर मे पैदा नही होतीं, बल्कि गाँव मे रह चुकी हैं, किसनो को देखा है, एक धाय अथवा दासी को जानती हैं, जिनके

पिता और भाई गरीब आदमी हैं और जिनके परिश्रमी जीवन की सदा से यह साध रही है कि १५० रूबल कमाकर रहने के लिए एक छोटा-सा झोपडा बनवा लें। वे यह सब जानती है, तब फिर वे किस तरह आनन्द मानने को तैयार होती है—यह जानते हुए भी कि अपने अर्धनग्न शरीर पर वे एक झोपडा—जो उनकी दासी के भाई का जीवन-भर का स्वप्न है—१५० रूबल है पहने हुए है।

पर मान लो कि इन्होंने इसपर कभी कोई विचार नहीं किया है। किन्तु, इतना तो उन्हें मालूम ही होना चाहिए कि, रेशम और मखमल मिठाई और फल, लैस, चैन और पोशाकें खुद तो कहीं पैदा ही नही होतीं, मनुष्यों द्वारा ही बनाई जाती हैं। और इसका भी उन्हे ज्ञान होना चाहिए कि इन तमाम चीजो को कौन बनाता है, बनानेवाले किस स्थिति में रहते हैं, और वे उन चीजो को बनाते क्यों हैं ? इससे भी वे अपरिचित नही हो सकती कि जिस दर्जिन को आज उन्होने झिडका है उसने उनकी पोशाक को प्रेम से प्रेरित होकर नहीं बनाया है और इसलिए यह बात उनके ध्यान मे आये बिना नहीं रह सकती कि उनकी चैन, फूल और मखमल के लिए जो दूसरो ने मेहनत की है वह केवल अपने पेट के कारण की है।

किन्तु शायद वे ऐसे मोह मे पडी हैं कि इन बातों का विचार ही नही करती। किन्तु कुछ भी हो, इतना तो वे अवश्य जानती हैं कि पाँच-छः जने, वृद्ध और कमज़ोर स्त्री-पुरुष, सारी-रात नहीं सोये हैं और रात-भर उनके काम में लगे रहे हैं। उनके थके हुए मुरझाये चेहरे उन्होने देखे ही होंगे। यह भी वे जानती ही थी कि आज रात को २८ डिगरी कोहरा पड रहा था और उनका कोचमैन, जो एक बूढा आदमी है इस कोहरे मे सारी रात कोचबक्स पर बैठा रहा।

पर मै जानता हूँ कि वास्तव मे वे इन बातो को देख ही नही सकती और इस नाच के जादू के कारण ये कन्याये और युवतियाँ यदि इस अनर्थ को देख नहीं पातीं, तो इसके लिए हम उन्हे दोष नहीं दे

सकते। वे बेचारे अज्ञानी जीव क्या समझें इन बातो को? वे तो उन सभी चीजो को अच्छा समझते है कि जिन्हे इनके बड़े-बूढे अच्छा बताते है। किन्तु वे बड़े-बूढे लोग अपनी इस निर्दयता के लिए क्या जवाब देते हैं? उनके पास तो एक बना-बनाया जवाब है। वे कहते है—"मैं किसी को मजबूर नही करता। मेरे पास जो चीजे है उन्हें मैंने खरीदा है। सईस, दास, दासियाँ आदि को मैं नौकर रख लेता हूँ। खरीदने और नौकर रखने मे कोई दोष नही है। मै ज़बरदस्ती नही करता, मै पैसा देता हूँ, और काम लेता हूँ। भला इसमे बुराई की क्या बात है?"

कुछ दिन पहले मैं एक मित्र से मिलने गया। पहले कमरे से निकलकर दो स्त्रियों को एक मेज़ के पास काम करते देखकर मुझे आश्चर्य हुआ, क्योंकि मेरा मित्र अविवाहित है। पीले वर्ण की दुबली-पतली तीस वर्ष की एक बूढी-सी स्त्री कन्धे पर तौलिया डाले हाथो से जल्दी जल्दी मेज़ के ऊपर कुछ काम कर रही थी। काम करते समय वह इस तरह हिलती थी, मानो इसपर भूत सवार हो। उसके सामने एक लड़की बैठी हुई थी। वह भी कुछ काम कर रही थी और उसी तरह हिल रही थी। ऐसा जान पडता था, मानो दोनो पर नाच का नशा चढा हुआ है।

मैंने उसके पास जाकर देखा कि उनके सामने तम्बाकू और सिगरेटों का ढेर था। स्त्री हाथो से तम्बाकू को मलकर मशीन से ट्यूब (Tube) मे भरकर उसे लडकी की तरफ फेंक देती थी और लडकी कागज़ को ठीक करके सिगरेट पर लपेटकर एक तरफ़ फेंक देती और फिर दूसरी सिगरेट लेती। यह सब इतनी तेज़ी और होशियारी से होता था कि जिसका वर्णन करना मुश्किल है। उनकी इस फुर्ती पर मैने आश्चर्य प्रकट किया, तो उस औरत ने कहा—

'मै चौदह वर्ष से काम करती हूँ।'

मैंने पूछा— 'क्या यह काम बहुत कठिन है?'

वह बोली—'हाँ, मेरी छाती दुखती है और तम्बाकू के कारण दम घुटता है।' किन्तु यह सब कहने की उसे ज़रूरत न थी, उसे अथवा

लडकी को एक नज़र देखते ही यह सब स्पष्ट हो जाता है। लडकी तीन वर्षों से इस काम पर थी। उसे देखकर कोई भी यह कहे बिना नहीं रह सकता था कि उसका मजबूत शरीर धीरे-धीरे घुनना शुरू हो गया है।

मेरा मित्र एक उदार और दयालु प्रकृति का मनुष्य है। उसने इन लोगो को सिगरेट बनाने के लिए रख छोडा है। एक हजार सिगरेट के लिए वह ढाई पौंड देता है। उसके पास रुपया है और वह उनसे काम लेकर उन्हे मज़दूरी दे देता है, इसमे कौन सी बुराई है ? मेरे यह मित्र १२ बजे सोकर उठते है। शाम के ६ से लेकर रात के २ बजे तक वह ताश खेलने अथवा प्यानो बजाने मे लगे रहते है। वह खूब मजे से खाते और पीते है और उनका सारा काम दूसरे लोग उनके लिए कर देते है। अब उन्हे सिगरेट पीने का नया शौक पैदा हुआ है।

हम देखते है कि यहाँ एक स्त्री और एक लडकी है, जो मशीन की तरह काम करती है और जो तमाम दिन तम्बाकू के छरों मे बिताकर अपनी जिदगी ख़राब कर रही है—केवल पेट की खातिर। दूसरी ओर हमारे मित्र है, जिनके पास काफी रुपया है, जिसे उन्होने स्वय पैदा नहीं किया है और जिन्हे सिगरेट बनाने की अपेक्षा ताश पसन्द है। यह रुपया वे इन स्त्रियों को इसी शर्त पर देते हैं कि ये उनके लिए सिगरेट बनाया करें और उसी तरह अपने शरीर का नाश करती रहे।

मैं सफाई का शौक़ीन हूँ और मैं अपना रुपया इस शर्त पर देता हूँ कि धोबिन मेरे कपडों को धोया करे, जिन्हें मैं दिन में दो बार बदलता हूँ, और कपडे धोते-धोते बेचारी धोबिन धुल गयी और आखिरकार मर गयी। इसमे किसी का क्या दोष ?

'जो लोग दूसरो को मज़दूरी देकर नौकर रखते है वे तो ऐसा करते ही रहेंगे—मै चाहे करूँ या न करूँ, वे दूसरे लोगो से मखमल और मिठा-इयाँ बनवायेंगे और उन्हे खरीदकर काम में लायेंगे—मैं चाहे ऐसा करूँ या न करूँ। इसी तरह अपनी सिगरेट बनाने और कपडे धोने के लिए लोगों

को वे नौकर रखते हैं, वे तो ऐसा करते ही रहेंगे--मैं चाहे करूँ या न करूँ। तब फिर मैं ही क्यों अपने को मख़मल, मिष्टान्न, सिगरेट और साफ कपडों के उपभोग से वचित रक्खूँ, जबकि उनका निर्माण बराबर हो ही रहा है ?' मैं प्राय: सदा ही इस प्रकार का तर्क सुना करता हूँ।

यदि हम सत्य से इतनी दूर न जा पड़े होते, तो इस प्रश्न को करते हुए भी हमें शर्म आती। किन्तु हम ऐसे चक्कर मे पडे है और हम ऐसी स्थिति मे जा पहुँचे है कि इस प्रकार का प्रश्न हमे स्वाभाविक मालूम पडता है, और इसी कारण, लज्जा की बात होते हुए भी मुझे इसका उत्तर देना ही पड़ेगा।

मैं पूछता हूँ, यदि मै अपने कपड़े रोज़ न बदलकर हफ्ते मे बदलूँ और अपनी सिगरेटें खुद बना लूँ या सिगरेट पीना ही छोड़ दूँ तो क्या होगा ?

अन्तर यह होगा कि एक धोबिन और सिगरेट बनानेवाली को कुछ कम श्रम करना पड़ेगा और पहले जो मै धुलाई अथवा सिगरेट-बनवाई के रूप मे देता था, वह अब मैं उन्ही अथवा दूसरी किन्हीं स्त्रियों को दे दिया करूँगा, और मज़दूर लोग जो काम करते-करते थक जाते है, शरीर से अधिक काम न करेंगे और उन्हें आराम तथा जलपान करने का अवसर मिल सकेगा। किन्तु अमीर और भोग-विलास में लिप्त लोगों को मैने इसपर भी आपत्ति करते देखा है।

वे कहते है—'यदि मैं अपने कपडे स्वयं धोऊँ और सिगरेट पीना छोड दूँ और वह रुपया जो इस तरह बचाता हूँ ग़रीबो को दे दूँ, तब भी वह रुपया उनके पास न रहने पावेगा और फिर सागर मे एक बूँद की तरह मेरी रक़म से हो भी क्या सकेगा ?'

मुझे इस दलील का उत्तर देते हुए बडी लज्जा मालूम होती है; पर इसका उत्तर दिये बिना छुटकारा नहीं, क्योंकि यह दलील बहुधा बहुत-से लोग दिया करते है। इसका उत्तर बिलकुल सीधा है। मैं किसी जगली जाति मे जाऊँ और वहाँ लोग मुझे स्वादु मांस खाने को दें। किन्तु दूसरे दिन मुझे मालूम हो, अथवा मै स्वयं अपनी आँखो से

देखूँ, कि यह स्वादिष्ट चीज़ आदमी के मांस की बनी हुई है और एक कैदी को मार कर बनायी गयी है। यदि मैं मनुष्य का मांस खाना बुरा समझता हूँ, तो वे मांस के टुकड़े खाने में चाहे कितने ही स्वादिष्ट मालूम हों और जिन लोगो मे मैं रहता हूँ, उनमें मनुष्य का माँस खाने का कितना ही अधिक रिवाज हो, मैं उन टुकडों को कभी न खाऊंगा, मुझसे वे खाये ही न जायँगे।

यह सम्भव है कि और कुछ न मिलने की हालत मे भूख से मज़बूर होकर मैं मनुष्य का मांस खालूँ, किन्तु मैं उसे खुशी से न खाऊँगा और न ऐसी दावतो मे शरीक होऊँगा जिनमे मनुष्य का मांस होगा, और न ऐसी दावतो को ढूँढता फिरूँगा; और न मैं इस बात का गर्व करूँगा कि मै ऐसे भोज मे शामिल हुआ।

: २५ :

परन्तु हम क्या करें ? यह सब-कुछ हमने तो किया नहीं। तो फिर किसने किया ? हम कहते है कि यह हमने नही किया, यह तो अपने-आप ही हो गया। बच्चे जब किसी चीज़ को तोड डालते हैं तो वे इसी तरह कहते है—'यह टूट गयी।' हम कहते है कि जबतक शहर मौजूद है और हम उनमें रहते है तबतक लोगो को मज़दूरी की एवज पैसा देकर उनका पालन-पोषण करते है। किन्तु यह बात सच नही है और इसे समझने के लिए हमे सिर्फ इस बात की ओर ध्यान देने की जरूरत है कि हम गॉव मे किस तरह से रहते है और वहॉ हम गरीबो की किस तरह मदद करते हैं ?

शीत ऋतु समाप्त हो रही है और ईस्टर आनेवाला है। शहरो मे तो धनियो का वही राग-रंग हो रहा है। उद्यानो मे और उपवनो मे, घाटो पर, जहॉ देखो वहॉ नाच-गान, नाटक, घुडदौड, रोशनी और आतिशबाजी का दौरदौरा है। किन्तु गॉवो मे इससे भी अच्छा है—वहॉ वायु शुद्ध है, वृक्ष, खेत और धूल अधिक तरोजाज़ा है। जहॉ प्रकृति यौवन के पूर्ण उभार पर है, जहॉ सब-कुछ हरा-भरा और फला-फूला है, वहॉ चलकर रहना चाहिए—यह सोचकर हम लोग, जो दूसरों के परिश्रम पर जीने के अभ्यासी हैं, शुद्ध वायु का सेवन करने और हरे-भरे खेतो और जंगल की हरियाली देखने के लिए गॉवो मे जाते है।

यहाँ, गाँवों में, ग़रीब लोग ज्वार-बाजरे की रोटी और प्याज़ के टुकड़े पर रहते हैं, रोज १८ घण्टे काम करते हैं, और तिसपर न तो उन्हें पूरी नींद मिलती है, और न पहनने को पूरे कपड़े। ऐसे ग़रीबों में शहर के अमीर आकर बसते हैं। यहाँ किसी प्रकार का कोई प्रलोभन नहीं है, न कल-कारखाने हैं, न बेकार लोग, जो शहरों में बहुतायत से पाये जाते हैं। इसलिए दूसरों को काम में लगाकर हम उनका पोषण करने का बहाना भी नहीं कर सकते। यहाँ लोगों को अपना ही इतना काम रहता है कि समय पर वे उसे ही पूरा नहीं कर पाते; बल्कि अक्सर आदमियों की कमी से बहुत-सा माल खराब हो जाता है और बहुत-से मर्द, बच्चे, वृद्ध और गर्भवती स्त्रियाँ प्रायः अपनी शक्ति से अधिक काम करती हैं।

अच्छा तो सुनिए, अमीर लोग यहाँ गाँवों में आकर किस तरह रहते हैं? यदि पुराने ज़माने का बना हुआ कोई मकान वहाँ हुआ तो उसकी मरम्मत और सफाई होती है और उसे फिर से सजाया जाता है। यदि कोई पुराना मकान न हुआ तो दुमंजिला-तिमंजिला नया शानदार मकान बनाया जाता है और उसे क़ीमती सामान से सजाया जाता है। मकान के पास सड़कें बनायी जाती हैं, फुलवाड़ी लगायी जाती है और सब तरह की आराइश का प्रबन्ध किया जाता है। सब पर रङ्गसाजी होती है। गरज़ कि हमारे समाज का आदमी चाहे कितना ही उदार विचारों का क्यों न हो, वह गाँव में सदा ऐसे ही मकान में रहता है जिसको बनाने, सँवारने और साफ-सुथरा रखने के लिए दर्जनों आदमी चाहिएँ—हालाँकि उन आदमियों को अपने खेत की देखभाल करने के लिए ही काफी समय नहीं मिलता है।

यहाँ हम यह नहीं कह सकते कि कल-कारखाने पहले ही से बने हुए हैं और वे जारी रहेंगे—चाहे हम उनका उपयोग करें या न करें। हम यह भी नहीं कह सकते कि हम बेकार आदमियों की परवरिश कर रहे हैं, यहाँ तो हम केवल अपनी ही आराइश की खातिर कारखाने खोलते हैं

और आस-पास के लोगो का अपने काम के लिए उपयोग करते हैं, और इस तरह लोगो का हम उस काम से हटाते हैं, जो न केवल उनके लिए, बल्कि हमारे सबके लिए आवश्यक हैं। इस पद्धति द्वारा हम कुछ लोगो का नैतिक ह्रास भी करते हैं और कुछ की ज़िन्दगी व तन्दरुस्ती बरबाद कर देते है।

कल्पना कीजिए कि किसी गाँव मे उच्चवर्ग अथवा सरकारी अफसरो का एक शिक्षित और प्रतिष्ठित परिवार रहता है। परिवार के सब लोग तथा मित्रगण जून के मध्य में वहाँ आकर एकत्र होते है। जून तक तो वे पढने-पढ़ाने और परीक्षाओ में ही लगे रहते हैं। वे उस समय आते हैं कि जब कटाई शुरू होती है और फसल काटने व बोने आदि ज़रूरी कामो के समय तक वह वहाँ रहते है। कटाई के बाद घास इकट्ठा करने का काम होता है। सितम्बर मे ये लोग शहरों को वापिस चले जाते हैं। उस समय काम समाप्त तो नही हो जाता, क्योकि बोनी और आलू खोदने का काम होता रहता है, परन्तु काम की वैसी भीड नही रहती।

ये लोग जबतक गाँवो मे रहते है तबतक बराबर उनके चारो ओर जोरो से खेती-बाडी के काम मे किसान लोग रहते है। इस काम मे इनको कितना परिश्रम करना पडता है, यह हम स्वयं काम करके ही अनुभव कर सकते है, पढ़ सुनकर नही।

लगभग १० मनुष्यो का यह कुटुम्ब शहर मे जिस तरह रहता है; उसी तरह अथवा उससे भी ख़राब ढंग से यहाँ रहता है। यहाँ गाँव मे तो वे आराम करने के विचार से (कुछ काम किये बिना ही) आते हैं; इसलिए यहाँ वे काम का नाम भी नही लेते।

इन दिनों बेचारे किसान 'क्वास'×, रोटी और प्याज़ पर गुज़र करते हैं। गाँव मे रहने के लिए आये हुए नागरिक लोग इस काम को देखते हैं, कभी अपने लोगो को उस काम को करने के लिए कहते हैं और उसका आनन्द लेते है। घास की भीनी-भीनी गन्ध, स्त्रियों के गीत,

×घर पर बनाया हुआ एक सस्ता रूसी पेय।

हॅम्मियो के चलने की आवाज़ और काटनेवाले लोगो की कतार का दृश्य और स्त्रियों के पास इकट्ठे करने के ढंग—यह सब उनके प्रमोद की सामग्री होती है।

कटाई का काम दुनिया मे बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्रायः हर साल ही आदमियो की कमी और समयाभाव के कारण कटाई का काम अधूरा रह जाता है और इसी तरह घास अधकटी रह जाती है और बरसात आ जाती है। मजदूरो की कमी-बेशी पर यह निर्भर रहता है कि २० या २५ फीसदी घास किसानो के घर ज्यादा जायगी अथवा योंही खडी-खडी सड जायगी। किसानों के लिए उन्हीं दिनों इस प्रश्न का निर्णय हो जाता है कि जाड़े में उसको, उसके बच्चो को रोटी और दूध किस परिमाण मे मिल सकेगा? काम करनेवाले सभी स्त्री-पुरुष इस बात को जानते हैं और बालक भी जानते हैं कि यह काम बहुत ही ज़रूरी है। वे अपने पिता के लिए खेत पर 'क्वास' का घडा ले जाने का काम करते है। भारी घड़े को एक हाथ से दूसरे हाथ में बदलते हुए पिता नाराज़ न हो, इसलिए समय पर पहुँचने के लिए दो-दो मील नंगे पॉव दौड़ते हुए जाते है। सब जानते हैं कि कटाई के समय से लेकर जबतक फसल कटकर घर मे न पहुँच जाय, तबतक दम लेने की फुर्सत नहीं है।

इसके अलावा हरएक को कुछ-न-कुछ और भी काम होता है। उन्हे नया खेत जोतना और पटेला देना होता है। स्त्रियों को रोटी बनाने, कपडा धोने के सिवा कातना-बुनना भी पडता है। पुरुषो को बाज़ार और शहर में जाना पडता है; समाज-सम्बन्धी काम देखने होते है, कचहरी जाना पडता है। सरकारी अफसरो के लिए सवारियो का इन्तज़ाम करना पड़ता है, और रात मे घोडो को चराना होता है। बूढे, बच्चे, बीमार, सभी को अपनी पूरी शक्ति-भर काम करना पडता है। किसान लोग इतनी मेहतत से काम करते है कि अन्तिम कतार काटने वाले—जिनमे बीमार, बूढ़े और बच्चे भी होते हैं—इतने थक जाते हैं

कि थोडा-सा सुस्ताने के बाद काम करने मे बड़ी पीडा होती है। गर्भवती और बच्चेवाली स्त्रियॉ भी कड़ी मेहनत करती है।

काम बडी मशक़्क़त का है और लगातार होता है। सब आदमी पूरी ताक़त से काम करते है। इस काम के समय अपने अपूर्ण भोजन से जो शक्ति उन्हें मिलती है वह तो ख़र्च हो ही जाती है, परन्तु पुरानी पूँजी भी ख़र्च कर डालते है। एक तो वैसे भी ये लोग बहुत मोटे और तगड़े नहीं होते, इसपर फ़सल के मौसम पर सभी लोग अधिक मेहनत के कारण दुबले हो जाते है।

तीन किसानों की एक छोटी-सी टोली कटाई का काम कर रही है। उनमे एक वृद्ध है, एक उसका विवाहित भतीजा है, और तीसरा गॉव का मोची है, जो एक पतला किन्तु मज़बूत आदमी है। उनकी आज की लुनाई पर ही उनका भविष्य निर्भर है; यह आज ही निश्चय हो जायगा कि जाड़ों मे वे गाय रख सकेंगे कि नही और अपना कर चुका सकेंगे कि नही? उन्हे काम करते हुए दो सप्ताह हुए हैं। बीच मे वर्षा के कारण कुछ काम मे रुकावट आगयी थी। जब वर्षा बन्द हो गयी और पानी सूख गया तब उन्होने घास को इकट्ठा करने के लिए निश्चय किया कि एक-एक दॉती पर दो-दो स्त्रियॉ काम करें। वृद्ध आदमी के साथ उसकी पत्नी भी आयी, जिसकी उम्र पचास वर्ष की है और अधिक काम करने तथा ११ बच्चो की मॉ होने के कारण बहुत थक गयी है, वह बहरी भी है, पर अभी काम करने लायक है। वृद्ध के साथ उसकी १३ वर्ष की लडकी भी है, जो छोटे क़द की तेज़ और मज़बूत छोटी-सी छोकरी है। भतीजे के साथ उसकी बहू भी आयी। वह लम्बे क़द की किसानो की तरह साधारणतः मज़बूत जिस्म की थी। उसकी साली भी थी, जो एक सैनिक की स्त्री थी और उस समय गर्भवती थी। मोची के साथ उसकी स्त्री और उसकी सास आयी। स्त्री एक दृढ़काय मज़दूरनी थी और उसकी सास ८० वर्ष की एक बुढिया थी, जो इस समय को छोड़कर बाक़ी साल-भर भीख मॉगकर गुज़र करती थी।

वे कतार बाँधकर काम पर जुट जाते हैं और जून मास की जलती हुई धूप मे सुबह से लेकर शाम तक काम करते है। इस समय का प्रत्येक क्षण बहुमूल्य है। वे पानी अथवा 'क्वास' लाने के लिए भी अपना काम छोड़ना नही चाहते। एक छोटा बालक, जो उस बुढ़िया का नाती है, सबके लिए पानी लाता है। वह दॉतिये को हाथ से नही छोडती। उसे चलने-फिरने मे बडी मुश्किल होती है। वह छोटा बालक जो बर्तन के बोझ से झुका जा रहा है, नंगे पैर छोटे-छोटे कदम रखकर चलता है और बर्तन को बार-बार हाथ मे बदलता जाता है। छोटी लडकी भी अपने से भी अधिक भारी बोझ कंधे पर उठाती है, थोडी दूर लेकर जाती है, फिर ठहर जाती है, और फिर आगे ले जाने की शक्ति न होने के कारण उसे ज़मीन पर फेक देती है। वृद्ध की स्त्री लगातार घास इकट्ठा कर रही है, वह घास का गट्ठा उठाकर ले जाती है और मारे बोझ के लड़खडाकर चलती और बेतरह हॉफ़ती है। मोची की माँ केवल घास इकट्ठी करती है, किन्तु यह भी उसकी शक्ति के बाहर का काम है। वृत्त की खाल के जूते पहने वह धीरे-धीरे घसीटती है, उसकी दृष्टि बिलकुल निस्तेज है, और ऐसी मालूम पड़ती है, जैसे वह बहुत बीमार अथवा मरणासन्न हो। वृद्ध जान-बूझकर उसे सब लोगो से दूर घास के ढेर के पास घास इकट्ठी करने के लिए भेजता है, ताकि वह दूसरो की देखादेखी दूना काम करने की हवस में न पडे। किन्तु वह अपना काम छोडकर जाती नही और जबतक दूसरे लोग काम करते हैं, तबतक वह भी उनके साथ उसी मुरझाई हुई निस्तेज मुखाकृति के साथ काम करती रहती है।

वृक्षों के पीछे सूरज डूब रहा है, किन्तु घास के ढेर अभी ठीक नही हो पाये है, अभी बहुत-कुछ करना बाकी है। सभी महसूस करते हैं कि अब काम बन्द करने का समय आ गया है, किन्तु कोई कहता नहीं। सभी यह देखते है कि कोई दूसरा उसका जिक्र करे। अन्तत. बेचारा मोची यह देखकर कि अब उसमे शक्ति नहां है, वृद्ध से प्रस्ताव करता है कि अब काम

कल के लिए छोड़ दिया जाये। वृद्ध सहमत हो जाता है, स्त्रियाँ तुरन्त अपने कपडे, सुराही और घास उठाने के औज़ार लेने के लिए दौडती हैं। वह बुढ़िया जहाँ खडी थी, वहाँ बैठ जाती है और फिर वैसी ही अर्थ-हीन दृष्टि के साथ लेट जाती है, लेकिन जब औरतें जाने लगती हैं तब वह भी कराहती हुई उठती है और घसिटती हुई उनके पीछे-पीछे चल पडती है।

अच्छा, अब ज़रा उस घर की ओर देखिए, जहाँ कि लोग आकर बसे है। उसी शाम को, जबकि थके-माँदे बुवाई करनेवाले लोगो के हँसियो की खनखनाहट घर लौटते समय गाँव के पास सुनायी पडी, एरन पर पड़ते हुए हथौडों की आवाज़े और उन स्त्रियों और बालिकाओं का शोरोगुल सुनाई पड़ रहा था, जो गाय-बैलो को हाँककर लाने के लिए दौड़ी जा रही थी। इन आवाज़ों के साथ मिलती हुई कुछ दूसरे ही प्रकार की शहरवालों के मकान से निकलती हुई आवाज़े भी सुनाई देती है। प्यानो बाजा बज रहा है, और क्रिकेट की गेंदो की तडतड़ाहट को पार करता हुआ एक हंगेरियन संगीत का स्वर सुनाई पड़ता है। अस्तबल के सामने एक खुली हुई हवादार गाडी खड़ी हुई है, जिस मे चार मोटे-ताजे घोड़े जुते हुए हैं।

गाडी के घोडे अपनी छोटी-छोटी घण्टियाँ बजाते है। उनके सामने घास पड़ी हुई है, जिसे वे अपने खुरों से रोदते और इधर-उधर फैलाते हैं। यह वही घास है, जिसे किसान लोग इतनी मेहनत से इकट्ठा कर रहे थे। बाड़े मे कुछ हलचल मालूम होती है। एक स्वस्थ मोटा-ताजा आदमी, जो दरबानी की सेवा बजाने के लिए दी गयी लाल कमीज पहने हुए है, कोचमैनो को पुकारकर घोड़ों पर जीन कसने के लिए कह रहा है। दो किसान, जो वहाँ कोचमैनी का काम करते हैं, आवाज़ सुन-कर अपनी कोठरी मे से निकले और मजे मे हाथ हिलाते हुए घोडे कसने के लिए गये। घर में एक ओर 'पियानो' की आवाज़ आ रही है। यह संगीत सिखानेवाली महिला है, जो घर मे रहती है और

बच्चो को गाना सिखाती है। वही इस समय किसी गीत का अभ्यास कर रही है। घर के पास ही दो धायें घूम रही हैं। उनमे से एक बूढ़ी है, और दूसरी जवान। वे बच्चो को बिस्तर पर सुलाने को जा रही हैं। इनमे से कुछ बालक अवस्था मे उन बालको के बराबर हैं, जो क्वास के घडे ले-लेकर खेतो को जा रहे थे। एक धाय अंग्रेज है, वह रूसी भाषा नही जानती। वह इंग्लैंड से खासतौर पर बुलायी गयी—इसलिए नही कि उसमे कोई विशेष गुण है; बस, केवल इसलिए कि वह रूसी भाषा नही जानती। ज़रा आगे एक फ्रांसीसी औरत है और वह भी इसी लिए नौकर रक्खी गयी है कि वह रूसी भाषा नही जानती है। उससे आगे एक किसान दो औरतो के साथ घर के पास की फुलवारी मे पानी दे रहा है। एक दूसरा किसान एक कुँवर साहब की बन्दूक साफ़ कर रहा है। दो औरतें धुले हुए कपडे टोकरी मे रक्खे लिये जा रही हैं—ये सब इन्हीं शरीफजादो के कपड़े हैं, जिन्हे वे धोकर ला रही है। घर के अन्दर दो स्त्रियो को जूठे बर्तन माँजने से ही फुरसत नहीं मिलती। दो किसान सन्ध्याकालीन लिबास पहने हुए जीने पर चढ़-उतर रहे हैं और चाय, काफी, शराब आदि ला-लाकर रख रहे हैं। छत पर मेज़ बिछा दी गयी है। भोजन अभी समाप्त हुआ है और दूसरा शीघ्र ही प्रारम्भ होगा और वह चार बजे तक कभी-कभी तो ठेठ सवेरे तक जारी रहता है। कुछ लोग बैठे सिगरेट पी रहे हैं और ताश खेल रहे हैं; कुछ लोग ऐसे हैं, जो इधर-उधर घूमते हैं, खाते हैं, पीते है, सिगरेट फूँकते हैं, और जब जी नहीं लगता तो गाडी पर सवार होकर घूमने निकल जाते है।

इस घर मे स्त्री-पुरुषो को मिलाकर कुल १५ आदमी है, जो सबके सब स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट है। तीस तन्दुरुस्त कामकाजी स्त्री-पुरुष उनकी सेवा में लगे रहते हैं और यह सब लीला वहाँ गाँव मे ऐसे समय मे होती है, जब प्रत्येक घण्टा प्रत्येक मिनट और बच्चे-बच्चे की सेवा अत्यन्त बहुमूल्य होती है।

जुलाई के महीने में भी अमीर लोगो की यही हालत होगी, जबकि किसान लोग रात-रात भर नीद हराम करके ओट (एक प्रकार का अनाज) ख़राब होजाने के भय से उन्हें काटने में व्यस्त होगे और स्त्रियाँ भी ब्राह्म-मुहूर्त से पहले ही उठकर उन्हे ओटने लगेगी, ताकि काम समय पर समाप्त हो जाय । और इस समय भी वह बूढ़ी स्त्री जो पिछली फसल के समय अत्यधिक श्रम के कारण मरणासन्न होगयी थी, और गर्भवती स्त्रियाँ तथा छोटे-छोटे बच्चे सभी बूते से बाहर काम करेंगे । इस समय काम करने-वाले आदमियो की, घोड़ो और गाडियो की सख्त ज़रूरत होगी, क्योंकि नाज इकट्ठा करना और भर-भरकर उसे घर मे लाना है । इसी नाज पर मनुष्यो का जीवन अवलम्बित है । किन्तु इसी समय धनी लोग अपने आमोद-प्रमोद, नाच-रंग, सैर-शिकार, नाटक-सिनेमा आदि मे मस्त रहते है और दूसरे लोगो को भी काम से हटाकर अपनी सेवा मे लगाते हैं ।

यहाँ पर तो ये अमीर लोग ऐसा भी नही कह सकते कि यह काम पहले ही से होता आ रहा है, यहाँ तो ऐसी बात नहीं है । यहाँ तो हमं स्वयं ही ऐसे जीवन का सूत्रपात करते है और काम कर-करके खप-खप कर मरनेवाले लोगो से उनकी रोटी और मेहनत ले लेते है । हम बड़े आराम के साथ अपना जीवन व्यतीत करते है, जैसे कि उस मरनेवाली धोबिन, उस बालिका वेश्या, सिगरेट बना-बनाकर स्वास्थ्य नष्ट करनेवाली उस औरत मे और हमारे चारो ओर जो लोग भर पेट खाये बिना ही कठोर श्रम कर रहे है उनमे कोई सम्बन्ध ही नही है । हम इस बात को देखना नही चाहते कि यदि हमारे जैसे आलसी, विलासी और पतित जीवन बिताने वाले लोग न हों, तो इन बेचारे ग़रीब लोगो को इस प्रकार अपनी शक्ति से कहीं अधिक मेहनत न करनी पडे ।

हम ऐसा समझते हैं कि इन लोगो के इन प्रश्नो से और हमारे जीवन से किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नही है—वह एक बात है और यह बिलकुल दूसरी बात, और हम जो यह जीवन बिता रहे हैं वह बिल-कुल निर्दोष और पवित्र है । हम रोमन लोगो के जीवन पढ़ते हैं और उन

अमीरो के अमानुषिक व्यवहार पर आश्चर्य करते है, जब हम यह देखते है कि वे तो बढ़िया-बढिया मकान और क़ीमती शराब से अपने पेट को ठूँस-ठूँस कर भर रहे हैं और दूसरे लोग फ़ाके कर रहे हैं। हम अपने दास-दासी रखनेवाले पूर्वजो की बर्बरता पर हैरान होते है, जब हम सुनते है कि वे नाटक और गाने मे मस्त रहते थे और बाग़ या शिकार-गाह बनाने के लिए गाँव के गाँव उजाड देते थे। हम अपनी उच्चता के शिखर पर बैठे हुए उनकी इस प्रकार की अमानुषिकता पर आश्चर्य प्रकट करते हैं। किन्तु हम यह देख नही पाते कि हमारी भी ऐसी स्थिति हो गयी है और अब भी हो रही है। हम सुनते नही, हम देखते नही, और हम अपने मन से विचार नही करते।

किन्तु यह सब हुआ क्यो ?

अकाल ही में वे काल के शिकार हो जाते हैं; कुछ ऐसे आदमियों को भी देखेंगे कि जो अपनी भरी जवानी में ही भयंकर और हानिकारक कामों को करने के कारण मर जाते हैं।

हम देखते हैं कि जबसे संसार का प्रारम्भ हुआ तभीसे मनुष्य अपनी आवश्यकताओं के लिए सिरतोड मेहनत करते हैं, दुख और यातनायें भी सहते हैं, पर अभी तक वे अपनी इस मुश्किल को हल नही कर पाये। इसके अलावा हम यह भी जानते है कि हममे से प्रत्येक मनुष्य—फिर चाहे वह कही और किसी रूप मे रहता हो—प्रत्येक दिन और प्रत्येक घन्टे मनुष्य-समाज के द्वारा किये हुए परिश्रम की इच्छा अथवा अनिच्छा से, समझते-बूझते हुए अथवा अनजान मे, लाभ उठाता है।

मनुष्य कहीं भी और किसी रूप से रहता हो, पर यह निश्चित है कि उसके सिर पर जो मकान की छत है वह स्वयं नहीं बनी; चूल्हे में जलनेवाली लकडियाँ भी अपने आप वहाँ नहीं पहुँच गयी, न पानी बिना लाये स्वयमेव आगया, और पकी हुई रोटियाँ भी आसमान से नहीं बरसी। उनका खाना, कपडा और पैरों के जूते ये सब उसके लिए बनाये गये हैं और इनके बनानेवाले पिछली पीढियों में रहनेवाले वे लोग नही थे, जो अब मर-खप गये है। ये सब काम आजकल रहने वाले वे ही लोग कर रहे है, जो अपनी ज़रूरते पूरा करने नही पाते और दुनिया मे दूसरो के लिए मेहनत करते घुल-घुलकर मर जाते हैं।

इस संसार के लोग तूफान मे पडे हुए ऐसे जहाज़ के यात्रियो के समान है कि जिसमे खाने की सामग्री बहुत कम है। हम सबको, ईश्वर ने कहिए अथवा प्रकृति ने, ऐसी स्थिति मे रक्खा है कि हममे से प्रत्येक को अपने भोजन की प्राप्ति के लिए पूरा प्रयत्न करना चाहिए। और अभाव के साथ सदा युद्ध करते रहना चाहिए। यदि हममें से कोई भी आदमी मेहनत न करे अथवा दूसरे लोगो की मज़दूरी का दुरुपयोग करे तो इससे हमारा तथा हमारे समाज का एक समान नाश ही होगा।

हम क्या करें ?

"......टॉल्स्टॉय की यह पुस्तक ! यह बहुत खराब किताब है। यह हमे जागृत करती है, अस्वस्थ करती है, धर्म-भीरु बनाती है। इस पुस्तक के पढने के बाद भोग विलास और आनदोल्लास मे पश्चात्ताप का कडुआ ककड़ पड जाता है। अपना जीवन सुधारने पर ही यह मनोव्यथा कुछ कम होती है।..."

"इस पुस्तक का पढना सरल नही है। यह ऐसी है कि सस्कृति अथवा सात्विक वृत्ति वाले मनुष्य को अन्ततक नही छोडती।...."

काका कालेलकर

मूल्य
सवा रुपया

र स्वाभाविक श्रम से
धोखेबाज नहीं समझते
सकता है। एक तो
बचते हैं वे इन काम
समाज मे और ही तरह
र्थात् वे मक्खी रानी
साधारण मक्खियों से
लेए जो काम करते हैं,
दूसरे लोगों पर अपने
हैं, उसका पूरा-पूरा

कमाई पर जीवित रहते
री ही श्रेणी, दूसरी
ने उन्हे एक विशिष्ट
रने के लिए, अर्थात्,
। इसलिए वे दूसरो
5 इस बात मे विश्वास
की अपेक्षा वे लोगों
करते है।
सब लोग एक-समान
ौर ईश्वर प्रत्यक्ष रूप
बतक तो यह दलील
नुष्य की समानता व
ने पूर्व रूप मे पेश न की
। था कि कुछ मनुष्य
उन्हें खास काम सौपा
है सही, पर धीरे-धीरे

अकाल ही में वे काल के शिकार हो जाते हैं; कुछ ऐसे आदमियों को भी देखेंगे कि जो अपनी भरी जवानी मे ही भयंकर और हानिकारक कामों को करने के कारण मर जाते है।

हम देखते हैं कि जबसे संसार का प्रारम्भ हुआ तभीसे मनुष्य अपनी आवश्यकताओ के लिए सिरतोड मेहनत करते हैं, दुख और यातनायें भी सहते हैं, पर अभी तक वे अपनी इस मुश्किल को हल नही कर पाये। इसके अलावा हम यह भी जानते है कि हममे से प्रत्येक मनुष्य—फिर चाहे वह कही और किसी रूप मे रहता हो—प्रत्येक दिन और प्रत्येक घन्टे मनुष्य-समाज के द्वारा किये हुए परिश्रम की इच्छा अथवा अनिच्छा से, समझते-बूझते हुए अथवा अनजान में, लाभ उठाता है।

मनुष्य कहीं भी और किसी रूप से रहता हो, पर यह निश्चित है कि उसके सिर पर जो मकान की छत है वह स्वयं नहीं बनी; चूल्हे में जलनेवाली लकडियाँ भी अपने आप वहाँ नहीं पहुँच गयी, न पानी बिना लाये स्वयमेव आगया, और पकी हुई रोटियाँ भी आसमान से नहीं बरसी। उनका खाना, कपडा और पैरों के जूते ये सब उसके लिए बनाये गये हैं और इनके बनानेवाले पिछली पीढ़ियों में रहनेवाले वे लोग नहीं थे, जो अब मर-खप गये है। ये सब काम आजकल रहने वाले वे ही लोग कर रहे है, जो अपनी ज़रूरते पूरा करने नही पाते और दुनिया मे दूसरो के लिए मेहनत करते घुल-घुलकर मर जाते हैं।

इस संसार के लोग तूफान मे पडे हुए ऐसे जहाज़ के यात्रियो के समान हैं कि जिसमें खाने की सामग्री बहुत कम है। हम सबको, ईश्वर ने कहिए अथवा प्रकृति ने, ऐसी स्थिति मे रक्खा है कि हममें से प्रत्येक को अपने भोजन की प्राप्ति के लिए पूरा प्रयत्न करना चाहिए। और अभाव के साथ सदा युद्ध करते रहना चाहिए। यदि हममे से कोई भी आदमी मेहनत न करे अथवा दूसरे लोगो की मज़दूरी का दुरुपयोग करे तो इससे हमारा तथा हमारे समाज का एक समान नाश ही होगा।

यदि हम अपने को सभी के लिए लाज़मी और स्वाभाविक श्रम से मुक्त कर देते है और फिर भी अपने को चोर और धोखेबाज़ नहीं समझते हैं तो यह केवल दो बातो को फर्ज कर लेने से हो सकता है । एक तो यह कि हम लोग, जो लाज़मी मेहनत करने से बचते हैं वे इन काम करनेवाले लोगों से विभिन्न श्रेणी के है और वे समाज मे और ही तरह का एक विशिष्ट काम करने के लिए पैदा हुए—अर्थात् वे मक्खी रानी अथवा नर-मक्खी की तरह है कि जिनका काम साधारण मक्खियों से जुदा है । और दूसरी यह कि हम लोग दूसरों के लिए जो काम करते है, वे इतने सब लोगो के लिए उपयोगी है कि हम दूसरे लोगों पर अपने हिस्से का बोझ डालकर उन्हे जो हानि पहुँचाते है, उसका पूरा-पूरा बदला उनके द्वारा चुका दिया जाता है ।

पुराने ज़माने में जो लोग दूसरे आदमियों की कमाई पर जीवित रहते थे, वे अव्वल तो यह दावा करते थे कि वे एक दूसरी ही श्रेणी, दूसरी ही जाति के मनुष्य हैं, और दूसरे यह कि ईश्वर ने उन्हें एक विशिष्ट कार्य करने के लिए भेजा है—दूसरो का भला करने के लिए, अर्थात्, उनपर शासन करने और उन्हें शिक्षा देने के लिए । इसलिए वे दूसरो को विश्वास दिलाते थे और स्वयं ही कुछ अंश तक इस बात मे विश्वास करते थे कि लोगो की मेहनत से मिलनेवाले लाभ की अपेक्षा वे लोगो के लिए कहीं अधिक उपयोगी और आवश्यक काम करते हैं ।

जबतक लोगो मे यह विश्वास बना रहा कि सब लोग एक-समान नहीं हैं—कुछ जातियाँ स्वभावतः ही ऊँची है और ईश्वर प्रत्यक्ष रूप से मानव-समाज के कार्यों मे हस्तक्षेप करता है तबतक तो यह दलील चलती रही । किन्तु ईसाई-धर्म के जन्म और मनुष्य की समानता व एकता का विचार पैदा होने के बाद यह युक्ति अपने पूर्व रूप में पेश न की जा सकी । इस बात का दावा करना अब सम्भव न था कि कुछ मनुष्य जन्म से ही ऊँची श्रेणी के होते है और ईश्वर ने उन्हे खास काम सौंपा है । यह दलील पेश करनेवाले अब भी कहीं-कहीं है सही, पर धीरे-धीरे

यह दलील मिटती जा रही है और करीब-क़रीब बिलकुल ही मिट चुकी है। यद्यपि यह दलील नहीं रही है, फिर भी यह बात तो अभी तक वैसी ही बनी हुई है।

इस बात के समर्थन के लिए अनेकों नयी दलीलें निकाली गयी हैं। यह बात कितनी विचित्र क्यों न लगे, किन्तु यह सच है कि विज्ञान या शास्त्र की मुख्य प्रवृत्ति यही है कि श्रम-बन्धन से मुक्त होने की दलीलें सोच निकाली जायँ। धर्म-विज्ञान और कायदा-क़ानून सम्बन्धी विज्ञान का यही उद्देश्य रहा है; तत्त्व-ज्ञान के नाम से पुकारे जानेवाले शास्त्र का भी यही उद्देश्य था; और आजकल के नये भौतिक विज्ञान का भी यही लक्ष्य हो रहा है।

किसी सम्प्रदाय-विशेष अथवा किसी खास चर्च के माननेवाले लोग ही ईसामसीह के सच्चे अनुयायी हैं और इसलिए मनुष्यों की आत्मा और शरीर के ऊपर उसी सम्प्रदाय अथवा चर्च का सम्पूर्ण और अमर्यादित अधिकार है, यह साबित करनेवाले धर्मशास्त्रों का भी यही मुख्य हेतु है।

क़ायदा-क़ानून से सम्बन्ध रखनेवाले सभी विज्ञान—राज्य-संचालन सम्बन्धी फ़ौजदारी, दीवानी अथवा अन्तर्राष्टीय नियम इस बात के लिए है। तत्वज्ञान-सम्बन्धी अनेक मत, ख़ासकर हेगल का मत—जो बहुत समय तक मनुष्यों के दिमाग़ पर शासन करता रहा—यही बात सिद्ध करना चाहता था। वह यह प्रतिपादित करता था कि इस समय जो स्थिति है वह ठीक ही है। मानवी शक्तियो के विकास के लिए राज्य-तन्त्र एक आवश्यक पद्धति है। कान्ट का आधिभौतिक वाद और उससे उत्पन्न होनेवाला यह सिद्धान्त कि मनुष्य-समाज एक विराट् शरीर है, डारविन का जीवन-संघर्षवाला सिद्धान्त, जो आजकल सर्वमान्य हो रहा है और जो मनुष्य-समाज की विभिन्नता और असमानता प्रतिपादित करता है, आजकल लोगो को बहुत पसन्द आनेवाला मानसशास्त्र, प्राणिशास्त्र और समाजशास्त्र—इन सबका भी वही एक ही लक्ष्य है। ये विज्ञान लोकप्रिय होगये है, क्योकि वे हमारी उस वर्तमान स्थिति का समर्थन करते

हैं, जिसमें होशियार मनुष्य अपने को मेहनत के ज़रूरी कर्तव्य की कमाई का आनन्द दे सकते हैं।

ये सारे सिद्धान्त, जैसा कि सदा से होता आया है, बडे-बडे आचार्यों की गैबी गुफाओं मे गढ़े जाते है और फिर अस्पष्ट-अगम्य भाषा मे लोगों के अन्दर उनका प्रचार किया जाता है और लोग उन्हे स्वीकार कर लेते है।

पुराने जमाने मे जिस तरह धर्मशास्त्र-सम्बन्धी बारीकियाँ, जो चर्च और राज्य में होनेवाली ज़बरदस्ती और हिंसा का समर्थन करती थीं, केवल पुरोहितों की ही सम्पत्ति थी और सर्वसाधारण मे जिस तरह गढे-गढाये सिद्धान्तो को फैलाया जाता था, जिन्हे लोग श्रद्धा-वश स्वीकार कर लेते थे और जिनसे ऐसी बातों का प्रचार किया जाता था कि राजाओ, धर्माचार्यों और अमीरों की सत्ता ईश्वरदत्त है, उसी तरह बाद को यह घोषित किया जाने लगा कि विज्ञान नाम-धारी शास्त्र की दार्शनिक और कानूनी सूक्ष्मतायें विज्ञान के पुरोहितो की ही एकमात्र सम्पत्ति हैं और लोगों के अन्दर यह सिद्धान्त फैलाया जाने लगा कि हमारी सामाजिक अवस्था अर्थात् समाज का सगठन जैसा इस समय है वैसा ही होना चाहिए, इसके विपरीत कुछ नहीं हो सकता। लोगों ने भी विना तर्क-वितर्क किये श्रद्धा-पूर्वक उसे स्वीकार कर लिया।

आजकल यह कहा जाता है कि श्रम-विभाग का नियम ऐसा है जिसे विज्ञान भी सिद्ध कर सकता है, और इसलिए दुनिया मे कुछ लोग ऐसे होने ही चाहिएँ कि जो भूखो मरकर भी मेहनत करे और दूसरे सदा मौज उडाते रहे। यही मनुष्य-जीवन का नियम है कि कुछ लोग बरबाद हो और दूसरे मजे करे और हमे इस नियम के तावे रहना ही होगा।

रेलवे के लोगों से लेकर लेखक या कला-कोविद तक विविध प्रकृ-तियोवाले जितने शिक्षित कहे जानेवाले लोग है, उनके आलसी जीवन का एकमात्र यही बचाव है। वे कहते है कि हम लोगों ने सबके लिए एकसमान लागू होनेवाले मेहनत के कर्तव्य से इसलिए अपने को मुक्त

कर लिया है, ताकि हम दुनिया को उन्नत बना सकें। हम मानव-समाज के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं—इतने उपयोगी कि लोगों की मेहनत का फल छीनकर हम जो हानि पहुंचाते हैं, उस सबकी पूर्ति कर देते है।

पहले ज़माने के आलसी लोग अपना बचाव करने के लिए जिस प्रकार जवाब देते थे, उससे आजकल के लोगों का यह जवाब भिन्न मालूम होता है।

किन्तु यह भेद केवल मालूम ही पडता है। यह भेद ऊपरी है। बस, कहने के ढंग मे अन्तर है, किन्तु वास्तव में वह है वही, क्योंकि वह एक ही सिद्धान्त पर अवलम्बित है। जो लोग बिना मेहनत किये दूसरो के श्रम से लाभ उठाते हैं जैसे कि फैरोआ और उसके धर्माचार्य, रोमन तथा मध्यकालीन सम्राट और उनके नागरिक; सामन्त, पुरोहित और धर्माचार्य—इन सबके जवाब मे सदा दो बातें रहती है।

एक तो यह कि हम दूसरे लोगो की मेहनत से जो लाभ उठाते हैं, उसका कारण यह है कि हम विशिष्ट वर्ग के मनुष्य हैं और इन लोगो का शासन करने तथा शिक्षा देने का काम ईश्वर ने हमें सौंपा है।

दूसरा यह कि जिन लोगो के पास से हम श्रम फल को ले लेते हैं वे उस भलाई का मूल्य नही आँक सकते, जो हम बदले मे उनके साथ करते हैं।

हमारे ज़माने की दलील मे और प्राचीन काल की दलील मे यदि कुछ अन्तर है तो सिर्फ इतना ही कि हम लोगों की दलील पहले के लोगो की दलील की अपेक्षा अधिक असत्य और सदोष है।

प्राचीन काल के धर्माचार्य और सम्राट तो अपने को दैवी पुरुष मानते थे, और लोग भी उनकी इस बात को कबूल करते थे। इसलिए वे तो बडी आसानी से यह कह सकते थे कि हमे दूसरो की मज़दूरी से लाभ उठाने का हक है, वे तो दावा करते थे कि हमे ईश्वर ने पैदा ही इसलिए किया है और ईश्वर का यह उन्हे आदेश था कि ईश्वर की प्रेरणा

से जो दिव्य सत्य उन्हें प्राप्त हो, उनको जनता तक पहुँचा करके लोगों पर शासन करें।

किन्तु आधुनिक शिक्षित लोग, जो अपने हाथ से मेहनत नहीं करते, सब मनुष्यों की समानता के सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं, इसलिए वे इस शंका का निराकरण नहीं कर सकते कि क्यों वे आराम-तलब और आलसी-जीवन व्यतीत करने के योग्य समझे जायँ, जबकि और भी करोड़ों मनुष्य इस दुनिया में हैं। शिक्षा भी तो रुपये से होती है न? और रुपये का अर्थ है शक्ति। तब फिर दुनिया-भर के और सब लोगों को छोड़कर यही लोग उस शक्ति का उपभोग करने, शिक्षा प्राप्त करने के अधिकारी क्यों समझे जायें।

: २७ :

जिन लोगों ने श्रम करके कर्तव्य से अपने को मुक्त कर लिया है वे अपना बचाव किस प्रकार करते है, यह सीधे-सादे किन्तु साफ़ शब्दो मे कहना हो तो यो कहा जा सकता है।

हम लोग खुद काम नही करते और ज़बरदस्ती दूसरे लोगो की कमाई पर जीते है, किन्तु इससे हम दूसरे लोगों का उपकार करने मे अधिक समर्थ है। दूसरे शब्दों मे कहा जाये तो हम लोग दूसरे लोगो की कमाई का ज़बरदस्ती उपयोग करके प्रत्यक्ष हानि पहुँचाते हैं और उनके जीवन संघर्ष को और भी कठिन बना देते हैं, किन्तु ऐसा करते हुए भी दरअसल हम उनका हित ही करते हैं—वह हित ऐसा नही है जो लोगो को स्पष्ट दिखायी पड़े और जल्दी ही उनकी समझ में आ जाये। यह बात बडी विचित्र है, किन्तु पुराने ज़माने के लोगो की तरह ही आजकल के लोग भी जो श्रम न करके दूसरों के बल पर ही जीते हैं, इस बात पर विश्वास करते हैं, और उससे अपनी आत्मा को सन्तोष दे लेते है। वे कहते हैं:—

मैं राजा, अफ़सर या धर्माचार्य की हैसियत से जनता की सेवा करता हूँ, व्यापार, व्यवसाय या नये-नये वैज्ञानिक आविष्कारो के द्वारा संसार का उपकार करता हूँ। ये सब काम भी संसार के लिए उपयोगी है।

अब हम एक-एक करके उन सिद्धान्तो की जाँच करते हैं कि जिनके ऊपर से लोग अपने कामो की उपयोगिता का आधार रखते हैं।

एक आदमी दूसरे के साथ जो उपकार करता है उसकी दो कसौटियाँ

हो सकती हैं। एक बाहरी, जिसे लाभ पहुँचाया जाता हो, वह उस लाभ को स्वीकार करे; और दूसरी आन्तरिक, जो उपकारी के काम के मूल मे उपकार करने की भावना है या नही !

राज्य-संचालकवर्ग, जिसमे राज्य द्वारा स्थापित मठो और मन्दिरो के महन्तो का भी मै समावेश करता हूँ, कहता है कि हम प्रजा अर्थात् सर्व-साधारण के लिए उपयोगी है।

सम्राट्, राज, प्रजा-तन्त्र राज्य का प्रधान, प्रधान-मन्त्री, न्याय-मन्त्री, युद्ध-मन्त्री, शिक्षा-मन्त्री, मठो के महन्त और इन सबके नीचे काम करने-वाले कर्मचारी तथा नौकर-चाकर अपनेको मनुष्य-मात्र के लिए लाज़िमी तौर पर आवश्यक श्रम-धर्म से मुक्त करके अपने भरण-पोषण का भार दूसरो पर जो डाल देते हैं, उसका बस यही कारण है कि वे समझते है कि उनके कामो से मज़दूरो की मेहनत का बदला चुक जाता है।

अब हम इनके दावे को पहली कसौटी पर कसते है। किसान या और ग़रीब लोग क्या इस बात को स्वीकार करते है कि सरकारी कर्मचारियो के कामों से उन्हें लाभ मिलता है ?

हाँ, वे स्वीकार करते है। अधिकांश लोग मानते हैं कि सरकार के बिना काम नहीं चलता। बहुत-से लोग सिद्धान्ततः उसकी उपयोगिता को भी स्वीकार करते है। किन्तु व्यावहारिक रूप से देखने पर यह बात ऐसी मालूम नही होती।

ऐसा एक भी राज्य-सम्बन्धी अथवा सामाजिक कार्य नहीं है कि जिसे बहुतेरे लोग हानिकारक न समझते हो। अदालत, बैंक, म्युनिसिपैलिटी, जिला बोर्ड आदि स्थानीय संस्थायें, पुलिस और मठ आदि ऐसी एक भी सस्था नही कि जिसे लोग बुरा और हानिकारक न समझते हो। मन्त्री से लेकर पुलिसमैन तक और पादरी से लेकर कब्र खोदने तक की जितनी राजनैतिक व धार्मिक प्रवृत्तियाँ होती है, उन सबको एक वर्ग के लोग उप-योगी मानते है और दूसरे वर्ग के लोग हानिकारक समझते है। और यह स्थिति केवल रूस मे ही हो, सो बात नहीं, फ्रांस, अमेरिका और सारी दुनिया का यही हाल है।

राजनीतिज्ञ लोगों के कामों को सभी लोग कभी भी उपयोगी और लाभदायक नही समझते; पर इससे भी बड़ी बात यह है कि उन कामों को सम्पादन करने के लिए पशु-बल का प्रयोग करना पडता है और उन्हे सफल बनाने के लिए खून-ख़राबी, फाँसी, जेल, अनिवार्य 'कर' आदि-आदि बातें ज़रूरी हो उठती है।

इससे यह नतीजा निकलता है कि राजनीतिज्ञों की प्रवृत्तियो की उपयोगिता सब लोग तो कभी स्वीकार नहीं करते। एक वर्ग तो उनकी उपयोगिता से सदा इन्कार ही करता है और इस उपयोगिता की प्राप्ति होती भी है तो सदा शारीरिक बल के द्वारा, यह इसमे एक ख़ास बात है। इसलिए यह बात तो नहीं कही जा सकती कि जिन लोगो के लिए राजनैतिक कार्य किये जाते हैं, वे उसकी उपयोगिता को स्वीकार करते हैं।

अब हम दूसरी कसौटी को देखते है। हम राजनीतिज्ञों से पूछे—राजा से लेकर पुलिस के सिपाही तक, प्रधान से लेकर क्लर्क तक, महन्त से लेकर कब्र बनानेवाले तक किसीसे भी पूछें और उससे उसके अन्तरात्मा का सच्चा उत्तर माँगें कि वह जो काम करता है उसमे उसका आन्तरिक मूल उद्देश्य लोगों का कल्याण करना है या कुछ और है? राजा का, प्रधान का, मन्त्री का, गाँव के मुखिया का, मन्दिर के चपरासी का या शिक्षक का पद लेने को जो वह तैयार होता है, वह लोक-कल्याण के भाव से अथवा निजी लाभ के ख़याल से?

सच्चे मनुष्य का जवाब यही होगा कि इन कामों को स्वीकार करने का कारण निजी लाभ है।

तब वह कौन-सी बात है, जो यह साबित करती है कि सरकार मानव-समाज के लिए उपयोगी है? बस, बात यह है कि जो लोग सरकार चलाते हैं उनका उसकी उपयोगिता मे पक्का विश्वास है और वह सदा से चली आरही है। किन्तु सदा से चले आने की बात तो यह है कि गुलामी, वेश्या-वृत्ति और युद्ध आदि कुछ ऐसी बाते भी हैं, जो केवल

निरुपयोगी ही नहीं, प्रत्युत् अत्यन्त जघन्य हैं और वे सदा से चली आती हैं।

पूँजीपति—जिनमे व्यापारी, कारखानेवाले, रेलवे के संचालक, बैंकर और ज़मीदार भी शामिल है—यह विश्वास करते हैं कि वे अपने कार्यों से इस प्रकार लाभ पहुँचाते है, जिससे उनके द्वारा होनेवाली हानि की पूर्ति हो जाती है। पर उनके इस विश्वास का क्या आधार है? उनके कार्यों की उपयोगिता को स्वीकार कौन करता है? इस प्रश्न के उत्तर मे चर्च और सरकारी कर्मचारी उन हजारों और लाखो मज़दूरो की ओर संकेत कर देते है, जो सिद्धान्त रूप में राज्य और चर्च की उपयोगिता को स्वीकार करते है। किन्तु ये बैंकर, शराब बनानेवाले, मख़मल, पीतल और शीशे का काम करनेवाले लोग—बन्दूकें बनानेवालो का तो कोई ज़िक्र ही नहीं, मगर ये बाक़ी लोग—किसकी ओर संकेत करेंगे, जब उनसे यह पूछा जायगा कि तुम्हारे कामों की उपयोगिता को स्वीकार करनेवाले कौन है?

ये दुनिया मे कुछ ऐसे आदमी हैं जो छीट, रेल, शराब और ऐसी ही अन्य चीज़ों की उपयोगिता समझते हैं। तो उससे कही अधिक ऐसे आदमी होंगे कि जो इन चीज़ो को हानिकारक समझते है। रही व्यापारियों और ज़मींदारों की बात, सो उनके काम को ठीक बताने का तो कोई उद्योग भी न करेगा।

इसके अतिरिक्त इस काम से मेहनत-मज़दूरी करनेवाले लोगो को सदा हानि पहुँचती है और उसमे ज़बरदस्ती भी होती है, जो देखने में सरकारी जुल्म की अपेक्षा भले ही कम मालूम पडे, किन्तु परिणाम उसका उतना ही निठुर होता है। लोगो की हर प्रकार की तंगी का अनुचित लाभ उठाकर ही औद्योगिक और व्यापारिक कार्य चलते हैं। मज़दूरों की तंगी से लाभ उठाकर ही उनसे कठोर और अप्रिय कार्य कराया जाता है, उनके माल को सस्ती-से-सस्ती कीमत पर ख़रीदा जा सकता है और उनको जो माल चाहिए, उसे तेज़-से-तेज़ कीमत पर बेचा जा सकता

है। लोगों की तंगी से लाभ उठाकर ही उनके पास से कड़ा सूद वसूल किया जा सकता है। औद्योगिक और व्यापारिक कार्यों को चाहे जिस दृष्टि से देखिए, हम इसी नतीजे पर पहुँचेगे कि जिनके फ़ायदे के लिए इनका होना आवश्यक बताते हैं वे लोग तो इस फ़ायदे को मानते ही नहीं, वे सिद्धान्त मे भी नही मानते कि कल-कारखानो आदि से उन्हे फ़ायदा होता है। बल्कि इसके विपरीत वे यह कहते है कि ज़मींदारो, महाजनो और पूँजीपतियों के कामो से तो उलटा नुक़सान होता है।

किन्तु अब दूसरी कसौटी पर कसते हैं और पूछते है कि पूँजीपति किस ख़याल से काम करते है ? सरकारी कर्मचारियो की प्रवृत्ति के सम्बन्ध मे जो उत्तर मिला था, उसकी अपेक्षा कहीं अधिक ठीक उत्तर मिलेगा।

कोई राज-कर्मचारी यह कहे कि अपने व्यक्तिगत लाभ के साथ ही वह लोक-हित की तरफ़ भी दृष्टि रखता है, तो यह बात असम्भव नही कही जा सकती है। हम सभी को ऐसे आदमी मिले होगे। परन्तु पूँजी-पति तो अपने स्वार्थों के कारण लोक-हित का ख़याल रख ही नही सकते। वे यदि धन उपार्जन और संचय करने के अतिरिक्त अपने कार्यों का कोई दूसरा उद्देश्य रक्खें तो अपने साथियों की दृष्टि मे बेवकूफ समझे जायेंगे।

एक अजीब बात यह है कि ये पूँजीपति इस बात को कि उनके कामो से लोगो का हित होता है, इतने विश्वास के साथ मानने लग गये है कि इस कल्पित लाभ के बहाने स्वयं परिश्रम करने के कर्तव्य से छुट्टी पाने मे क़तई संकोच नहीं करते।

विद्या और कलावाले मनुष्यो ने भी मेहनत से छुट्टी पाकर अपना बोझ दूसरो के सिर पर लाद दिया है। उनको पूर्ण विश्वास हो गया है कि वे अपनी कलामयी कृतियो और विद्या के द्वारा जो लोक-हित करते हैं, उससे उन्होने अपने भरण-पोषण का दूसरो पर जो बोझ डाला है, उसका बदला मिल रहा है। किन्तु उनके इस विश्वास का आधार क्या है ?

जिस तरह हमने राज-कर्मचारी तथा उद्योग-धन्धेवाले लोगो से पूछा था उसी तरह इनसे भी पूछना चाहिए कि मज़दूरी करनेवाले—सब लोग अथवा उनके ज्यादातर भाग—क्या इस लाभ को स्वीकार करते है ? इसका उत्तर बहुत शोकमय मिलेगा।

सरकारी कर्मचारियो तथा धर्मोपदेशको की प्रवृत्ति उपयोगी है, ऐसा सिद्धान्त-रूप मे तो सब कोई मानते हैं और व्यवहार मे भी मजदूरी करने वाले लोगो का एक बड़ा भाग उसकी उपयोगिता को स्वीकार करता है। उद्योग-धन्धे वालो की प्रवृत्ति की उपयोगिता को बहुत-कम मज़दूर स्वीकार करते है। परन्तु विद्या-कलावाले लोगो की प्रवृत्ति की उपयोगिता तो मज़दूरो मे से कोई भी स्वीकार नही करता। मज़दूर विद्या-कलावाले लोगो के समस्त जीवन का भार अपने कन्धो पर उठाता है, वह उन्हे खिलाता है, पिलाता है, और पहनने को कपडे देता है। फिर भी वह इस बात को तो कभी मान ही नही सकता कि इन लोगो का काम हमारे लिए उपयोगी और लाभदायक है। उसे तो यह काम निरर्थक और नीचे गिरानेवाला मालूम होता है।

ठीक इसी दृष्टि से मज़दूर अपने कमाये हुए पैसो से बनाये गये विद्यापीठो, पुस्तकालयो, संग्रहालयो, चित्रालयो, अजायब-घरो तथा नाटको को देखते हैं। वे तो इस प्रवृत्ति को निश्चित रूप से इतना हानिकारक मानते है कि वे अपने बालकों को पढ़ने के लिए पाठशालाओ मे भेजते ही नही और जहाँ कही लोगो को इस काम मे शरीक करना ज़रूरी समझा गया, वहाँ कानून बनाकर लोगों को मजबूर किया गया कि वे अपने बच्चो को स्कूल भेजें।

मज़दूरी-पेशा लोग इस बात को हमेशा बुरा ही समझते हैं, लेकिन जब वे खुद मजदूर नही रहते है और सम्पत्ति-सञ्चय अथवा नामधारी शिक्षा के कारण श्रमिक वर्ग मे से निकल कर दूसरो की मेहनत पर जीने वाले वर्ग मे चले जाते है, तब इसे बुरा मानना भी छोड देते हैं। विद्या तथा कलावाले मनुष्यो की प्रवृत्ति की उपयोगिता को मज़दूर लोगन

तो स्वीकार करते हैं और न कभी स्वीकार कर ही सकते हैं; किन्तु फिर भी इन प्रवृत्तियो के लिए अपना पेट काटकर साधन जुटाने ही पड़ते है।

राजकर्मचारी दूसरो को फाँसी दे सकते है या जेल भेजकर अपना काम करा सकते हैं। व्यापारी आदमी दूसरे की मज़दूरी से लाभ उठाकर उसके पास से आखिरी कौडी तक निकाल लेता है और फिर उसके लिए दो ही मार्ग रह जाते है कि या तो योंही भूखो मरे या जीवन और स्वास्थ्य का नाश करनेवाली गुलामी करे। किन्तु विद्या और कलावाले लोग तो प्रत्यक्ष रूप मे किसी को किसी बात के लिए मजबूर करते ही नही। वे तो सिर्फ उन लोगों के सामने अपनी चीज़े पेश कर देते हैं कि जिनको उनकी ज़रूरत है या जो उन्हें लेना चाहते हैं। किन्तु अपनी चीज़ें तैयार करने के लिए (जिनकी मज़दूर-पेशा लोगो को ज़रूरत नही होती है) मकान बनाने, विद्या-पीठ, विश्वविद्यालय, महाविद्यालय, आजायब-घर, पुस्तकालय,संग्रहालय, आदि स्थापित करने और चलाने के लिए तथा अपने और अपने साथियो के निर्वाह के लिए वे सरकारी लोगो के द्वारा ज़बरदस्ती लोगों से मेहनत कराते हैं।

किसी विद्वान या कलाविद् से उसकी प्रवृत्ति के उद्देश्य के सम्बन्ध मे पूछे तो बड़ा ही अजीब उत्तर मिलेगा। राजतंत्री लोग तो कह भी सकते है कि उनका उद्देश्य लोकहित करना है और इस कथन मे कुछ सचाई भी है। लोकमत भी इस बात को स्वीकार करता है। किन्तु विद्या-कला-वाले मनुष्यो का उत्तर तो एकदम निराधार और उद्धत-सा होता है।

ऐसे लोग बिना किसी प्रकार का प्रमाण दिये यह कहते हैं कि उनकी प्रवृत्ति सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, उसके बिना मानव-समाज बिल्कुल नष्ट हो जायगा। वे यह दावा करते हैं, हालाँकि उनके सिवा और कोई न तो उनकी प्रवृत्ति के महत्त्व को समझता है और न उसे उपयोगी मानता है और खुद उनकी ही व्याख्या के अनुसार सच्ची कला का उद्देश्य उपयोगितावादी नही होना चाहिए। विद्या और कलावाले मनुष्य तो अपने प्रिय व्यवसाय में मस्त रहते है और इसकी पर्वा नहीं

करते कि उनकी प्रवृत्ति से लोगो को क्या लाभ होगा ? उनको तो इस बात का सदा विश्वास होता है कि वे लोग जन-समाज के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण और उपयोगी कार्य करते है।

ग़रज़े कि राजतन्त्री लोग तो ईमानदारी के साथ इस बात को स्वीकार कर लेते है कि उनकी प्रवृत्ति का मुख्य कारण व्यक्तिगत लाभ है और उसके बाद श्रमिक लोगो के लिए जितना हो सकता है उतना उपयोगी बनने की कोशिश करते है। व्यापारी तथा कारखानेवाले लोग अपनी प्रवृत्ति की स्वार्थपरायणता को मानकर उसे लोकहित का स्वरूप देने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु वैज्ञानिक और कला-विज्ञ लोग अपनी प्रवृत्ति को झूठमूठ भी उपयोगिता का रूप देने की ज़रूरत नहीं समझते वे तो साफ़ कह देते हैं कि विज्ञान और कला का आधार उपयोगिता-वाद नही होना चाहिए। उन्हे अपनी प्रवृत्ति की उपयोगिता ही नहीं पवित्रता के विषय मे भी बड़ा गहरा विश्वास है।

ग़रजे कि जिन लोगो ने जीवन-निर्वाह के निमित्त की जानेवाली आवश्यक और अनिवार्य मेहनत से अपने को मुक्त कर लिया है उनके पास ऐसा करने का कोई कारण नहीं, यह एकदम निश्चित बात है। किन्तु आश्चर्य तो यह है कि यह सभी लोग अपने जीवन को पवित्र और पूर्ण मानते हैं और बिलकुल निश्चिन्त होकर अपने जीवन को व्यतीत करते हैं।

इस महा भयंकर भ्रम की तह मे कोई बात, कोई खोटा सिद्धान्त अवश्य होना चाहिए।

: २८ :

वस्तुतः जो लोग दूसरो के श्रम पर जीना पसन्द करते हैं, उनकी स्थिति का आधार कोई एकाध छोटा-मोटा ख़याल नही प्रत्युत एक पूरा का पूरा सिद्धान्त है। यह अकेला एक ही नहीं, तीन सिद्धान्त हैं। ये एक-एक करके कई शताब्दियो मे पैदा हुए और अब उन सबके मिश्रण से यह भयकर भ्रम—यह महान धोखा पैदा होगया है। समाज के अन्याय पर यह भ्रम परदा डाले रहता है।

आजीविका के लिए मेहनत करना मनुष्य-मात्र का मूल कर्तव्य है। इस कर्त्तव्य को छोड़ने का जो सिद्धान्त समर्थन करते है, उनमे सबसे पुराना ईसाई-धर्म का है। इसके अनुसार ईश्वर ने ही मनुष्यो को एक समान नही बनाया। सूर्य जिस प्रकार चन्द्रमा से और तारो से विभिन्न है, इसी प्रकार मनुष्यो मे भी भिन्नता है। कुछ मनुष्यो को तो भगवान ने इसलिए पैदा किया है कि वे और सब मनुष्यो पर शासन करे, कुछ को बहुत से मनुष्यों पर और कुछ को थोडे मनुष्यो पर शासन करने के लिए बनाया है और बाकी सबको शासित होने के लिए भगवान ने सिर्जा है।

अब इस सिद्धान्त की यद्यपि नीव तक हिल गयी है मगर फिर भी कुछ लोग इसको मानते है। बहुत-से लोग इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए भी व्यवहार मे इसे मानते है।

शारीरिक श्रम से लोगो को मुक्त करने का पक्ष लेनेवाले दूसरे सिद्धान्त को हम राजनैतिक फ़िलासफी कह सकते है। इस सिद्धान्त की

हेगल ने खूब व्याख्या की है। उसका कहना है कि इस समय जो वस्तु-स्थिति है वह ठीक है, और जीवन का जो व्यवस्थित क्रम देखते हैं, वह स्थायी और न्याययुक्त है। यह कुछ मनुष्यों का बनाया हुआ नहीं है, बल्कि यह तो चैतन्य शक्ति का अथवा यों कहो कि मानव जीवन का एक मात्र सम्भव विधान है—विकसित स्वरूप है। इस सिद्धान्त को भी अब समाज के नेता मानते नहीं हैं किन्तु फिर भी लोगों की मूर्खता के कारण उसका जन-समाज पर प्रभाव है।

तीसरा सिद्धान्त जो इस समय लोगों के दिमाग़ पर शासन कर रहा है और जिसपर प्रमुख राजनीतिज्ञों, व्यापारियों और वैज्ञानिकों तथा कला-कोविदों का आधार है, विज्ञान-विषयक है। यहाँ विज्ञान का अर्थ सर्वमान्य ज्ञान सम्बन्धी बातों से नहीं, बल्कि उस खास विद्या से है, जिसे विज्ञान अथवा साइंस के नाम से पुकारा जाता है। यही वह सिद्धान्त है, जिसे आज का आलसी मनुष्य अपने बचाव में पैदा करता है।

इस सिद्धान्त का आविर्भाव यूरोप में एक ऐसे धनिक और आलसी वर्ग के साथ ही साथ हुआ कि जो न तो चर्च का कोई काम करता था और न राज्य का। इस प्रेमी ने अपनी स्थिति का बचाव करने के लिए इस सिद्धान्त का आविष्कार किया।

बहुत दिन हुए, फ्रांस की क्रांति से कुछ ही पहले यूरोप में जो लोग शारीरिक श्रम नहीं करते थे, उन्हें दूसरे के श्रम से लाभ उठाने के लिए यह आवश्यक था कि कोई न कोई काम अवश्य करें—या तो चर्च की सेवा करें, या राज्य की अथवा फ़ौज में भर्ती हों। जो लोग राज्य की सेवा करते थे, उनका काम था 'लोगों पर शासन करना'; जो चर्च के सेवक थे, उनका काम था लोगों को शिक्षा देना; और जो फौज में भरती होते थे, वे लोगों की रक्षा करते थे।

धार्मिक राजनैतिक और सैनिक—बस, इन्हीं तीनों वर्गों के लोग दूसरों के श्रम पर जीवित रहने का दावा करते थे और ये लोग अपनी लोक-सेवा दूसरों को बता भी सकते थे। अब रहे ये धनिक लोग। इनके

पास ऐसा कोई बहाना नही था और इसीलिए उनका तिरस्कार होता था। दूसरों के श्रम का उपयोग करने का उन्हे कोई अधिकार नही है, इसको वे स्वय भी समझते थे, इसीलिए अपनी धनिकता और आलस्य के लिए उन्हे लज्जित होना पड़ता था।

किन्तु समय के साथ ही तीनों वर्गों की बुराइयो के कारण उस धनिक और निठल्ले वर्ग की ताक़त बहुत होगयी और उन्हे अपनी स्थिति की रक्षा करने की आवश्यकता प्रतीत हुई और इसीलिए इस नवीन सिद्धान्त का बहिष्कार हुआ। अभी एक सदी भी न बीती होगी कि ये लोग जो न चर्च का काम करते थे; न राज्य तन्त्र का, और न सैनिक सेवा का, दूसरों के श्रम पर जीवित रहने के बाकायदा हकदार बन बैठे। उन्होने अपनी धनिकता और काहिली के लिए लज्जित होना छोड दिया हो इतना ही नही, बल्कि वे अपनी स्थिति को नितान्त औचित्यपूर्ण मानने लगे। इन लोगों की संख्या पहले की अपेक्षा बहुत बढ़ गयी है और अब भी बराबर बढ़ रही है। किन्तु इससे भी मजेदार बात तो यह है कि ये लोग, जो थोड़े दिन पहले शारीरिक श्रम से मुक्त होने के अधिकारी तक न समझे जाते थे, अब केवल अपने ही को इस बात का अधिकारी नही मानते, बल्कि चर्च, राज-तन्त्र और सेना के सेवको का यह कहकर विरोध करते है कि इनका श्रम से विमुक्त हो जाना अनुचित और अन्याय है। कभी-कभी तो यह लोग यहाँतक कह बैठते है कि उनकी यह प्रवृत्ति एकदम हानिकारक है। इससे भी अधिक विचित्र बात यह है कि चर्च राज्य-तन्त्र और सेना के सेवक अब अपने-अपने कार्यों को ईश्वर-प्रदत्त अधिकार नही बताते। वे भी अपने पुराने अवलम्बनो को छोडकर उसी नये सिद्धान्त की सहायता ले रहे हैं, जिसके बल पर नवीन प्रभावशाली-वर्ग खडा है और जिसके प्रमुख नेता वैज्ञानिक तथा कलाकार हो रहे हैं।

आजकल भूले-भटके ही कोई विरला सरकारी आदमी उन पुरानी बातो की याद दिलाकर यह कहता है कि शासन करना उसका ईश्वर-प्रदत्त अधिकार है, अथवा राज-तन्त्र वैयक्तिक विकास का एक साधन

है। ऐसा कहनेवाला समय से बहुत पीछे होगा और स्वयं इस बात को महसूस किये बिना न रहेगा कि कोई भी उसकी बातों का विश्वास नहीं कर रहा। अपनी स्थिति के औचित्य को सिद्ध करने के लिए उसे नवीन और वैज्ञानिक बातो का सहारा लेना चाहिए, अब धार्मिक अथवा दार्शनिक सिद्धान्तों से काम नहीं चलेगा।

अब आज यदि कोई धनी यह कहे कि वह धनवान है, क्योंकि ईश्वर ने ही उसे ऐसा बनाया है, या राज्य की रक्षा के लिए अमीर-उमरावों की ज़रूरत है, तो इसके अर्थ यही है कि वह समय से पीछे है। अपनी स्थिति का औचित्य सिद्ध करने के लिए उसे यह बताना चाहिए कि उत्पत्ति के साधनों को उन्नत बनाकर, आवश्यक पदार्थों को सस्ता करके, और एक दूसरे राष्ट्र में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करके वह मानव-समाज की उन्नति मे सहायता दे रहा है। उसे वैज्ञानिक भाषा मे ही सोचना और बोलना चाहिए, और पहले जैसे पुरोहितों को भेट दी जाती थी वैसे ही अब शासक-वर्ग को अपनाने के लिए उसे भेट देनी चाहिए। उसे पत्र-पत्रिकायें, पुस्तकें आदि प्रकाशित करनी चाहिएँ, एक चित्रशाला रखनी चाहिए, संगीत आदि का प्रबन्ध करना चाहिए, किण्डरगार्टन अथवा औद्योगिक विद्यालय स्थापित करना चाहिए।

आजकल जो लोग शारीरिक श्रम के कर्तव्य से अपने को मुक्त करने का पूर्णतः अधिकारी मानते हैं, वे अपने को वैज्ञानिक और कलाविज्ञ कहते हैं, और ख़ासकर वे वैज्ञानिक, जो प्रयोगों पर अवलम्बित रहनेवाले, बुद्धि की कसौटी पर ठीक उतरनेवाले, प्रगतिशील भौतिक विज्ञान से सम्बन्ध रखते हैं।

यदि आज कोई विद्वान अथवा कलाविज्ञ पुराने ढर्रे से लोगो की भाँति भविष्यवाणी, ईश्वर-प्रेरित मन्त्र-स्फूर्ति अथवा आध्यात्मिक आविर्भावों का ज़िक्र करता है, तो वह अवश्य ही समय से बहुत पीछे है। वह अपनी स्थिति के औचित्य को सिद्ध करने में सफल न होगा। यदि वह अपनी स्थिति को सुदृढ बनाये रखना चाहता है, तो उसे अपनी

कृतियों को प्रयोगशील, बुद्धिगम्य और आलोचनात्मक विज्ञान से जोड़ने की कोशिश करनी चाहिए और उसीको अपनी प्रवृत्तियों का आधार बनाना चाहिए। जो लोग मेहनत नहीं करते, उन सबका आधार यही प्रयोगशील आलोचनात्मक बुद्धिगम्य विज्ञान है।

धार्मिक और दार्शनिक निराकरणों का समय अब गया; अब जब कभी वे डरते-डराते अपना सिर ऊपर उठाते हैं, तो उनका यह वैज्ञानिक उत्तराधिकारी उन्हें कुचल देता है और प्राचीनकालीन ध्वंसावशेषों को नष्ट करके उनका स्थान छीन लेता है और इस प्रकार अपनी दृढ़ता के विषय में निश्चिन्त होकर गर्व से सिर उठाकर चलता है।

वैज्ञानिक सिद्धान्त कहता है कि धार्मिक और दार्शनिकों की बातें वाहियात और वहम से भरी हुई हैं, इनमें से एक तो धार्मिक युग का फल है और दूसरा दार्शनिक युग का। मानव-जाति के जीवन निर्णय करनेवाले नियमों का अध्ययन करने का केवल एक ही तरीका है; और वह है वही बुद्धिगम्य, आलोचनात्मक और प्रयोग शील विज्ञान। प्राणशास्त्र समस्त बुधि-गम्य विद्वानों पर अवलम्बित है और इस प्राण-शास्त्र के आधार पर बना हुआ जो समाज-विज्ञान है, वही हमें मानव-जीवन के नये-नये नियम वताता है। मानव-समाज अथवा विभिन्न जन-समूह एक ऐसे विराट शरीर के समान है, जो या तो पूर्णता को प्राप्त होचुका है या शरीर विज्ञान के नियमों के अनुकूल पूर्णता प्राप्त कर रहा है। शरीरके विभिन्न अङ्गों में श्रम-विभाग का होना उन नियमोंमें सब से मुख्य है। यदि कुछ लोग शासन करते हैं और दूसरे आज्ञा-पालन करते हैं, कुछ ऐशोआराम से रहते हैं और दूसरे तङ्गी से जिन्दगी बसर करते हैं, तो इसका कारण यह नहीं है कि ईश्वर का ऐसा आदेश है और न यह कि राज्य मनुष्य के विकास का साधन है, बल्कि उसका कारण सिर्फ यह है कि शरीर की भाँति समाज में भी श्रम-विभाग हुआ करता है, यह समाज के जीवन के लिए आवश्यक और अनिवार्य है। समाज के अन्दर कुछ लोग तो शारीरिक श्रम करते हैं और कुछ मानसिक। यही वह सिद्धान्त है, जिसके बल पर आधुनिक युग के लोग अपना बचाव करते हैं।

: २९ :

ईसा ने लोगों को नये ढग से उपदेश दिया। वह उपदेश बाइबल मे लिखा है। लोगों ने पहले तो इस उपदेश का तिरस्कार किया और उसे स्वीकार नहीं किया। तब आमद के अधःपात का और अधम फरिश्ते की कहानियो का आविष्कार किया गया और इन कहानियो को ईसा की शिक्षा के नाम से प्रचलित किया गया। ये कहानियां बिलकुल वाहियात और निराधार है।

नैतिक उद्योग करके ऊँचा उठने की जिनकी प्रवृत्ति नहीं है ऐसे प्रवल जन-समूह को ये बातें इतनी अनुकूल मालूम होती हैं कि वे इस मत को झट प्रसन्नता-पूर्वक स्वीकार कर लेते हैं। और यह मनघडन्त सिद्धान्त इतना सर्व-प्रिय हो उठता है कि सदियों तक धर्मशास्त्री लोग उसके आधार पर अपने अपने सिद्धान्तो की रचना करते हैं। किन्तु समय बीतने पर धर्म-शास्त्रियो की कल्पना के आधार पर जो निर्णय निर्मित हुए थे, जन-समूह को उनकी ज़रूरत नही रहती। लोग देखते हैं कि वाहियात धोखेबाजी के सिवा इन निर्णयो मे कुछ भी नही है और तब उन्हें अपनी अन्धता पर बडा आश्चर्य होता है।

सभ्य ससार के अन्दर थोडे दिनो के लिए हेगल के सिद्धांत जो इतने लोक-प्रिय हो उठे थे, इसका बस एक ही कारण है कि इस दार्शनिक सिद्धान्त से जो निर्णय निकलते थे, वे मनुष्य-स्वभाव की दुर्बलताओं को पोषित करने वाले थे। वह कहता था—'सब उचित है, सब ठीक है,

किसीको किसी बात के दोषी करार देने की ज़रूरत नहीं ।' किन्तु समय बीतने पर यह सिद्धान्त भी जीर्ण हो गया और इसके स्थान पर एक नया सिद्धान्त आया । पुराना सिद्धान्त बेकार हो गया था; लोगों ने उसका प्रतिपादन करने वाले आचार्यों की गुफा मे झांककर देखा तो मालूम हुआ कि वहां सचाई की तो कोई भी बात नहीं है और कुछ अर्थहीन दुर्बोध शब्दाडम्बर के सिवा पहले भी वहां कुछ न था ।

झूठी ईसाइयत की तरह हेगल की फ़िलासफी भी खुद अपने आप ही मिट गई । किसीने उसके विरुद्ध जिहाद नहीं किया । मगर नहीं, हेगल की फिलासफी है तो अब भी, जैसे कि वह पहिले थी, बस, विद्वान और शिक्षित संसार को उन दोनों की अब ज़रूरत नहीं रही ।

यह तो मेरी ज़िन्दगी मे ही हुआ और इसकी मुझे याद है । किन्तु कहा जाता है कि इन सिद्धान्तो की यह गत इसलिए हुई कि वे धार्मिक तथा दार्शनिक काल की भ्रान्त धारणायें थीं, मगर हमारे पास आलोचनात्मक बुद्धि-गम्य विज्ञान है, जो कभी धोखा नही दे सकता, क्योंकि वह प्रकृति-निरीक्षण और अनुभव पर अवलम्बित है । किन्तु ठीक ऐसी ही बात तो पुराने आचार्य भी कहा करते थे और अवश्य ही वे कोई मूर्ख न थे, बल्कि हम जानते हैं कि उनमे से बाज लोग बडे ही बुद्धिशाली थे ।

एक बहुत ही साधारण अंग्रेज लेखक था । उसने आबादी पर एक ट्रैक्ट लिखा, जिसमे उसने एक काल्पनिक नियम का आविष्कार किया कि आबादी की वृद्धि के साथ-ही-साथ आजीविका के साधनो की वृद्धि नहीं होती । इस झूठे नियम का लेखक ने कुछ निराधार गणित के सूत्रो से सजाकर प्रकाशित किया । ख़याल था कि कोई आदमी उसपर ध्यान न देगा और उक्त लेखक की अन्य पुस्तकों की भांति यह पुस्तिका भी भुला दी जायगी, किन्तु बात बिलकुल उलटी निकली । उक्त पुस्तिका

का लेखक एकदम विज्ञान का अचार्य बन गया और लगभग आधी शताब्दी तक अपने इस पद को बनाये रहा। उसका नाम था माल्थस। उसकी आबादी सम्बन्धी बातें, जिनकी सत्यता कभी सिद्ध नहीं थी, बिलकुल वैज्ञानिक और निस्संदिग्ध सत्य के रूप मे मानी जाने लगीं और उन्हे स्वयसिद्ध सूत्र स्वीकार करके उनसे और भी निष्कर्ष निकाले गये। किन्तु वे उन्ही लोगो के लिये विश्वासनीय है कि जो विज्ञान को चर्च की भाति स्वत. सिद्ध और निर्भ्रान्त मानते है और जो यह नही समझते कि वे किसी दुर्बल मनुष्य के विचार मात्र हैं कि जो भूल कर सकता है और जो केवल महत्त्व की खातिर अपने विचारो और शब्दों को विज्ञान के शानदार नाम से पुकारता है। माल्थस के नियमो से कुछ व्यावहारिक निष्कर्ष निकालते ही इसका पता लग जाता है कि वे *मनुष्य-निर्मित* है और उनका कोई निश्चित ध्येय है।

माल्थस के नियमों से जो निष्कर्ष निकाले गये, वे यह हैं—श्रमिक वर्ग की दयनीय स्थिति का कारण बलवान धनी लोगो की निर्दयता, अहकार अथवा अनौचित्य नही है; बल्कि उनकी स्थिति ऐसे अपरिवर्तनीय नियम के अनुसार है, जो मनुष्य पर अवलम्बित नहीं है और इसके लिए यदि कोई दोषी है तो भूखों मरनेवाला श्रमिक वर्ग ही इस के दोष का भागी है। ये मूर्ख भला ससार मे पैदा ही क्यो होते हैं, जब कि वे जानते है कि उन्हे काफी खाना नही मिलेगा ? इसलिये यह निश्चित है कि धनवान और बलवान लोगो को कोई दोष नही दिया जा सकता और वे शान्ति के साथ अपनी ज़िन्दगी बसर कर सकते है, जैसा कि वे अब तक करते रहे है। ये निष्कर्ष आलसी धनिकवर्ग को प्रिय मालूम पडे और अकर्मण्य विद्वान लोगो ने उनकी गलती और अपूर्णता के ऊपर ध्यान नही दिया। इसका कारण यही था कि ये सिद्धान्त जीवन-निर्वाह के अनुचित ढंग को ठीक साबित करते थे।

इस नवीन बुद्धिगम्य, आलोचनात्मक और प्रयोगशील विज्ञान में जो इतना विश्वास है और लोग उसे जो इतना आदर व मान देते हैं, इस

की तह में भी क्या वही कारण काम नहीं कर रहा है ? पहले-पहल तो वह बड़ा विचित्र-सा मालूम होता है कि विकासवाद का सिद्धान्त लोगों के जीवन-निर्वाह के ढंग का बचाव करे और ऐसा भास होगा कि वैज्ञानिक सिद्धान्त तो केवल वस्तुस्थिति से ही सम्बन्ध रखते हैं और वस्तुस्थिति का निरीक्षण करने के सिवाय और कुछ नही करते। किन्तु यह केवल भास ही होता है।

आधुनिक विज्ञान एक निश्चित सिद्धान्त के अनुसार वस्तुस्थितियों का चुनाव करता है। उस सिद्धान्त को भी तो विज्ञान जानता है, कभी वह जानना नही चाहता, और कभी कभी वास्तव में यह नही जानता किन्तु वह मौजूद तो होता ही है। वह सिद्धान्त यह है। मनुष्य-समाज एक कभी न मरनेवाला शरीर है। मनुष्य इस शरीर के अंग हैं। किसी शरीर के अणु जिस प्रकार समस्त शरीर अस्तित्व के लिए आवश्यक संघर्ष को आपस मे बॉट लेते हैं, ज़रूरत के अनुसार किसी अंग को पुष्ट करके उसकी शक्ति बढ़ाते हैं, किसीकी शक्ति कम कर देते है और सब मिलकर एक समष्टि के रूप मे समस्त शरीर की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए उद्योग करते है, और जिस प्रकार चीटी और मधु-मक्खी जैसे सामाजिक प्राणियो मे व्यक्ति परस्पर श्रम-विभाग कर लेते है (जैसे रानी-मक्खी अंडा देती है. नर गर्भाधान करते है और अन्य मक्खियॉ सबके अस्तित्व को कायम रखने के लिए मेहनत करती है), बस वैसे ही मनुष्य-समाज और विभिन्न समाजो मे जुदा-जुदा अंग अपना-अपना काम करते हैं और समस्त मानव-समाज का पालन करने के लिए समष्टि बनकर एकरूप मे समाविष्ट हो जाते हैं।

ऐसा सुन्दर सिद्धांत भला कौन स्वीकार न करेगा ? हम मानव-समाज की ओर केवल देख भर ले जैसे वह कोई निरीक्षण करने की चीज़ हो; और फिर हम शांति के साथ भूखो मरते हुए लोगों के मुँह की रोटी छीनकर खा सकते है और अपने को इस बात से संतोष दे सकते है कि नृत्य-शास्त्री, वकील, डाक्टर, दार्शनिक, नट अथवा परमाणुओं के

स्वरूप को शोधन करनेवाले की हैसियत से हम जो काम करते है, वे मनुष्य-समाज के अंगो की आवश्यक क्रियाये है।

भला हम ऐसे सिद्धान्त को कैसे अस्वीकार कर सकते हैं, जो हमें बाद को इस लायक बना देता है कि हम अपने अन्तरात्मा को जेब मे रखकर बिलकुल निरंकुश पशु-जीवन व्यतीत करते रहे और साथ ही यह विश्वास बना रहे कि हमारे कार्यों का समर्थन करनेवाले वैज्ञानिक सिद्धान्त मौजूद है। यही नवीन विश्वास है कि जिसके आधार पर मनुष्यो की अकर्मण्यता और निर्दयता का आजकल समर्थन किया जाता है।

: ३० :

यह सिद्धान्त लगभग ५० वर्ष पहले प्रारम्भ हुआ। इसका मुख्य संस्थापक फ्रांसीसी दार्शनिक कॉम्टे था। यह भी मनुष्य-समाज को वस्तुतः समस्त मानव-मण्डल का एक समष्टि,—एक शरीर माना जा सकता है और मनुष्यों अर्थात् पृथक्-पृथक् व्यक्तियों को समाज के भिन्न-भिन्न अंगों के अणु कहा जा सकता है और इनमे से प्रत्येक अणु का समस्त शरीर की सेवा के निमित्त अपना एक विशिष्ट उद्देश्य निश्चित होता है। धार्मिक प्रवृत्ति के कॉम्टे को यह विचार इतना पसन्द आया कि उसने अपने दार्शनिक सूत्र का इसी आधार पर निर्माण किया। वह अपने इस दार्शनिक सूत्र के प्रवाह मे कुछ ऐसा बह गया कि वह यह बिलकुल ही भूल गया कि जिस खयाल के आधार पर वह अपना तत्त्व-ज्ञान निर्माण करनेवाला है, वह एक साहित्यिक उपमा-मात्र है और इस योग्य नहीं है कि उसे तत्त्वज्ञान की नीव बनाया जाय। उसने अपनी उस प्रिय कल्पना को स्वयं-सिद्ध सूत्र मान लिया और वह कल्पना करने लगा कि उसका सिद्धान्त अटल और बुद्धिगम्य आधार के ऊपर बना है।

इस सिद्धान्त के अनुसार तो यह बात निकली कि मानव-समाज चूँकि एक शरीर है, इसलिए मनुष्य क्या है और संसार के साथ उसका कैसा सम्बन्ध होना चाहिए, इस बात का ज्ञान तो शरीर के गुणों का अध्ययन करने ही से हो सकता है। और इन गुणों का अध्ययन करने के लिए मनुष्य को दूसरे छोटे-छोटे जीवों का निरीक्षण करना चाहिए।

इसलिए कॉम्टे के सिद्धान्तानुसार पहली बात तो यह है कि विज्ञान का सच्चा साधन तो अनुभव है। विज्ञान तभी विज्ञान कहा जा सकता है कि जब वह अनुभव के आधार पर बना हो। दूसरी यह कि विज्ञान का उद्देश्य और अन्तिम लक्ष्य अब वह नया विज्ञान बन जाता है, जो मनुष्य-समाज के काल्पनिक शरीर पर विचार करता है। कल्पना के आधार पर बना हुआ वह नया विज्ञान समाज-शास्त्र कहलाता है। विज्ञान को ऐसा मानने का अर्थ यह है कि पहले का सारा ज्ञान झूठा था। मानव-जाति सम्बन्धी समस्त इतिहास तीन, बल्कि दो ही युगों में विभक्त किया जा सकता है। (१) वह धार्मिक और दार्शनिक युग था, जो संसार के प्रारम्भ से लेकर कॉम्टे तक रहा, और (२) वह आधुनिक वैज्ञानिक युग है, जो सच्चे और बुद्धिगम्य विज्ञान का युग है। (३) जिसका प्रारम्भ कॉम्टे से होता है।

यह सब बड़ा ही सुन्दर है किन्तु इसमें केवल एक भूल है, और वह यह कि यह सारी इमारत बनायी गयी है रेत पर—इस निराधार और ग़लत विचार पर कि सामूहिक दृष्टि से मानव-समाज एक शरीर के समान है। यह विचार निराधार है। यदि हम मानव-समाज को एक शरीर मानने की अप्रत्यक्ष कल्पना को मान लें तो हम त्रिदेव (Trinity)* के अस्तित्व को और इसी प्रकार की साम्प्रदायिक बातों से इन्कार कैसे कर सकते हैं?

यह विचार ग़लत था, क्योंकि मानव-समाज और सजीव शरीर की उपमा ही ठीक नहीं है। सजीव शरीर में जो एक अनिवार्य और आवश्यक गुण हुआ करता है वह मनुष्य-समाज में मौजूद नहीं है—और वह है अनुभूति या ज्ञान-शक्ति का केन्द्र। हम हाथी और कीड़ी दोनों

---

*ईसाई धर्म के अनुसार परमात्मा में तीन तत्व रहते हैं। (१) पिता (स्वर्ग निवासी ईश्वर), (२) पुत्र (ईसा) और (३) पवित्र आत्मा (जो मनुष्य-मात्र में विद्यमान है और सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा करता है।

ही को शरीर कहते है क्योकि इनके अन्दर ज्ञान-शक्ति अथवा अनुभूतिओं का एकीकरण रहता है। किन्तु मनुष्य-समाज मे इस ख़ास बात का अभाव होता है और इसलिए और कितनी ही समानताये मनुष्य-समाज और शरीर-तंत्र में हुआ करें, किन्तु इसके बिना मनुष्य-समाज को सजीव शरीर कहना ग़लत है।

किन्तु आदिभौतिकवाद का यह मूल सूत्र निराधार और ग़लत होने पर भी शिक्षित कहलानेवाले संसार ने उसे बडी सहानुभूति के साथ स्वीकार कर लिया। उसके स्वीकार कर लिये जाने का एक महान् कारण था। मौजूदा श्रम-विभाग के औचित्य को मान लेने के बाद उससे वर्तमान की परिस्थिति का एक प्रकार से समर्थन होता था, अर्थात् यह सिद्ध होता था कि मानव-समाज मे इस समय जो अनाचार और क्रूर वैषम्य फैला हुआ है वह लाज़िमी है और एक आदमी का दूसरे के श्रम से ज़बरदस्ती लाभ उठाना जीवन के नियमो के विरुद्ध नही है।

इस सम्बन्ध मे एक बात ध्यान देने योग्य है। कॉम्टे की कृतियाँ दो भागो में विभक्त थीं—आधिभौतिक, दर्शन-शास्त्र और आधिभौतिक राजनीति। प्रथम भाग ही मानव-समाज की वर्तमान बुराइयो को अनिवार्य बताकर उनका समर्थन करता था। इसे विद्वानो ने स्वीकार कर लिया। दूसरा भाग केवल ग़ैरजरूरी ही नही बल्कि अवैज्ञानिक भी समझा गया। यह शायद इसलिए कि जिसमे उन नैतिक और आध्यात्मिक मानवी कर्तव्यो की चर्चा की गयी थी, जो मानव-समाज को एक सजीव शरीर मान लेने से स्वभावतः मनुष्यो के लिए अनिवार्य हो जाते है।

किन्तु कॉम्टे का आधिभौतिक दर्शनशास्त्र जिसे लोगो ने स्वीकार किया था, कपोल-कल्पित और भ्रमात्मक सिद्धान्तो पर अवलम्बित होने के कारण बिलकुल आधार-हीन और अस्थिर था, इसलिए खुद अपने बल पर वह टिका नहीं रह सकता था।

और अब वैज्ञानिक नामधारी लोगो की कपोल कल्पनाओं मे से एक ऐसा ही निराधार और ग़लत सिद्धान्त पैदा हुआ, जो यह कहता था

कि समस्त प्राणी अर्थात् शरीर-तंत्र (Organism) एक दूसरे से ही पैदा होते हैं। यही नहीं कि एक शरीर-तंत्र दूसरे शरीर-तन्त्र से पैदा होता हो, बल्कि एक शरीर-तन्त्र कई शरीर-तन्त्रो से पैदा हो सकता है— बहुत लम्बे अर्से में, उदाहरणार्थ एक करोड वर्ष में मछली या बतक ने किसी एक योनि मे से बदलते-बदलते अपनी योनि प्राप्त की हो; इतना ही नही प्रत्युत् एक जीवसृष्टि अन्य अनेक प्राणियों के समूह मे से रूपान्तरित होती हुई अपने स्वरूप को प्राप्त करती है। अर्थात् मधु-मक्खियो के झुण्ड मे से कोई एक नया प्राणी पैदा हो सकता है। यह कल्पित और भ्रमात्मक सिद्धान्त शिक्षित लोगो द्वारा और भी अधिक उत्साह के साथ अपनाया गया।

यह सिद्धान्त कल्पित है, क्योकि किसी ने भी कभी यह नहीं देखा है कि किस प्रकार एक जीव-सृष्टि दूसरी तरह के जीवों से आविर्भूत होती है। इसलिए जीव-योनियो की उत्पत्ति की कल्पना सदा कल्पना ही बनी रहेगी और कभी भी प्रयोग-सिद्ध बात नहीं हो सकती।

हज़रत मूसा ने इस समस्या का जो हल बताया था, उससे मालूम होता है कि जीवों की विभिन्न योनियाँ ईश्वर की इच्छा और उसकी अनन्त शक्ति से पैदा हुईं। विकास-वाद के सिद्धान्त से यह मालूम होता है कि विभिन्न जीव-योनियाँ पैतृकता तथा परिस्थिति की अनन्त विभिन्नताओ के परिणाम-स्वरूप, असीम दीर्घकाल में, खुद एक दूसरे से ही पैदा हुईं।

यदि स्पष्ट शब्दो मे कहा जाय तो इसका अर्थ यह है कि विकासवाद का सिद्धान्त यह कहता है कि (इत्तफाक से) किसी निस्सीम काल मे कोई भी चीज़ किसी भी चीज़ से पैदा हो सकती है। यह तो प्रश्न का कोई उत्तर नहीं है। यह तो उसी प्रश्न का रूपान्तरमात्र है! ईश्वरेच्छा के बजाय इत्तफ़ाक का नाम लिया गया है, और अनन्त शब्द को सर्वशक्तिमान के सामने से हटाकर काल के सामने रख दिया है।

किन्तु डार्विन के अनुयायी लोगों के द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त ने कॉम्टे के प्रथम सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया और इसलिए वह हमारे

ज़माने के लिए तो वेद-वाक्य के समान हो गया। वह समस्त विद्याओं—यहाँतक कि इतिहास, दर्शन और धर्म का भी आधार बन गया। इस के अलावा, स्वयं डार्विन ने भी साफ़ तौर पर यह स्वीकार किया था कि यह विचार उनके मन मे माल्थस के सिद्धान्त से सूझा था। इसलिए उसने जीवन-संघर्ष के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया। आलसी लोगो के लिए बचाव की भला इससे अच्छी बात और क्या हो सकती थी ?

दो ऐसे अस्थिर सिद्धान्त जो अलग रहकर अपने पैरों पर नहीं खड़े हो सकते थे, एक दूसरे का समर्थन करके स्थायी-से बन गये। दोनो ही सिद्धान्तो में एक ऐसा भाव था, जो आलसी लोगों को पसन्द था। अर्थात् मानव-समाजो मे जो बुराइयाँ फैली हुई है उनके लिए मनुष्यो को दोषी नही ठहराया जा सकता और वर्तमान स्थिति बिलकुल ठीक है। बस, इसी कारण इस नये सिद्धान्त का लोगों ने पूर्ण विश्वास और अनुपम उत्साह के साथ स्वागत किया।

इस प्रकार यह नया वैज्ञानिक सिद्धान्त तो निराधार और भ्रमात्मक विचारों के ऊपर बना और उसे लोगो ने उसी प्रकार अन्ध-श्रद्धा के साथ स्वीकार कर लिया कि जिस प्रकार धार्मिक सिद्धान्त मानलिये जाते है। गुण और रूप दोनो ही मे यह नया सिद्धान्त ईसाई 'चर्च' के सिद्धान्त से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। गुण की दृष्टि से यह समानता है कि इन दोनो ही सिद्धान्तो मे कुछ चीज़ो को बिलकुल विचित्र ही रूप दिया जाता है; और उस कृत्रिम रूप को ही हम अपनी शोध का लक्ष्य बना लेते है।

'चर्च' के सिद्धान्त के अनुसार ईसा के वास्तविक और ऐतिहासिक व्यक्तित्व के साथ ईश्वरत्व के भाव का विचित्र आरोप किया जाता है। आधिभौतिकवाद मे वास्तव मे अस्तित्व रखनेवाले मनुष्यो मे विराट शरीर के गुणो का प्रतिपादन किया जाता है।

रूप की दृष्टि से भी इन दोनों मे ख़ासी एकता है। क्योकि दोनो ही जगह किन्ही विशिष्ट लोगो की बतायी हुई बाते ही निर्भ्रान्त रूप से सच मानी जाती है। चर्च के सिद्धान्त के अनुसार तो ईश्वरोक्त विधानो की

पादरियों द्वारा की हुई व्याख्या ही पवित्र और सत्य मानी जाती है और आधिभौतिक विज्ञान के नियमानुकूल नामधारी वैज्ञानिकों के ढंग को ठीक और सच्चा समझा जाता है।

जिस प्रकार चर्च का सिद्धान्त यह कहता है कि उस विशिष्ट चर्च की स्थापना से ही ईश्वरीय ज्ञान प्रारम्भ होता है और केवल सौजन्य की ख़ातिर यह कह देते हैं कि पूर्वकालीन ईश्वर-भक्त लोगों को भी एक प्रकार का चर्च का अनुयायी माना जा सकता है, बस ठीक इसी प्रकार आधिभौतिक विज्ञान कॉम्टे को अपना जनक मानता है और इसके प्रतिनिधि भी केवल सौजन्य की ख़ातिर पूर्वकालीन विद्याओं को स्वीकार कर लेते हैं और वह भी अरस्तू जैसे ख़ास-ख़ास विचारकों से सम्बन्धित विद्याओं को। चर्च और आधिभौतिक विज्ञान दोनों ही बाक़ी समस्त मनुष्यों का विचार दिमाग़ से निकाल देते है और अपने दायरों के बाहर के समस्त ज्ञान को भ्रमात्मक बताते हैं।

: ३१ :

"श्रम-विभाग एक ऐसा नियम है, जो सभी चीज़ों में पाया जाता है और इसलिए मानव-समाज मे भी यह नियम अवश्य होना चाहिए।" यह हो सकता है, किन्तु प्रश्न फिर भी बना ही रहता है, कि जो श्रम-विभाग प्रचलित है, क्या वही सच्चा श्रम-विभाग है और क्या ऐसा ही श्रम-विभाग होना चाहिए ? और जब लोग किसी ख़ास श्रम-विभाग को अनुचित और अन्यायपूर्ण मानते हो तो कोई भी विज्ञान यह नही कह सकता कि जिसे वे अनुचित और अन्याय-पूर्ण मानते है, वह जारी रहे।

धर्मशास्त्रियों ने बताया कि "शक्ति ईश्वर-प्रदत्त है।" किन्तु प्रश्न यह है कि वह शक्ति दी किसे गयी है—राजा को या विद्रोही को ? धर्म की कोई भी व्याख्या इस कठिनाई को हल नहीं कर सकी। नैतिक दर्शन-शास्त्र यह कहता है कि "राज्य व्यक्तियो के सामाजिक विकास का केवल एक रूप है।" किन्तु प्रश्न उठता है, क्या नीरो या चंगेज़खॉ के राज्य को सामाजिक विकास का एक साधन कहा जा सकता है ? कोई भी सिद्धान्त, चाहे वह कितनी ही उत्कृष्टता का दावा क्यो न करे, इस कठिनाई को हल नहीं कर सकता।

वैज्ञानिक शास्त्रो के सम्बन्ध मे यह बात है। किसी भी जीव-सृष्टि और मानव-समाज के निर्वाह के लिए श्रम-विधान आवश्यक है, यह ठीक; किन्तु मानव-समाज मे क्या कोई ऐसी चीज़ है, जिसे शरीर-धर्म के अनुसार स्वाभाविक श्रम-विभाग कहा जा सके ? किसी विशेष कीट

के परमाणुओ मे, विज्ञान कितना ही श्रम-विभाग क्यों न देखे, किन्तु उसका समस्त निरीक्षण मनुष्यों को किसी ऐसे श्रम-विभाग को स्वीकार करने के लिए विवश नही कर सकेगा कि जिसे उनकी विवेक-बुद्धि स्वीकार न कर सकती हो।

निरीक्षित जीव-सृष्टियों में विज्ञान को श्रम-विभाग के कितने ही विश्वसनीय प्रमाण क्यो न मिल जायँ; किन्तु कोई भी आदमी, जिसकी बुद्धि बिलकुल मारी नहीं गयी है, यही कहेगा कि यह अन्याय है कि कुछ आजीवन कपडा ही बुना करें। इसे वह श्रम-विभाग नही, मनुष्यों के ऊपर अत्याचार कहेगा।

हर्बर्ट स्पेन्सर और अन्य वैज्ञानिक कहते हैं—चूँकि जुलाहो की एक बस्ती की बस्ती है, इसलिए यह निश्चित है कि श्रम-विभाग के अनुसार ही उनकी यह प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। ऐसा कहते समय पुराने धार्मिक आचार्यों की तर्क-शैली का अनुसरण-सा करते हैं। संसार मे शक्ति है, इसलिए यह ईश्वर-प्रदत्त है— फिर चाहे वह कैसे ही क्यो न हो, दुनिया में जुलाहे हैं, इसलिए वे श्रम-विभाग के नियम के अनुसार ही अस्तित्व मे आये है। इस बात में कुछ सचाई हो सकती थी, यदि वह शक्ति और जुलाहो की स्थिति स्वत. ही पैदा हुई होती, किन्तु हम जानते है कि वह स्वत· नहीं पैदा हुई है, बल्कि हमा लोगों ने उसको जन्म दिया है। अच्छा तो अब हमे यह देखना होगा कि हमने उस शक्ति को ईश्वर की इच्छानुसार स्थापित किया है या केवल अपनी मर्जी से, और जुलाहो के समुदाय को भी हम शरीर-धर्म के अनुसार अस्तित्व में लाये हैं, दूसरे किसी कारण से ?

कल्पना कीजिए कि कुछ लोग कृषि करके अपना निर्वाह कर रहे हैं, जैसा कि हर किसी को करना चाहिए। इसी बीच में एक आदमी ने लोहार की भट्टी बनाकर अपने हल की मरम्मत की। उसका पडौसी आया और उसने भी अपने हल की मरम्मत करने के लिए उससे कहा और बदले मे कुछ नाज या पैसे देने का वादा किया। दूसरा भी यही प्रार्थना लेकर आता है और यह सिलसिला जारी होजाता है। इस प्रकार

इस समाज मे श्रम-विभाग के एक रूप की स्थापना हो जाती है—एक आदमी लोहार बन जाता है।

दूसरे आदमी ने अपने बच्चे को अच्छी शिक्षा दी है। उसके पड़ौसी अपने बच्चों को लाकर पढ़ाने का अनुरोध करते हैं और इस प्रकार उस गाँव में वह शिक्षक बन जाता है। किन्तु ये लोहार और शिक्षक बने ही केवल इसलिए हैं कि समाज को उनकी ज़रूरत है और वे केवल उसी समय तक रहते है कि जबतक समाज को उनकी ज़रूरत रहती है। यदि ऐसा हुआ कि बहुत से लोहार या शिक्षक पैदा होगये, या अब उनकी लोगों को ज़रूरत न रही, तो साधारण विवेक-बुद्धि के अनुसार वे अपना पेशा छोड़ देते हैं और फिर पहले ही की भाँति किसान या मजदूर बन जाते हैं। ऐसा ही हमेशा और हर जगह हुआ करता है, जबतक कि उचित श्रम-विभाग के नियमों के भंग होने का कोई कारण नहीं होता। और यह श्रम-विभाग उचित भी है। किन्तु यदि ऐसा हो कि लोहार यह समझकर कि वह दूसरे लोगों को अपने लिए काम करने को बाध्य कर सकता है, ऐसी हालत मे भी घोडे की नालें बनाना जारी रक्खे जबकि उनकी कोई ज़रूरत न रह गयी हो, या शिक्षक विद्यार्थियों के अभाव मे भी यही इच्छा करे कि मै तो पढ़ाने का ही काम करूँगा, तो प्रत्येक विवेकशील निष्पक्ष मनुष्य साफ़ कह देगा कि यह सच्चा श्रम-विभाग नहीं है, यह तो दूसरों के श्रम को हडप करने का ढोंग है। श्रम-विभाग के खरे-खोटे होने की जाँच करने के लिए ठीक कसौटी यह है—दूसरे लोग उस प्रकार के श्रम को चाहते हो और उसके बदले स्वेच्छा-पूर्वक इनाम देने को तैयार हो। किन्तु विज्ञान इससे बिलकुल उलटी ही बात को श्रम-विभाग कहता है।

दूसरों को जिस चीज की ज़रूरत का स्वप्न मे भी ख़याल नहीं आता उसको लोग किये जाते है। ऐसे काम का परिश्रम भी वे माँगते है, और कहते है कि उनका यह काम ठीक है, क्योंकि यह श्रम-विभाग के अनुकूल है।

लोगों के ऊपर जो सबसे ज़बरदस्त आफत है—और वह एक ही जगह नहीं, सब देशो मे है—वह सरकार या उसके असंख्य अहलकारो के भार की है। हमारी दरिद्रता का कारण आवश्यकता से कही अधिक होनेवाली माल की उत्पत्ति है। अनेक प्रकार की वस्तुएँ इतने ज्यादा परिमाण मे बनती है कि उन सबकी खपत हो नही सकती और उनकी लोगो को ज़रूरत भी नही होती। यह सब श्रम-विभाग सम्बन्धी विचित्र कल्पनाओं का ही परिणाम है।

यदि कोई मोची बिना मॉग और बिना किसी ज़रूरत के ही बूट बनाता रहे और उसके बदले मे लोगों से ज़बरदस्ती खाना मॉगे, तो यह आश्चर्य की बात होगी। किन्तु गवर्नमेंट, चर्च, विज्ञान और कला से सम्बन्ध रखनेवाले लोगो के लिए हम क्या कहे, जो कोई लोकोपयोगी चीज़ तो पैदा नही करते और जो पैदा करते है, उसकी लोगो को ज़रूरत नही होती, मगर फिर भी बडी दिलेरी के साथ श्रम-विभाग के अनुसार इस बात का दावा करते है कि उन्हें अच्छा खाना और अच्छा कपडा दिया जाय।

कुछ ऐसे मदारी तो हो सकते हैं कि जिनके खेलो की जनता मे मॉग हो और जिनको खेलो के बदले लोग खाने-पीने की चीजे देना पसन्द करते है, किन्तु हम ऐसे जादूगरो की तो कल्पना भी नहीं कर सकते कि जिनकी खेलो की तो लोगो को जरूरत न-हो, मगर जो लोगो से अपने भरण-पोषण की आशा करें—केवल इसलिए कि वे खेल तो करते हैं। किन्तु हमारी इस दुनिया मे, चर्च और गवर्नमेण्ट के अहलकारों और वैज्ञानिको तथा कला-विज्ञो की बिलकुल यही हालत है और इस सारी विचित्रता की जड वही श्रम-विभाग की मिथ्या कल्पना है, जो बुद्धि और तर्क पर अवलम्बित नही है, बल्कि जिसका आधार कुछ ऐसे नतीजे हैं, जिन्हे ये वैज्ञानिक लोग एक स्वर से स्वीकार करते है।

इसमे सन्देह नहीं कि श्रम-विभाग सदा ही रहा है, किन्तु यह उचित तभी होता है कि जब मनुष्य उसे अपनी बुद्धि और अन्तरात्मा से पसन्द

करता है। मनुष्य का विवेक और उसका अन्तरात्मा इस प्रश्न को बडी ही सरलता के साथ तय कर सकता है। वे इस प्रश्न का फैसला हमेशा इस प्रकार करते है:—मनुष्य जो काम करता है, वह यदि दूसरों के लिए इतना आवश्यक होता है कि लोग उसके बदले मे खुशी से उसके खिलाने-पिलाने का भार अपने ऊपर लेने को तैयार होते है, तो वह श्रम उचित समझा जाता है। मगर जब कोई व्यक्ति बचपन से लेकर ३० वर्ष की अवस्था तक दूसरो के सहारे जीता है—इसलिए कि जब वह अध्ययन समाप्त कर चुकेगा तब वह कोई बहुत ही उपयोगी काम करेगा, जिसे किसी ने करने को उससे कहा नही है—और फिर अपना शेष जीवन भी उसी प्रकार व्यतीत करता है, केवल लोगो को यह दिलासा देता रहता है कि वह जल्दी ही कोई अच्छा काम करेगा, जिसे किसी ने उससे करने को कहा नही, तो अवश्य ही यह सच्च श्रम-विभाग नहीं है। यह तो वास्तव में ज़बरदस्त आदमी का दूसरो के श्रम को अन्याय-पूर्वक हथिया लेना है। इसीको पहले ज़माने मे धर्म-शास्त्री ईश्वरीय विधान कहते थे, दर्शनशास्त्र अनिवार्य जीवन संघर्ष के नाम से पुकारता था, और अब वैज्ञानिक विज्ञ न उसे शरीर-धर्म के अनुसार बना हुआ श्रम-विभाग बताता है।

आजकल जिस विज्ञान का बोलबाला है, उसका सारा महत्त्व बस इसी एक बात मे है। यह विज्ञान ही लोगो को अकर्मण्यता के लिए प्रमाणपत्र दिया करता है, क्योकि अपने क्षेत्र में इस बात का निर्णय करने का अधिकार उसीको है कि कौन-सी प्रवृत्ति हानिकारक है और कौन-सी लाभप्रद, मानो इस बात का निर्णय हरएक आदमी खुद अपनी बुद्धि और अन्तरात्मा से कर ही नही सकता।

विज्ञान का मायाजाल यह है—लोगो की बुद्धि और अन्तरात्मा को जो अच्छा लगता है, उसके अनुसार व्यवहार करने से अक्सर बहुत बडी भूल हो जाती है, ऐसा कह-कहकर बुद्धि और अन्तरात्मा पर से लोगो का विश्वास उठा दिया। अपने पाखण्ड को वैज्ञानिक सिद्धान्तो

का रूप देकर वैज्ञानिक उसे लोगो की नज़रों से छिपाकर कहते है कि हम बाह्य घटनाओ का निरीक्षण मनुष्य-जीवन के नियमो का अध्ययन करते हैं। अभी तक तो बातें विवेक और अन्तरात्मा के क्षेत्र की थी, अब केवल निरीक्षण द्वारा उनका पता लगाया जाता है। इन लोगो के मन से अच्छे बुरे, धर्म-अधर्म का विचार भी जाता रहता है। विवेक और अन्तरात्मा को वे अपनी अनादर-सूचक भाषा मे 'अनिश्चित और कल्पित' का नाम देते है और कहते है; ये सब त्याज्य हैं।

बेचारे भोले-भाले नवयुवक इस सिद्धान्त की नवीनता से आकर्षित होकर प्राकृतिक विज्ञान का अध्ययन करने के लिए दौड पडते हैं और उस मार्ग का अनुसरण करते है, जिसके अलावा वैज्ञानिको के कथनानुसार जीवन के प्रश्नों को हल करने के लिए और कोई मार्ग ही नही है। किन्तु विद्यार्थी जितना ही इसका अध्ययन करते हैं, उतना ही वे जीवन के प्रश्नो को हल करने की सम्भावना से दूर हटते जाते हैं। इतना ही नही, वे उसका ख़याल तक भुला बैठते है। और ज्यो-ज्यो वे अभ्यास करते हैं, त्यो-त्यों स्वयं निरीक्षण न करने की और दूसरे लोगो द्वारा किये गये निरीक्षणो को श्रद्धा-पूर्वक स्वीकार कर लेने की आदत पडती जाती हैं। और बाह्य रूप से ढककर अन्तर का तत्व अधिकाधिक प्रच्छन्न होता जाता है। धर्म अधर्म का उन्हे भान नही रहता और मानव-जाति ने अपने इतने दीर्घ अनुभव से अच्छे-बुरे की, धर्म-अधर्म की, जो व्याख्या की और उसके विषय में जो कुछ कहा, उसके समझने के अधिकाधिक अयोग्य होते जाते हैं। अज्ञानयुक्त निरीक्षण के दलदल मे ये ज्यों-ज्यों गहरे उतरते जाते है, त्यो-त्यों अपने शास्त्र के बाहर की किसी भी नयी बात पर स्वतन्त्ररूप से विचार करने की बात तो दूर रही, वे दूसरे लोगो के ताज़े मानवीय विचार को समझने में भी असमर्थ होते जाते हैं। ख़ास बात तो यह है कि वे अपने जीवन का सर्वोत्कृष्ट समय जीवन के नियम को अर्थात श्रम करने की आदत को भुलाने मे ही खो देते है और बिना मेहनत किये ही संसार की चीज़ों का उपभोग करने

का अपने को हक़दार मानने लग जाते हैं। इस प्रकार वे बिलकुल निकम्मे और समाज के लिए हानिकारक बन जाते हैं। उनके दिमाग़ बिगड जाते है और विचार करने की शक्ति ही नष्ट हो जाती है।

इस प्रकार उनकी शक्तियाँ दिन-ब-दिन कुन्द होती जाती है और धीरे-धीरे उनके मन मे एक प्रकार का आत्म-सन्तोष-सा हो जाता है, जिससे सीधे-सादे और मेहनती जीवन तथा स्पष्ट स्वच्छ-साधारण और मनुष्यतापूर्ण विचार-पद्धति की ओर उनके लौटने की सम्भावना सदा के लिए जाती रहती है।

: ३२ :

श्रम-विभाग संसार में हमेशा से चलता आया है और आगे भी जारी रहेगा, यह ठीक है। पर हमारे सामने उसके जारी रहने या न रहने का प्रश्न नहीं है, प्रश्न तो यह है कि श्रम-विभाग के औचित्य का निर्णय करने के लिए कौन-सी कसौटी स्वीकार की जाय ? निरीक्षण को कसौटी मानने का अर्थ है कि हम औचित्य का निर्णय करनेवाली और कोई भी कसौटी नहीं मानते। मनुष्यों में जो श्रम-विभाग हम प्रचलित देखेंगे और जो हमें ऊपरी दिखाव से ठीक मालूम पड़ेगा, उसीको हम ठीक समझने लगेंगे। और इसीकी ओर आजकल का प्रभावशाली विज्ञान हमें ले जा रहा है।

श्रम-विभाग ! कुछ लोग मानसिक और आध्यात्मिक श्रम करते हैं और कुछ शारीरिक। कितनी दिलेरी के साथ लोग यह बात कहते हैं ? ये लोग ऐसा समझना चाहते हैं, उन्हें ऐसा मालूम भी होता है, कि यह सेवा का सुन्दर विनिमय मात्र है; पर सच्ची बात तो यह है कि यह पुराने ज़माने से चले आनेवाले बलात्कार का एक स्पष्ट स्वरूप है।

"तू या तुम लोग (क्योंकि एक आदमी को खिलानेवाले प्रायः अनेक आदमी होते हैं) मुझे खाना खिलाओ, कपड़े दो, और मेरी हर तरह की कठोर सेवा करो। मैं बदले में तुम्हारे लिए मानसिक कार्य करूँगा। तुम मेरे शरीर को भोजन दो, और मैं तुम्हे आत्मिक भोजन प्रदान करूँगा।"

यह हिसाब मालूम तो ठीक होता है और सचमुच ही बहुत ठीक रहे, यदि सेवाओं का यह विनिमय स्वेच्छापूर्वक हो और वे लोग, जो शारीरिक भोजन देते है, आध्यात्मिक भोजन मिलने के पहले ही उसे देने के लिए लाचार न किये जायँ। आध्यात्मिक भोजन पैदा करनेवाला कहता है—"मै तुम्हे आध्यात्मिक भोजन देने लायक बनूँ, इसके लिए यह ज़रूरी है कि तुम मुझे खाना, कपडा दो और मेरे घर का मैला उठाओ।"

किन्तु शारीरिक भोजन का उत्पादक कोई ऐसा दावा नही कर सकता, उसे तो शारीरिक भोजन देना ही होता है - चाहे उसे आध्यात्मिक भोजन मिले या न मिले। यदि विनिमय स्वतन्त्र और स्वेच्छापूर्वक होता तो दोनो ओर की शर्तें एक-सी रहतीं। हम मानते है कि मनुष्य के लिए आध्यात्मिक भोजन उतना ही जरूरी है, जितना शारीरिक भोजन।

किन्तु विद्वान् और कलाविज्ञ कहते हैं--पेश्तर इसके कि लोगों को हम आध्यात्मिक भोजन दें; हमे ऐसे आदमियों की ज़रूरत है, जो हमारे लिए शारीरिक भोजन का प्रबन्ध करते रहें। शारीरिक भोजन के उत्पादक भी तो यह कह सकते हैं न, कि 'पेश्तर इसके कि हम तुम्हें शारीरिक भोजन दें, हमे आध्यात्मिक भोजन मिलना चाहिए और जबतक वह हमे मिल न जायेगा उस समय तक हम कोई श्रम नहीं कर सकते ?'

तुम कहते हो कि मै जो आध्यात्मिक भोजन देना चाहता हूँ, उसे तैयार करने के लिए किसान, लोहार, मोची, बढई, राज तथा अन्य लोगो के श्रम की ज़रूरत है।

प्रत्येक श्रमिक भी इसी तरह कह सकता है—पेश्तर इसके कि मैं तुम्हारे लिए भोजन पैदा करने जाऊँ, मुझे मानसिक भोजन चाहिए। मन लगाकर मेहनत करने की शक्ति प्राप्त करने के लिए धार्मिक शिक्षा, सामाजिक सुव्यवस्था, काम मे विज्ञान का उपयोग—ये सब मुझे अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होते हैं। जीवन का अर्थ खोज निकालने का मुझे समय नही है, इसलिए वह तुम मुझे बतादो। अन्याय को रोकने-

अपने लिए शारीरिक भोजन की व्यवस्था कराके हमने आध्यात्मिक भोजन की तैयारी का भार अपने ऊपर लिया था। किन्तु उस कल्पित श्रम-विभाग के परिणाम-स्वरूप, जिनके अनुसार हम काम करने से पहले भोजन कर सकते हैं। इतना ही नहीं पीढियो तक बिना काम किये खूब ऐशो-आराम के साथ रह सकते है। हमने अपने भोजन के एवज़ में कुछ चीज़े तैयार की, जो हमे अपने तथा कला विज्ञान के लिए उपयोगी मालूम होती हैं। किन्तु वे चीजें उन लोगो के तो किसी मसरफ की नही जिनकी मेहनत से हम इस बहाने लाभ उठाते है कि बदले मे हम मानसिक यथा आध्यात्मिक भोजन उन्हें देंगे। और हमारी बनाई हुई कुछ चीज़ें ऐसी हैं, जो उनकी समझ में ही नहीं आती और उन्हें वे बुरा समझते हैं।

हमने जो कर्तव्य अपने लिए स्वोकार किया था उसे हम अपनी मूर्खता वश इतना भूल बैठे कि हमे यह भी याद नही रहा कि हम जो काम करते है, वे किसके लिए कर रहे हैं। जिन लोगो की सेवा का भार हमने अपने ऊपर लिया था उन्हींको हम अपनी वैज्ञानिक तथा कला-सम्बन्धी प्रवृत्तियों का विषय बनाते हैं। हम उनका अध्ययन करते है और अपने विनोद के लिए उनके जीवन को चित्रित करते हैं। हम बिलकुल भूल गये कि उनका अध्ययन करना या उनके जीवन को चित्रित करना नही, उनकी सेवा करना हमारा धर्म है।

हमने अपने कर्तव्य को ध्यान से इतना उतार दिया है कि हमने यह भी नहीं देखा कि विज्ञान और कला-सम्बन्धी जिस कार्य का भार हमने लिया था, उसे बहुत से दूसरे लोग कर रहे है और हमारा स्थान भरा हुआ है। ऐसा मालूम होता है कि बीज-विहीन सृष्टि होती है कि नहीं, जीवो की स्वयम्भू उत्पत्ति कैसे होती है? आदि बातो की बहस मे हम पडे रहे और उधर लोगो को आध्यात्मिक भोजन की ज़रूरत महसूस हुई, इस लिए विज्ञान की दृष्टि मे जो तिरस्कृत और बहिष्कृत लोग थे उन्होने इस काम को हाथ में लिया और लोगो की योग्यतानुसार उन्हे आध्यात्मिक भोजन देने लगे। यूरोप मे लगभग ४० वर्ष से और रूस मे १० वर्ष से

तो उसे कोई अड़चन न होगी; पर मज़दूर को शारीरिक भोजन देने मे एक अड़चन होती है और वह यह कि उसके पास जो भोजन-सामग्री है, वह खुद उसीके ही लिए काफ़ी नही है।

इस सरल और न्यायोचित बात का हम बुद्धि-जीवी लोग क्या उत्तर देंगे ? हम उनको किस प्रकार संतोष देंगे ? उनकी धार्मिक शिक्षा की माँग को क्या हम अपने मठों और मन्दिरो मे जो-कुछ होता है वह देकर पूरा करेंगे ? सामाजिक सुव्यवस्था की माँग पर क्या हम उन्हे क़ानूनी पुस्तकें देकर सन्तुष्ट करेंगे, या प्रत्येक प्रकार के विभाग के फैसलो अथवा कमिटियों और कमीशनो की रिपोर्टें देकर ? उनकी ज्ञान-पिपासा को शान्त करने के लिए क्या हम नक्षत्रो और ग्रहो की बनावट, आकाश-गंगा का हाल, काल्पनिक भूमिति, सूक्ष्मदर्शी यंत्र द्वारा की हुई शोधो, आत्म-अनात्मवाद तथा घटाकाश-पटाकाश का वितण्डावाद और वैज्ञानिक विद्यालयों की बाते पेश करके उन्हे सन्तुष्ट करेंगे ? और उनकी कला-सम्बन्धी माँग के लिए हम क्या करेंगे ? क्या हम अपने प्रसिद्ध कलाविज्ञो की पुस्तके उनके सामने रक्खेंगे ? अथवा फ्रांस देश के तथा अपने कलाविज्ञो के बनाये हुए नंगी स्त्रियो के चित्र, साटिन और मख़-मल से सजे हुए दीवानखानो के प्राकृतिक दृश्यो अथवा परिवारिक-जीवन के चित्र उनके सामने रक्खेंगे ? इनमे से कोई भी चीज़ उनके काम की नही है, और न कभी किसी के काम आ ही सकती है। दर-असल हम लोग दूसरो के श्रम पर जीवित रहने का अधिकार प्राप्त करके और मज़दूरो के लिए आध्यात्मिक भोजन तैयार करने की ज़िम्मेवारी महसूस न करके अपने मुख्य लक्ष्य को ही बिलकुल भूल गये है। हमे तो इस बात का पता तक नही है कि मज़दूरों को किस बात की ज़रूरत है; हम उनके जीवन के ढंग को, उनके विचारो को और उनकी भाषा तक को भूल गये है। हम तो उनके अस्तित्व को ही एकदम भूल गये हैं और अब किसी नये निकले हुए प्रदेश अथवा किसी नवीन जाति की भाँति हम उनका अध्ययन करने बैठते हैं।

: ३३ :

एक समय था, जब हमारे समाज का आध्यात्मिक जीवन धर्माचार्यों के हाथ में था। धर्माचार्यों ने लोगों को सुखी बनाने का ज़िम्मा लिया और इसके बदले में जीवन-निर्वाह के लिए ज़रूरी जीवन-संघर्ष मे योग देने से अपने को मुक्त कर लिया किन्तु ज्योंही ऐसा हुआ, वे अपने काम को छोड़ बैठे और लोग उनसे विमुख हो गये। चर्च का सर्वनाश वस्तुतः और किसी कारण की अपेक्षा इसलिए हुआ कि कान्स्टैण्टाइन के ज़माने में राज्य-शक्ति पाकर धर्माधिकारियों ने श्रम के नियम को भंग किया—और उसके परिणाम-स्वरूप जो आलस्य और विलासिता उनमे घुसी, उसीने सर्वनाश को जन्म दिया। श्रम से मुक्ति मिलते ही चर्च ने उस मानव-समाज की सेवा का ख़याल छोड़ दिया, जिसकी सेवा का भार उसने अपने ऊपर लिया था। वह केवल निजी स्वार्थ-साधन में लग गया और चर्च के अधिकारी आलस्य और विलास मे फँस गए।

इसके बाद राज-तंत्र ने लोक-जीवन का नेतृत्व गृहण किया। उसने समाज के लिए न्याय, शान्ति, संरक्षण, व्यवस्था, शारीरिक तथा मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति आदि का भार अपने ज़िम्मे लिया और इसके बदले में राज के सेवकों ने जीवन-संघर्ष मे योग देने के कर्तव्य से अपने को मुक्त कर लिया। लेकिन ज्योंही उन्हें दूसरों के श्रम का उपभोग करने का अधिकार मिल गया, त्योंही उन्होंने भी चर्च के अधिकारियों की तरह व्यवहार करना शुरू कर दिया। तब प्रजा उनके ध्यान से उतर गयी और

सैकड़ो पुस्तकें,चित्र और गीत छपकर बँट रहे हैं, जिन्हें लोग पढते हैं और गाते हैं और उनसे आध्यात्मिक शान्ति पाते हैं। किन्तु यह सब बात उन लोगो के द्वारा नहीं होती, जिन्होने आध्यात्मिक भोजन देने का ठेका लिया था। और हम लोग, जो इसी काम की रोटी खाते है, कुछ करते-धरते नहीं, चुपचाप बैठे देखा करते है।

हम किसी ख़ास विषय के विशेषज्ञ हैं और हमारा एक ख़ास काम है। हम लोगों के दिमाग़ हैं। वे हमें भोजन देते हैं और हमने उनको शिक्षा देने का भार अपने ज़िम्मे लिया है। इसी कारण हम शारीरिक श्रम से मुक्त हुए हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या हमने उन्हे शिक्षा दी है? लोगो ने दसियो-बीसियो-सैकड़ो वर्षों तक राह देखी, पर हम अभी तक आपस मे ही बहस कर रहे है, एक दूसरे से विनोद करते है। उन लोगों को तो हम बिलकुल भूल ही गये, इतना भूल गये कि दूसरे लोगो ने इन श्रमिकों को सिखाने-पढ़ाने और रिझाने का काम अपने ज़िम्मे ले लिया और हम श्रम-विभाग की वाहियात बातों मे ऐसे मशगूल रहे कि हमे इस बात का भी पता न चला। इन सब बातो से यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि लोगो के लिए अत्यन्त उपयोगी होने की जो बड़ी-बड़ी बाते हमने की थीं, वे और कुछ नहीं, बेशर्मी और बहाना-मात्र थी।

को काम मे न लाकर मनुष्य-समाज की प्रगति को आगे बढ़ाते रहे है। रोम का प्रजा-तन्त्र इतना बलवान था, इसका कारण यह नही था कि उसके नागरिक व्यभिचारी जीवन व्यतीत कर सकते थे। इसकी उन्नति का कारण तो यह था कि उसमे बहुत से सुयोग्य और चरित्रवान लोग थे। कला और विज्ञान के लिए भी यही बात है।

विद्वानो और कलाविज्ञो का जो वर्ग झूठे श्रम-विभाग के आधार पर दूसरे लोगो के श्रम से लाभ उठाने का अधिकार माँगता है, वह सच्चा विज्ञान और सच्ची कला कभी तैयार ही नही कर सकता, क्योंकि झूठ सत्य को पैदा नहीं कर सकता।

हम खा-पीकर मस्त रहनेवाले किन्तु निर्बल और अशक्त बुद्धिजीवी अपनी स्थिति के कुछ इतने आदी हो गये है कि यदि हम किसी विद्वान् अथवा कला-विज्ञ को हल जोतते तथा खाद की गाडी हाँकते हुए देखे तो यह बात हमे बडी अजीब-सी मालूम होगी। सचमुच इस स्थिति के हम इतने आदी हो गये है कि हमे इस बात पर आश्चर्य नही होता कि हमारे विज्ञानाचार्य—अर्थात् वे लोग जिनका काम सत्य की शोध और उसका प्रचार करना है—दूसरे लोगो को अपने निजी काम करने के लिए लाचार करते है और अपना बहुत-सा समय खाने-पीने, हुक्का, सिग्रेट पीने वाग्विनोद, उपन्यास और पत्र पढने तथा नाटक-सिनेमा देखने मे गुजार देते है। हम अपने दार्शनिकों को होटल, नाटक या नाच मे देखते है तो हमे आश्चर्य नही होता। हम जब सुनते हैं कि कलाविज्ञ लोग, जो हमारी आत्मा को आनन्द और स्फूर्ति प्रदान करते हैं, शराब पीते है, ताश, खेलते हैं, दुश्चरित्र स्त्रियो की संगति मे जीवन व्यतीत करते है, या इनसे भी बुरे-बुरे काम करते है तो हमे ज़रा भी आश्चर्य नहीं होता!

विज्ञान और कला सुन्दर चीज़े है। यह ठीक है और इसीलिए तो उन्हें दुराचार के संसर्ग से बचाने की और भी जरूरत है अर्थात् मेहनत करके अपनी और दूसरो की सेवा करने के स्वाभाविक कर्तव्य से मुक्त होकर अपने को कर्तव्य-भ्रष्ट न होने देना चाहिए।

राजा से लेकर छोटे-से-छोटे सिपाही तक सब आलसी और दुराचारी हो गये। कहीं एक जगह नहीं—रोम, फ्रांस, इंग्लैण्ड, रूस और अमेरिका—सभी जगह यही हुआ। अब लोगों का राज्य पर से विश्वास उठ गया है। और वे अराजकता को आदर्श मानकर उसके लिए प्रयत्न कर रहे हैं।

राज्य-शक्ति की सहायता पाकर कला और विज्ञान ने भी बिलकुल ऐसा ही किया। उन्होंने राज्य को मदद देने का वचन दिया और बिना कुछ श्रम किये दूसरों के श्रम से लाभ उठाने और आलसी रहने का अधिकार प्राप्त कर लिया। पर इस प्रकार वे भी अपने कर्तव्य से च्युत होगये।

इनमें जो खराबियाँ पैदा हुईं वे भी इसीलिए कि भ्रमात्मक श्रम-विभाग की कल्पना के अनुसार उन्होंने दूसरों के श्रम पर जीने का अधिकार माँगा। वे अपने जीवन का ध्येय भूल बैठे। उन्होंने लोक-हित को अपनी प्रवृत्तियों का केन्द्र न बनाकर कला और विज्ञान की कुछ विचित्र बातों को अपना ध्येय बनाया। वे ही अपने पूर्ववर्ती धर्माचार्यों तथा राज्याधिकारियों की भाँति आलस्य और दुराचार में फँस गये—यह ठीक है कि इनका पतन केवल बौद्धिक है, शारीरिक नहीं।

यह कहा जाता है कि विज्ञान और कला ने मनुष्य-समाज के लिए बहुत काम किया है। मैं इनसे इन्कार नहीं करता।

लेकिन इस तरह चर्च और सरकार द्वारा भी लोगों को बहुत लाभ पहुँचा है, किन्तु वह इसलिए नहीं कि उन्होंने अपनी शक्ति का दुरुपयोग किया और न इसलिए कि उन्होंने मनुष्य-जीवन के लिए लाज़िमी श्रम-धर्म को छोड़ दिया था; बल्कि इसलिए कि उनके अन्दर ऐसे लोगों की भी संख्या काफ़ी रही, जो ईमानदार और अपने कर्तव्य के प्रति सच्चे थे।

विज्ञान और कला के सम्बन्ध में भी यही बात है। विज्ञान और कला ने संसार के लिए बहुत कुछ किया है; किन्तु जो कुछ हुआ है, वह इसलिए नहीं कि इन विद्याओं से सम्बन्ध रखनेवालों को पुराने ज़माने में कभी-कभी और आजकल हमेशा अपनेको श्रम से मुक्त करने का मौक़ा मिला, बल्कि इसलिए कि इनमें से कुछ प्रतिभाशाली पुरुष अपने इन अधिकारों

थोडी देर के लिए मान लीजिए कि हमारे देश की उन्नति वास्तव मे असाधारण और आश्चर्यजनक है, किन्तु आज जिन सफलताओ पर हम इतने फूल रहे हैं, उनका वास्तव मे कितना मूल्य है, यह जानने के लिए श्रम-विभाग के उसी सिद्धान्त के अनुसार हमें यह देखना होगा कि इन सब आविष्कारो से उन लोगों को कितना फायदा पहुँचा है, जिनके सिर पर अपना बोझ डालकर वैज्ञानिक अपनेको श्रम के कर्तव्य से मुक्त कर लेते है। किसी दुर्भाग्य के कारण, जिसे वैज्ञानिक लोग भी मानते हैं, उससे अभी तक मज़दूर लोगो कि स्थिति सुधरी नहीं, कुछ बिगड ही गयी है।

यह ठीक है कि एक मज़दूर आज पैदल चलने के बजाय रेल में सफर कर सकता है, किन्तु इसी रेल के कारण उसके जंगल जला दिये गए हैं और उसकी आँखो के सामने से उसकी रोटी लेकर बहुत दूर पहुँचा दी गयी है और वह रेल के मालिको का करीब-करीब गुलाम-सा बना दिया गया है।

भाप के इञ्जनों और मशीन की कृपा से आज वह सस्ता और खराब कपडा खरीद सकता है सही, किन्तु इन्ही इंजन और मशीनो के बदौलत तो उसकी रोज़ी छिन गयी है और वह कारखाने के मालिको का खरीदा हुआ गुलाम हो रहा है।

यह ठीक है कि तार का उपयोग करने की उसे मनाई नही है, पर वह उसका उपयोग नही करता, क्योकि उसके पास इतने पैसे ही नही है। किन्तु इस तार-वर्की ही की बदौलत उसे यह मालूम होने से पहले ही कि इसकी चीज़ की इस समय माँग है और उसकी क़ीमत बढ़ गयी है, उसकी आँखों के आगे ही धनी सस्ते मूल्य पर उसकी चीज़ें ख़रीद ले जाते है।

आज टेलीफोन, टेलिस्कोप, उपन्यास, सिनेमा, चित्र-शालायें आदि बहुत-सी चीज़ें मौजूद हैं, किन्तु मज़दूरो को इनसे कुछ लाभ नही मिल पाता क्योकि ये चीज़ें उसकी बुरी आर्थिक अवस्था के कारण उसकी पहुँच से बाहर हैं। इस प्रकार इन आश्चर्य-जनक शोधों, आविष्कारों और

: ३४ :

किन्तु, आप कहेंगे आज विज्ञान और कला मे जो असाधारण सफलता हम देख रहे हैं वह श्रम-विभाग का ही तो फल है। इसीके अनुसार वैज्ञानिक तथा कलाविज्ञ लोग अपनी रोज़ी कमाने के कर्तव्य से मुक्त कर दिये जाने के कारण कला की ओर ध्यान दे सकते है। यदि प्रत्येक मनुष्य के लिए हल जोतना लाज़िमी होता तो इतनी ज़बरदस्त उन्नति होना असम्भव था और प्रकृति के ऊपर मनुष्य की सत्ता बढ़ाने वाली यह आश्चर्यजनक सफलता नामुमकिन थी। मनुष्यों को आश्चर्य मे डालनेवाली ज्योतिष-सम्बन्धी वे शोधें आपको न मिलती, जिनसे जहाज़ चलाने मे मदद मिल रही है। इसके बिना ये जहाज़, रेल, तार, पुल, पहाडी, सुरंगें, फोटो, टेलीफ़ोन, सीने की मशीने, फोनोग्राफ़, आदि बाजे, बिजली दूरदर्शी-यन्त्र, सूक्ष्मदर्शी-यन्त्र, दूर की चीज़ें अर्थात् तारे आदि किन तत्त्वो के बने है, इस बात को बतानेवाले यन्त्र और क्लोरोफार्म, कारबोलिक एसिड आदि कहाँसे आते ?

इन सब पर हमारे ज़माने को गर्व है। हम इन बातों की बारबार चर्चा करते है और अपनी प्रगति पर ऐसे फ़िदा हो रहे है कि अपनी तारीफ़ करते नही अघाते। ऐसा मालूम होता है कि सचमुच हम यह विश्वास करने लग गये हैं कि विज्ञान और कला की हमारे ज़माने मे जैसी उन्नति हुई है, वैसी कभी नही हुई। और चूँकि यह सब प्रगति इसी श्रम-विभाग के कारण हुई है, इसीलिए यह कैसे हो सकता है कि हम उसका समर्थन न करें ?

हमे अपने को धोखे मे नही डालना चाहिए। रेल और कल-कारखाने तथा मिट्टी का तेल और दियासलाई किसलिए बनाये जाते हैं, यह हम सब जानते हैं। एक शिल्पी जब रेल बनाता है तो या तो सरकार के लिए बनाता है, जिससे युद्ध मे आसानी हो, या पूँजीपतियो को आर्थिक लाभ पहुँचाने की खातिर। वह जो-कुछ बनाता है, या सोचता है वह सब सरकार, पूँजीपति तथा धनिक लोगो के लिए ही करता है। उसके जो सबसे अधिक चातुर्य-पूर्ण आविष्कार होते है, वे या तो तोप, बन्दूक, नौका-नाशक यन्त्र और कैदखानो की भाँति लोगो को एकदम हानि पहुँचानेवाले ही होते है, या फिर वे केवल व्यर्थ ही नही, बल्कि उनकी पहुँच से बिलकुल बाहर होते हैं—जैसे बिजली की रोशनी, टेलीफोन और ऐशो-आराम की अनेक चीज़े, या फिर वे ऐसी चीज़े होती है, जो उन्हे पतित बना देती हैं और उनकी जेब से अन्तिम पाई भी निकाल लेती है—जैसे शराब, अफीम, तम्बाकू, जेवर आदि चमक-दमकवाली शौकीनी तथा ऐसी ही अन्य बहुत सी छोटी-मोटी चीज़ें।

विज्ञान और कला के पुजारी तभी अपनी प्रवृत्ति को लोकोपयोगी कह सकते थे जबकि उन्होने लोगो को लाभ पहुँचाने के लिए उन कामों को किया होता न कि सिर्फ सरकार और पूँजीपतियों को।

विद्वान लोग तो अपने-अपने पवित्र कामो में लगे हुए हैं। वे परमाणुओं के पृथक्करण और सितारो के रंग से उनके तत्त्वो को पहचानने की क्रिया मे तथा ऐसी ही शोधो में मस्त रहते है, किन्तु कुल्हाडी किस प्रकार बनायी जाय, किस प्रकार की कुल्हाडी से लकडी काटना अच्छा है, कौनसा आटा अधिक अच्छा होता है, किस प्रकार के आटे की रोटी बनायी जाय, आटा किस प्रकार गूँधा जाय, ख़मीर किस प्रकार उठाया जाय, अङ्गीठी किस प्रकार बनायी और गरम की जाय, किस प्रकार के खाने-पीने और बर्तन आदि का उपयोग अधिक लाभदायक होगा और इन चीज़ों को आसानी से कैसे तैयार किया जा सकता है--इन बातो की ओर विज्ञान

कला-मय कृतियों ने मज़दूरों के जीवन को यदि हानि नहीं, तो लाभ भी नही पहुँचाया है—और यह वैज्ञानिक भी मानते हैं।

हम अपने स्वार्थ और सुख-सन्तोष की बात छोडकर यदि आजकल के विज्ञान और कला की सफलता को उसी कसौटी पर कसें—अर्थात् मज़दूर श्रेणी के लाभ से ख़याल से देखें, जिसके कारण वर्तमान श्रम-विभाग का समर्थन किया जाता है, तो हमे पता चलेगा कि हम जो इतना सन्तोष प्रकट करते हैं, उसका वास्तव मे कोई कारण नही है।

एक किसान रेल पर बैठता है, उसकी स्त्री कपड़ा खरीदती है, झोपड़ी मे मिट्टी के तेल का दिया जलता है और किसान दियासलाई के द्वारा अपनी बीडी पीता है—यह सब बडा अच्छा है, किन्तु इतने ही से रेल और कल-कारख़ानो से इन लोगो का कल्याण हुआ है, यह हम कैसे कह सकते हैं?

यदि कोई किसान रेल मे सफ़र करता है, लैम्प, कपडा और दिया-सलाई ख़रीदता है, तो सिर्फ इसलिए कि हम उसे ऐसा करने से रोक नही सकते, किन्तु यह बात तो हम सभी लोग अच्छी तरह जानते हैं कि रेल और कल-कारखाने इन लोगों के लाभ के लिए नहीं बनाये गये थे। तब फिर राह चलते यदि कुछ लोगों को लाभ पहुँच जाता हो तो इस बात को साबित करने के लिए दलील कैसे पेश की जा सकती है कि ये चीज़े लोगो के फ़ायदे के लिए बनी है ?

हम सब लोग अच्छी तरह जानते है कि इन्जीनियर और पूँजी-पति रेल और कल-कारख़ाने बनाते समय मजदूरो का ख़याल करते है तो केवल इसलिए कि उनका किस प्रकार अधिक से अधिक उपयोग किया जा सकता है और इस बात मे वे यूरोप में, अमेरिका मे और रूस में भी पूरी तरह कामयाब हुए है।

प्रत्येक हानिकारक चीज के साथ कुछ लाभदायक बात भी रहती है। घर मे आग लग जाने पर हम वहाँ जाकर हाथ ताप सकते है और कोई जलती हुई लकडी उठाकर हम बीडी भी सुलगा सकते है। पर क्या हम यह कहते है कि आग लग जाना उपयोगी है ?

रूपकों में कितनी वृद्धि की है? हमने लोगों के लिए कौन-से चित्र, कौन-से गीत बनाये हैं? पुस्तकें और चित्र प्रकाशित होते हैं सही, और हारमोनियम भी बनते है, किन्तु हमने इनके बनाने में कोई भाग नहीं लिया।

विशेष आश्चर्य की बात तो यह है कि जिन क्षेत्रों में विज्ञान और कला को लोगों के लिए अधिक उपयोगी होना चाहिए, उन्ही क्षेत्रों मे उन्होंने ग़लत रास्ता अख्तियार किया है। इस कारण वे उपयोगी होने के स्थान पर हानिकारक हो उठे हैं। शिल्पी, यन्त्रशास्त्री, शिक्षक, कलाकार और लेखक—इन सबके पेशे ऊपर से देखिए तो लोगो की सेवा के लिए बने हुए दिखायी देते हैं। किन्तु होता क्या है? आज जो-कुछ हो रहा है, उससे लोगो की उल्टी हानि पहुँचती है।

शिल्पी तथा यन्त्र-शास्त्री बिना पूँजी के कुछ नहीं कर सकते। इनका सारा ज्ञान इस प्रकार का है कि उसका उपयोग करने के लिए अच्छी पूँजी और काफी संख्या मे मज़दूर चाहिएँ। खुद अपने ख़र्चे के लिए उन्हें प्रति वर्ष हज़ार-पंद्रह सौ रुपया चाहिए। इसलिए वे किसी गाँव में जाकर नहीं रह सकते, क्योंकि वहाँ उनको कोई इतना पैसा न देगा। वे अपने पेशों के कारण ही लोगों की सेवा के लायक नहीं रहते।

पुल की महराब कितनी बड़ी है, यह वे उच्चगणित के द्वारा बता सकते हैं। इञ्जिन की ताक़त को भी वे मालूम कर सकते हैं; किन्तु साधारण शारीरिक श्रम करने मे वे असमर्थ है। हल या गाड़ी की मरम्मत करना या उनमें सुधार करना वे नही जानते, नदी को किस प्रकार पार किया जा सकता है, इसका उन्हें किसानों की अपेक्षा बहुत ही कम ज्ञान है।

वे इस जीवन को बिलकुल नहीं समझ पाते—उतना भी नहीं जितना कि ग़रीब-से-ग़रीब किसान समझता है। उनके लिए कारख़ाने और बहुत-से आदमी काम करने के लिए चाहिए। बाहर से मशीनें भी मँगा दी जायें, तब वे अपना काम कर सकेंगे। किन्तु आज जो लाखों-करोडों

कभी ध्यान देने का कष्ट ही नहीं उठाता और कभी ध्यान देता भी है तो बहुत थोड़ा।

किन्तु सच पूछिये तो यह सब विज्ञान के ही काम हैं।

विज्ञान का काम लोगों की सेवा करना है। हमने तार, टेलीफोन, फोनोग्राफ तो बनाये, किन्तु लोगों के जीवन में हमने कौन-सा सुधार और कौन-सी उन्नति की ? हमने कीड़ों को लाखों की संख्या में खोज निकाला, तो इससे क्या, बहुत पुराने ज़माने से जो पालतू जानवर चले आते है उनमें हमने एक भी जानवर की वृद्धि की ? अभी बहुत से जंगली पशु-पत्ती हैं, पर क्या हमने कभी उन्हे पालतू बनाने का उद्योग किया ? बनस्पतिशास्त्रियों ने कोष्ठों (cells) की शोध की, कोष्ठों मे से अणुओ को खोज निकाला, इन अणुओं मे से किसी अन्य चीज़ को और उस अन्य चीज़ मे से भी किसी अन्य चीज़ को खोजने की चेष्टा की। प्राचीन-तम समय में गेहूँ और दालो आदि की खेती होती थी। लेकिन अबतक आलू को छोड़कर मनुष्य को पोषण देनेवाला एक भी नया पौधा नहीं निकला। और आलू की खोज का श्रेय भी वैज्ञानिको को नही है। हमने जलमग्न नौका-नाशक यन्त्र का आविष्कार किया, घर में नालियो की व्यवस्था की; किन्तु चर्खा, कर्घा, हल, कुल्हाडी, नाज निकालने का यन्त्र, बाल्टियाँ और खेती तथा रोज़मर्रा के इस्तैमाल की चीज़ें बिलकुल पहले ही जैसी है। यदि इनमे से किसी चीज़ मे उन्नति हुई है तो वह विद्वानों द्वारा नही, बल्कि बेचारे बिना पढ़े-लिखे लोगों के द्वारा ही हुई है।

कला के सम्बन्ध मे भी यही बात है। बहुत से लोगो को महान् लेखक माना जाता है। हमने उनपर ढेरो आलोचनायें लिखी हैं और उन आलोचनाओं पर अनेकों आलोचनायें लिखी; हमने चित्रशालाओं मे चित्रो का संग्रह किया और कला के विभिन्न विभागों का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया; हमने ऐसे मिश्रित वाद्य-संगीतों और नाट्य-संगीतों का आविष्कार किया है, जिन्हे स्वयं हम ही मुश्किल से सुन-समझ पाते हैं; किन्तु हमने लोग-प्रिय वाद्यों मे, गीतो मे, कहानियों और लोगों के लिए

लोगों के लाभ के लिए वैज्ञानिक सहयोग बिलकुल दूसरी ही तरह का होना चाहिए और जैसा वास्तव मे होना चाहिए वह अभी आरम्भ भी नहीं हुआ है। उसका प्रारम्भ तब होगा, जब विज्ञान-वेत्ता, शिल्पी और डाक्टर लोग उस श्रम-विभाग को अथवा यों कहिए कि दूसरों का श्रम छीन लेने की प्रचलित पद्धति को उचित और न्यायपूर्ण समझना छोड देंगे और जब वे यह समझने लगेंगे कि हज़ारों लाखो की तो बात ही नहीं, हज़ार-पॉच सौ की रक़म भी अपनी सेवाओ के बदले में लेना अनुचित है। जबकि विज्ञान-वेत्ता लोग मज़दूर लोगो के साथ बिलकुल उन्हींकी तरह हिल-मिलकर रहने लगेंगे और केवल सेवा-भाव से अपनी शिल्प-विद्या, कला-कौशल और औषध-ज्ञान का उपयोग लोगों के लाभ के लिए करेंगे, तब विज्ञान आम लोगों को लाभ पहुँचा सकेगा। किन्तु इस समय तो वैज्ञानिक लोग जो मज़दूरो की मेहनत पर जीवन व्यतीत करते है, सर्व-साधारण के रहन-सहन को बिल्कुल भूल गये हैं।

चिकित्सा-शास्त्र और शिल्प-शास्त्र तो अभी तक लोगों का कुछ भी भला नहीं कर पाये। श्रम के समय को किस प्रकार विभक्त किया जाय; कौन-सा खाना अधिक उपयोगी होगा, किस तरह के कपडे पहनना ज्यादा अच्छा है; सर्दी और नमी को किस प्रकार दूर किया जाय, बच्चो को किस तरह नहलाया-धुलाया जाय, किस तरह उन्हें दूध पिलाया जाय, पाला-पोसा जाय—ये प्रश्न हैं, जो मज़दूरों की आजकल की स्थिति में आवश्यक मालूम होते हैं किन्तु जिनको आजकल किसीने हल करने की कोशिश नहीं की।

वैज्ञानिक शिक्षको के सम्बन्ध मे भी यही बात कही जा सकती है। विज्ञान ने शिक्षण का प्रबन्ध भी कुछ इस ढंग से किया है कि केवल धनिको को ही शिक्षा प्राप्त हो सकती है। इञ्जिनियरों व डाक्टरो की भॉति ये शिक्षक भी अनजान मे धन की ओर आकर्षित हो जाते हैं।

इसके सिवा और हो ही क्या सकता है? क्योंकि बेञ्चों, ग्लोब, नक्शो, पुस्तकालयो आदि से सज्जित सुव्यवस्थित स्कूल एक ऐसी चीज़

किसान दुर्दशाग्रस्त हो रहे हैं, उनको किस प्रकार मदद दी जाय और उनकी कठोर ज़िन्दगी को किस तरह सुगम बनाया जाय, यह न तो वे जानते ही हैं और न ऐसा कुछ कर ही सकते हैं।

डाक्टरों की स्थिति तो और भी ख़राब है। उनकी कल्पित विद्या तो कुछ ऐसी है कि उन्हीं लोगों के रोगों को दूर कर सकती है, जो बिलकुल निकम्मे हैं और जो दूसरे लोगों की मेहनत का लाभ उठा सकते हैं। ठीक शास्त्रीय विधि से काम करने के लिए तो उन्हें औज़ार, औषधि, स्वास्थ्यप्रद मकान, खाना, नालियाँ आदि कितनी ही ख़र्चीली चीज़ों की ज़रूरत है। अपनी फीस के अलावा वे ऐसे ख़र्चों का मुतालबा करते हैं कि एक रोगी को अच्छा करने के लिए बेचारे सैकडो लोगों को भूखों मरना पडता है। इन लोगों ने बडी-बडी राजधानियों में बड़े-बडे विद्वान् लोगों से शिक्षा पायी है। जो सिर्फ ऐसे ही बीमारों का इलाज करते थे कि जिनको वे अस्पताल में रख सकते थे, या जो स्वयं अपने पैसे से सब ज़रूरी दवाइयाँ तथा औज़ार ख़रीदकर रख सकते है और जो सलाह मिलते ही उत्तर से दक्षिण को जलवायु के परिवर्तनार्थ जाने में समर्थ हैं।

यह डाक्टरी विद्या इस प्रकार की है कि प्रत्येक गाँव का डाक्टर इस तरह की शिकायतें करता रहता है कि गाँव के ग़रीब किसानो और मज़दूरों का इलाज करना बडा मुश्किल है, क्योंकि स्वास्थ्यप्रद घर रहने के लिए वे पा नहीं सकते, कोई अस्पताल नहीं है, अकेले वह सारा काम नहीं देख सकता, उसे सहायता के लिए सब-असिस्टेन्ट-सर्जन की ज़रूरत है। किन्तु वास्तव मे इन सब बातों के अर्थ क्या हैं? इसके अर्थ यह हैं कि पेट भरने के लिए उसके पास भोजन नहीं है। और यही सब रोगो का कारण है। इसीसे वे फैलते है और अच्छे नहीं हो पाते।

अब विज्ञान श्रम-विभाग के झण्डे-तले खड़ा हुआ अपने समर्थकों को सहायता के लिए बुलाता है। विज्ञान तो अमीरों के चारों ओर सन्तोष के साथ अपना स्थान बना लेता है और उन लोगों को अच्छा करने की कोशिश करता है कि जो सभी ज़रूरी चीज़ें प्राप्त कर सकते है।

लिए सैर ज़रूरी है, जिसके लिए पुष्कल साधनों की आवश्यकता है। कला-शालायें कला को प्रोत्साहन प्रदान करने के लिए लोगो से ले-लेकर लाखो रुपया ख़र्च कर रही हैं। मज़दूरो के रुपये से संचालित कला की कृतियाँ महलों मे लटकती हैं, जो न तो मजदूरो की समझ मे आती है और न जिनकी उन्हें कोई ज़रूरत ही है। संगीत-शास्त्रियों का भी यही हाल है।

लेखको और ग्रन्थकारों के विषय मे तो ऐसा मालूम होता है कि उन्हे कोई खास तरह के मकान, रंग-मञ्च, कलाशाला या नटो आदि की ज़रूरत नही होती, किन्तु उनके लिए भी इतना ज़रूरी हो उठता है कि यदि वे कोई महान् ग्रन्थ लिखना चाहते है तो उन्हे अध्ययन और अनुभव के लिए यात्रा करनी चाहिए, सभा-समितियो मे जाना चाहिए, महलो को देखना और कला, नाटक, सङ्गीत आदि का आनन्द लेना चाहिए। यदि इन बातो के लिए उनके पास रुपया जमा नहीं है तो उन्हे वृत्ति दी जाती है, ताकि वे निश्चिन्त होकर अच्छी रचना कर सके। किन्तु यहाँ भी परि-णाम वही होता है कि इन रचनाओ को हम लोग तो खूब पसन्द करते हैं, किन्तु आम लोगो के लिए तो वे बिलकुल व्यर्थ और अनुपयोगी है।

वैज्ञानिको और कला-प्रेमियो की इच्छानुसार यदि ऐसे आध्यात्मिक भोजन के उत्पादको की इतनी संख्या बढ़ जाय कि प्रत्येक गाँव में कला-शाला बनवानी पडे, सङ्गीतज्ञों का प्रबन्ध कराना पडे और एक ग्रन्थकार को रखना पडे तो क्या हो? मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि किसान लोग इस बात की कसम खा लेंगे कि वे कभी एक भी तस्वीर न देखेंगे, न कभी संगीत सुनेंगे और न कविता या उपन्यास ही पढ़ेंगे। और यह कसम खानी पडेगी इसलिए कि इन व्यर्थ के निरुपयोगी जीवो का पेट भरने के लिए उन्हे विवश न होना पडे।

किन्तु कला-प्रेमी लोग सर्व-साधारण की सेवा क्यो न करें? प्रत्येक घर में पवित्र मूर्तियाँ और तस्वीरे होती ही हैं, किसान और किसानो की स्त्रियाँ गाती है, बहुतों के पास बाजे भी होते है और प्राय: सभी कथा-कहानियाँ और गीत जानते हैं, और कुछ लोग लिख-पढ़ भी सकते है।

है कि जिसको जारी रखने के लिए लोगों पर लगान दोहरा कर देना पड़ेगा। अब बच्चो के लिए भी मेहनत करना ज़रूरी हो जाता है, नही तो लोग दोहरा कर अदा नहीं कर सकते—खासकर ग़रीब लोग। यदि शिक्षा-शास्त्रियों के कथनानुसार और ऐसे स्कूल खोले गये और उनका ख़र्च लोगो पर डाला गया तो लोग और भी अधिक ग़रीब हो जायेंगे।

तब फिर क्या किया जाय ?

'सरकार स्कूल स्थापित करेगी और यूरोप के अन्य देशों की तरह शिक्षा अनिवार्य कर देगी। किन्तु रुपया तो फिर भी लोगों ही से लिया जायगा और इसलिए उन्हें मेहनत और भी अधिक करनी होगी, उनके पास समय और भी कम बचेगा, और इसलिए अनिवार्य शिक्षा सफल नहीं होगी। इसका भी बस एक ही इलाज है—शिक्षक भी मज़दूरो की तरह उनके साथ जाकर रहे और स्वेच्छापूर्वक उसे जो-कुछ दे दिया जाय, वही स्वीकार करके शिक्षा दे।'

विज्ञान तो अपना वह वाहियात बहाना पेश भी कर सकता है कि 'विज्ञान विज्ञान के लिए ही काम कर रहा है' और जब उसका पूरा विकास हो जायगा, तब वह लोगो को प्राप्त होगा। किन्तु कला, यदि वह वास्तव में कला है, तो सभी को सुलभ होनी चाहिए—विशेषतः उनको, जिनके लिए वह बनी है। हमारी कला की दशा तो ऐसी हो रही है कि कला से सम्बन्ध रखनेवाले लोगों पर यह दोष लगाया जा सकता है कि वे लोगों के लिए लाभदायक होना चाहते ही नही। लोगों को किस प्रकार लाभ पहुँचाया जा सकता है, यह वे जानते नही। लोकोपयोगी बन भी नहीं सकते।

चित्रकार को अपनी महान् कृतियाँ बनाने के लिए एक खास कमरा चाहिए और वह इतना बडा होना चाहिए कि जिसमे ४० बढ़ई या मोची समा सकते हों, जो आज स्थानाभाव से या तो सर्दी से ठिठुर रहे हैं या बन्द हवा मे रहने के कारण दम घुट-घुटकर मर रहे हैं। परन्तु इतना ही काफ़ी नहीं है। उन्हे तो प्रकृति-निरीक्षण भी करना चाहिए और इसके

: ३५ :

'किन्तु विज्ञान और कला ! तुम विज्ञान और कला की अवहेलना करते हो। किन्तु इन्हीं से तो मनुष्य जीवित है।' मैं सदा यह बात सुनता हूँ। यही कहकर लोग मेरी बातो की उपेक्षा कर देते हैं।

'वह तो विज्ञान और कला की अवहेलना करता है, वह मनुष्यो को फिर वहशी बनाना चाहता है, तब फिर क्यों हम उसकी बात सुनें या उस से बहस करें ?'

किन्तु यह अन्याय है मैं विज्ञान और कला की अवहेलना नहीं करता मैं तो सच्चे विज्ञान और सच्ची कला की ख़ातिर ही यह सब-कुछ लिखता और कहता हूँ। विज्ञान को मैं मनुष्य की बुद्धियुक्त शुद्ध प्रवृत्ति मानता हूँ और उसे मूर्तरूप देनेवाली कला है। इसके नाम पर ही मै आजकल के नामधारी विज्ञान और कला की आलोचना करता हूँ, ताकि मनुष्य उस जङ्गली अवस्था को न पहुँच जायँ कि जिधर वे आजकल झूठी शिक्षा के कारण बड़ी तेज़ी से दौड रहे है।

यदि थोड़े ही लोगो को भोजन बनाने का अधिकार दिया जाय, और अन्य सब लोगों को बिलकुल मना कर दिया जाय, या इस काबिल भी न रहने दिया जाय कि वे भोजन बना सकें, तो मै दावे के साथ कह सकता हूँ कि भोजन की उत्कृष्टता मे ख़राबी हो जायगी। यदि रूस के किसानों को भोजन बनाने का ठेका दे दिया जाय तो सिवा काली रोटी, क्वास, आलू और प्याज के जो इन्हे प्रिय तथा अनुकूल है और कोई चीज़ न

किन्तु न जाने कैसे कला-सेवी और साधारण जनता एक दूसरे से इतनी दूर जा पड़े कि अब आपस में इन दोनो के मिलने की कल्पना भी कठिन है।

किसी चित्रकार से ज़रा यह कहिए तो कि तुम कला-शाला, नमूनो और वेश-भूषा के साधनों के बिना चित्र खीचो या पैसे-पैसेवाली तस्वीरें बनाओ, तो वह फौरन आपको कहेगा कि यह तो कला की हत्या करना है। किसी संगीतज्ञ से यह कहिए कि हारमोनियम बजाकर गॉव की स्त्रियो को गीत गाना सिखाओ, किसी कवि से यह कहिए कि इस तरह के काव्य, उपन्यास और व्यंग लिखना छोडकर लोक-गीत बनाओ और ऐसी कहानियाँ लिखो, जो बिना पढ़े-लिखे लोगो की समझ मे आ सके तो फौरन ही वे कहेंगे कि आप पागल होगये हैं।

किन्तु क्या यह पागल होने से भी बदतर नहीं है कि जिन लोगो ने यह वचन देकर अपने को श्रम-बन्धन से मुक्त कर लिया था कि जो उन्हे रोटी और कपडा दे रहे है उनके लिए वे आध्यात्मिक भोजन तैयार करेंगे, वे आज जीवन की सामग्री प्राप्त करके अपनी प्रतिज्ञा को एकदम ही भुला बैठे ? यहाँ तक कि आज वे यह समझ भी नहीं सकते कि अपने अन्नदाताओ और पोषको के लायक आध्यात्मिक भोजन क्या है और वह किस प्रकार तैयार किया जा सकता है। और इस वादा-खिलाफ़ी को वे अपने लिए गौरव का कारण समझते हैं। बलिहारी है।

वे कहते है कि सभी कहीं ऐसा होता है। यदि ऐसा है तो यह अन्यायपूर्ण और अनुचित है और उस समय तक रहेगा कि जबतक चतुर लोग श्रम-विभाग के बहाने लोगो को आध्यात्मिक भोजन देने का झूठा वायदा करके केवल उनकी मेहनत पर अपने जीवन को बितायेंगे।

विज्ञान और कला के द्वारा लोगो की सच्ची सेवा तभी हो सकेगी कि जब विज्ञान और कला के प्रेमी गॉव मे जाकर गॉव के लोगो ही की तरह उनके बीच में रहकर अपनी सेवायें बिना किसी प्रकार के मुआवज़े की इच्छा से खुशी-खुशी लोगों को अर्पित करेंगे और उनकी स्वीकृति अथवा अस्वीकृति भी बिलकुल उनकी मर्ज़ी पर छोड़ देंगे।

का कितना महत्त्व है ? मनुष्यो के कल्याण पर विचार करनेवाले विज्ञान लोगो की दृष्टि मे ऊँचे और पवित्र माने जाते है। कन्फ्यूशियस, बुद्ध, मूसा, सुक़रात, ईसा और मुहम्मद का ज्ञान इसी श्रेणी का था।

मनुष्य का उद्देश्य क्या है और उसका कल्याण किस बात मे है ? इस ज्ञान के बिना अन्य समस्त विद्यायें और कलायें केवल निरर्थक हानिकारी मनोरंजन-मात्र रह जाती है, जैसा कि सचमुच आज हम लोगो मे हो रहा है। अत्यन्त प्राचीन काल से आज तक ऐसा कोई भी समय न था, जब मानव-उद्देश्य और कल्याण से सम्बन्धित ज्ञान न रहा हो। यह ठीक है कि सरसरी तौर पर देखने से मालूम होता है कि मानव-कल्याण सम्बन्धी ज्ञान बौद्धो, ब्राह्मणो, यहूदियो, ईसाइयो तथा 'कन्फ्यूशियस' और 'लोअत्से' के अनुयायियो की दृष्टि मे भिन्न-भिन्न है, किन्तु मनुष्य यदि ज़रा ग़ौर से देखे तो उसे पता चल जायगा कि मुख्य-मुख्य बातों के विषय मे सबसे एकता है। लोग मकान बनाते हैं। एक गृह-शिल्पी एक नक़शा तैयार करता है, दूसरा गृह-शिल्पी दूसरा। नक़शे एक दूसरे से कुछ भिन्न है, किन्तु वैसे है दोनो ठीक, और हरएक आदमी जानता है कि यदि उनमे से किसी के भी अनुसार काम किया जायगा तो मकान तैयार हो जायगा। कन्फ्यूशियस, बुद्ध, मूसा और ईसा ऐसे ही गृह-शिल्पी हैं। किन्तु आज बिलकुल अचानक यह परिवर्तन देखने मे आ रहा है कि आज के लोग घोषणा कर रहे है कि वह ज्ञान, जो समस्त मानव-ज्ञान का पथ-प्रदर्शक था, दुनिया की उन्नति मे बाधक हो रहा है।

लोग प्रत्येक ज्ञान को, मनुष्य के कल्याण से सम्बन्ध रखनेवाले अत्यन्त आवश्यक ज्ञान को अस्वीकार करते हैं और ज्ञान के इस अस्वीकार को ही लोग विज्ञान कहते है। मनुष्य के प्रारम्भ से लेकर अबतक प्रतिभाशाली लोग सदा पैदा होते रहे है, जिन्होने अपनी बुद्धि और अन्तरात्मा की प्रेरणा से न केवल अपना लेकिन मनुष्य-समाज के उद्देश्य और कल्याण के सम्बन्ध मे बहुत-कुछ सोचा-विचारा है। उन्होने सोचा

बनायी जायगी। यही अवस्था मनुष्य की उन ऊँची प्रवृत्तियों की होगी, जिन्हें हम विज्ञान और कला कहते हैं — यदि उनका ठेका किसी एक जाति-विशेष को दे दिया जाय। विज्ञान और कला कुछ ख़ास लोगों के हाथ में चली गयी, जिन्होंने उसे अपना बपौती पेशा बना डाला है और कला व विज्ञान का अर्थ ही बिलकुल बदल डाला है।

मनुष्य का जबसे संसार में आविर्भाव हुआ है तबसे विज्ञान अपने साफ और व्यापक अर्थ में सदा ही उसके पास रहा है। उसके बिना तो जीवन की कोई कल्पना ही नहीं की जा सकती और उसपर आक्रमण करने या उसकी रक्षा करने की ज़रूरत नहीं है। इस ज्ञान का क्षेत्र इतना व्यापक है, कि खान में से लोहे की प्राप्ति से लेकर तारों की गति-सम्बन्धी ज्ञान तक नाना प्रकार की सैकड़ों-हजारों बातों का इसमें समावेश हो जाता है। यदि मनुष्य के पास इस बात का निर्णय करनेवाली कोई कसौटी न हुई कि कौन-सा ज्ञान अधिक उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है और कौन-सा कम, तो ज्ञान की इस भूल-भुलैया में मनुष्य के खो जाने की पूरी सम्भावना है।

इसलिए मनुष्य की बडी-से-बडी बुद्धिमानी इसमें है कि वह एक ऐसी मार्ग-दर्शक कुंजी खोज निकाले, जिससे मानव-ज्ञान की ठीक-ठीक आयोजना की जा सके और यह मालूम होता रहे कि कौन-सी बात मनुष्य के लिए अधिक उपयोगी है और कौन-सी कम, मनुष्य का यही ज्ञान, जो शेष सब प्रकार के ज्ञानों को संचालित करता है, विज्ञान के नाम से पुकारा जाता है। ऐसा विज्ञान जबसे मनुष्य ने जंगली अवस्था के बाहर पैर रक्खा है तबसे बराबर मनुष्य के साथ रहा है। जबसे मनुष्य अस्तित्व में आया है तबसे प्रत्येक जाति के अन्दर ऐसे उपदेशक पैदा होते रहे हैं, जो उस विज्ञान को बताते रहे हैं जो यह बतलाता है कि मनुष्य के लिए क्या जानना सबसे अधिक ज़रूरी है। इस विज्ञान का सदा यह उद्देश्य रहा है कि वह यह पता लगाये कि मानव-समाज का वास्तविक कल्याण किस बात में है? इस विज्ञान के द्वारा यह मालूम होता रहा है कि दूसरे विज्ञानों और कला

और कल्पनाओं की उनमे स्थापना करके यह मालूम करना चाहिए कि उनकी क्या इच्छाये हैं, क्या भावनायें है, उनके विचार कैसे हैं, उनकी कल्पनायें और आदतें क्या है, और इन निरीक्षणो से (जिनके प्रत्येक शब्द मे विचार या भाषा की कोई न कोई ग़लती रहती है) दृष्टान्त के अनुसार तुम्हें यह परिणाम निकालना चाहिए कि तुम्हारा और तुम्हारे जैसे अन्य परमाणुओं का कर्तव्य क्या है ?

तुम्हें अपने को समझने के लिए यह ज़रूरी है कि तुम न केवल कीडो का दृश्य अध्ययन करो, बल्कि न दिखायी देने वाले अणुओ का भी अध्ययन करो और एक जीव-सृष्टि मे से दूसरी जीव-सृष्टि के रूपान्तर का अध्ययन करो, जिसे न तो तुमने और न किसी दूसरे ने पहले कभी देखा और न कभी देख सकोगे ।

कला के सम्बन्ध मे भी यही बात है । जहाँ कहीं सच्चा विज्ञान रहा है, वह कला के द्वारा प्रदर्शित हुआ है । मनुष्य का जबसे प्रारम्भ हुआ है, तब से सच्ची कला का इसके सिवा और कोई उद्देश्य नहीं रहा कि वह उस ज्ञान को प्रदर्शित करे, उसे पूरा करे, जो मानव-जीवन के उद्देश्य और कल्याण से सम्बन्ध रखता है और ऐसी कला की मनुष्यो ने हमेशा कद्र की है । प्रारम्भ से लेकर आजतक कला ने सदा ही जीवन-सम्बन्धी उपदेशों का प्रचार करने अर्थात् धर्म की बातो ही को फैलाने ही का काम किया है और इसी तरह की कला को लोगो ने पसन्द किया है ।

मानव-जीवन के उद्देश्य और उसके कल्याण से सम्बन्ध रखनेवाली विद्या के स्थान पर जबसे सारी दुनिया की बातो को मालूम करने की लालसा ने विज्ञान का नाम धारण कर क़ब्ज़ा जमाया है तभी से कला के सच्चे स्वरूप का लोप हो गया, जो मनुष्य-जीवन का आवश्यक अंग था । जबतक चर्च मनुष्य के भावी कल्याण का उपदेश देता रहा और कला धर्म की सेवा करती रही, तबतक वह सच्ची कला रही; किन्तु जब से कला ने धर्म का साथ छोड़ा और विज्ञान की सेविका बनी, तथा विज्ञान को जैसा अच्छा लगे वैसा करना शुरू किया, तबसे कला अपना अर्थ

है कि मुझे पैदा करनेवाली शक्ति, मुझसे और प्रत्येक मनुष्य से क्या चाहती है ? और अपनी बुद्धि व अन्तरात्मा की आवाज़ के अनुसार और पूर्ववर्ती लोग जो-कुछ कह गये है उसको ध्यान मे रखकर इन महान् उपदेशकों ने कुछ निष्कर्ष निकाले हैं; जो बिलकुल सरल, स्पष्ट और सबकी समझ मे आने लायक हैं और जिनपर सदा अमल किया जा सकता है।

किन्तु अचानक ही एक नया वर्ग पैदा हो जाता है और कहता है कि यह सब वाहियात खुराफ़ात है, उसे छोड़ो, यह तो माने हुए सिद्धान्तों से निष्कर्ष निकालने की पद्धति है। आन्तरिक अनुभवो से जिस बात का ज्ञान होता है और सृष्टि के आरम्भ से अबतक के महान् पुरुषो ने जो कुछ इस विषय मे किया है, वह सब व्यर्थ और निकम्मा है।

इस नवीन मत के अनुसार यह कहा जाता है—'तुम एक जीवसृष्टि के परमाणु हो। परमाणु की हैसियत से तुम्हारा क्या कर्तव्य है, यह निर्णय करने के लिए तुम्हें बाहरी दुनिया का निरीक्षण करना चाहिए।'

सच्चा वैज्ञानिक ढंग यह है—यदि तुम जानना चाहते हो कि तुम्हारा व्यक्तिगत कर्तव्य क्या है, तुम्हारा और समस्त संसार का कल्याण किसमे है, तो सबसे पहले तो तुम्हे यह करना चाहिए कि तुम अपनी बुद्धि और अन्तरात्मा की आवाज़ को सुनना और उसपर ध्यान देना छोड दो, मानव-समाज के महान् उपदेशकों ने अपनी अन्तरात्मा और बुद्धि के सम्बन्ध मे जो-कुछ लिखा है, उसपर विश्वास करना छोड दो, इन बातो को तुम बिलकुल वाहियात समझो और आरम्भ से शुरू करो।

और शुरू से प्रारम्भ करने के लिए तुम्हे एक खुर्दबीन के द्वारा छोटे-छोटे कीडों के अणुओ की हरक़तो को देखना चाहिए, या इससे भी सरल बात यह है कि निर्भ्रान्त होने का सार्टीफिकेट जिन लोगों के पास है, वे जो-कुछ भी इन बातो के विषय मे कहे, उन्हे ठीक मानलो। और इन कीड़ो के अणुओं की हरकतो को देखकर, या दूसरों ने इस विषय मे जो-कुछ लिखा है उसे पढ़कर, तुम्हें अपनी मानवी भावनाओं

: ३६ :

किन्तु मुझसे कहा जाता है—तुम तो कला और विज्ञान की एक और ही संकुचित-सी व्याख्या करते हो, जो विज्ञान को स्वीकृत नहीं हो सकती। किन्तु तुम्हारी इस व्याख्या के अनुसार भी यह उसके अन्तर्गत है और तुम्हारे इतना कहने-सुनने के बावजूद गैलिलियो, ब्रूनो, होमर, माइकेल, एन्जिलो, बीथोवन, वाग्नेर और अन्य इससे छोटी श्रेणी के विद्वानों और कला-कोविदों की कृतियाँ तो मौजूद हैं ही। इन लोगो ने अपना समस्त जीवन कला और विज्ञान की सेवा मे अर्पित कर दिया।

प्रायः यह बात इसलिए कही जाती है कि पुराने विद्वानों की सेवा को आजकल के लोगों की प्रवृत्ति के साथ सम्बन्धित किया जा सके—हालाँकि वैसे इन पुराने विद्वानो को सच्चा वैज्ञानिक और कलाविज्ञ नही मानते हैं। और यह बात कहते समय ऐसा मालूम होता है कि वे उस श्रम-विभाग को भुलाने की कोशिश करते है कि जिसके कारण विज्ञान और कला को आजकल एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है।

पहली बात तो यह है कि प्राचीन और अर्वाचीन वैज्ञानिकों तथा कलाविज्ञों मे एकात्म्य स्थापित करना सम्भव नहीं, क्योंकि इन दोनों मे वैसा ही अन्तर है, जैसा कि प्राथमिक क्रिश्चियनों के पवित्र जीवन मे और पोप लोगो के जीवन मे असामञ्जस्य रहा है। गैलिलियो, शेक्सपियर और बीथोवन जैसे लोगो की प्रवृत्ति मे, और टिन्डल, ह्यूगो और वाग्नेर

खो बैठी। अब तो वह एक बाज़ारू चीज़ रह गयी है, जिसका काम लोगो को खुश करने के साधन जुटाना है।

भूतकाल की ओर जब हम दृष्टि डालते हैं तो देखते है कि हजारों वर्षों में जाकर और लाखो-अरबो मनुष्यो मे से कन्फ्यूशियस, बुद्ध, सुकरात, सुलेमान और ईसा जैसे थोडे व्यक्ति पैदा हुए हैं। सच्चे कला और विज्ञान-प्रेमी दुनिय मे बहुत-कम पैदा होते हैं, हालाँकि उनका जन्म किसी जाति विशेष मे नही वरन् समस्त मानव-समाज में हुआ करता है; और मनुष्य जो इन लोगों का इतना सम्मान करते आये है, यह भी बिना कारण नहीं है। किन्तु आज कहा जाता है कि कला और विज्ञान के इन प्राचीन और महान् प्रतिनिधियो की अब हमे ज़रूरत नही है। आज तो श्रम-विभाग की कृपा से एक साल के भीतर हम इतनी अधिक संख्या मे कला-प्रेमी और वैज्ञानिक पैदा कर लेंगे कि जितने सृष्टि के आदि से लेकर अबतक दुनिया मे पैदा नही हुए। आजकल तो विद्वानो और कला-प्रेमियों का मानो कारख़ाना खुला हुआ है, जहाँ उन्नत साधनो द्वारा मनुष्य के लिए जितना आध्यात्मिक भोजन चाहिए उतना सारा-का-सारा तैयार कर लिया जाता है।

वे कहते हैं कि विद्याये भी हमने अनेको खोज निकाली हैं। बस किसी ग्रीक शब्द के पीछे 'जीजो' और जोड़ दो और विषय को कुछ थोडे से 'पैरों' मे विभक्त करके लिख दो कि विज्ञान तैयार हो गया। इस प्रकार हमने इतनी विद्याये बना डाली हैं कि एक आदमी उन सब को सीख नही सकता। यही नहीं, उन सबके नाम तक याद करना उसके लिए बहुत कठिन है—इन नामो को ही यदि लिखा जाय तो उनसे एक कोष बन जाय। अभी आये दिन नयी विद्याये बनती ही रहती हैं।

हम लोग किसी ऐसी चीज़ के पीछे पडे हुए हैं, जिसे हम विज्ञान और कला कहते है; किन्तु हम जो-कुछ कर रहे हैं, उसकी न तो लोगो को ज़रूरत है और न वे उसे समझ ही सकते हैं। इसलिए हमें अपनी कृतियो को कला और विज्ञान के नाम से पुकारने का कोई हक़ नहीं है।

से पुकारें, किन्तु हम तो इन सब बातों को विज्ञान या कला की कृतियाँ नही कह सकते, क्योंकि इन बातों का लक्ष्य मानव-समाज का कल्याण नही है उलटे ये चीज़ें मनुष्यों को हानि पहुँचाती है और प्रायः इसी काम में लायी जाती है।

इसी प्रकार वे लोग जो सारे जीवन भर सूक्ष्म-दर्शक-यन्त्र द्वारा दिखायी देनेवाले जन्तुओं का तथा दूरदर्शक यन्त्रों द्वारा तारों की रचना आदि का अध्ययन करते हैं, और जो विद्वान अध्यवसायपूर्वक प्राचीन पदार्थों की शोध करके ऐतिहासिक उपन्यासों, चित्रों, गीतों तथा काव्यो की रचना करते है, वे अपने को कुछ भी नाम क्यों न दे और कितने ही उत्साही क्यो न हों, अपनी ही की हुई विज्ञान की व्याख्या के अनुसार विज्ञान या कला के सेवो नही कहला सकते। क्योंकि एक तो उनकी प्रवृत्ति, जो यह कहती है कि विज्ञान विज्ञान के लिए और कला कला के लिए है, मनुष्य के कल्याण को लक्ष्य मे नहीं रखती है और दूसरे हम इन प्रवृत्तियों द्वारा समाज अथवा समस्त मानव-मण्डल का कोई कल्याण होते हुए नही देखते।

उनकी प्रवृत्तियों से कभी-कभी कोई बात किन्ही के लिए उपयोगी या रुचिकर निकल आती है तो इसीसे हम उनको विज्ञान या कला का सेवक नहीं कह सकते, क्योकि खुद उनकी व्याख्या के अनुसार उपयोगिता के लिए तो विज्ञान या कला में स्थान है ही नही। विज्ञान और कला की जो वैज्ञानिक व्याख्या की गयी है वह तो ठीक है, किन्तु दुर्भाग्यवश आधुनिक विज्ञान और कला की प्रवृत्ति उनके अन्दर नहीं आती। कुछ लोग तो हानिकारक चीज़ें बनाते हैं, कुछ उपयोगिताहीन और कुछ केवल अमीरों के मनोविनोद की वस्तुएँ निर्माण करते है। ये सभी लोग बहुत भले आदमी हो सकते हैं, किन्तु वे उस काम को पूरा नहीं करते, जिसका उन्होने अपनी बनायी हुई व्याख्या के अनुसार जिम्मा तो ले रखा है। अतएव विज्ञान और कला के सेवक कहलाने का बस उतना ही अधिकार है, जितना कि अपना कर्त्तव्य पालन न करने-

जैसे लोगों की प्रवृत्ति में कोई समानता नहीं है। जिस प्रकार प्रारम्भ काल के क्रिश्चियन पादरियों ने पोप लोगों से किसी प्रकार का सम्बन्ध मानने से इन्कार कर दिया था वैसे ही प्राचीन वैज्ञानिक आधुनिक कला के वैज्ञानिकों से सम्बन्ध रखने से इन्कार कर देते।

दूसरे विज्ञान और कला जो अपनी महत्ता का बखान करते हैं उससे ही उनके कामों को जॉचने के लिए एक कसौटी बन जाती है, जिससे हम आसानी से मालूम कर सकते हैं कि वे अपने कर्तव्य को पूरा करते हैं या नही। इसलिए हम यों ही बिना किसी प्रमाण के ही नही बल्कि उनकी ही बतायी हुई कसौटी पर कसकर यह कहते हैं कि वह वृत्ति जो अपने को विज्ञान और कला के नाम से पुकारती है वास्तव मे इस नाम से पुकारी जाने की अधिकारिणी है कि नहीं ?

पुराने ज़माने मे मिश्र और यूनान देश के पुरोहित कुछ रहस्यभरी बातें किया करते थे, जो उनके सिवा और किसी को नहीं मालूम होती थी, और कहते थे कि इन रहस्यमयी क्रियायों मे कला और विज्ञान सम्मिलित हैं। वे यह भी कहते थे कि यह लोगों के बडे लाभ की चोज़ है। मगर उनके ऐसा कहने से हम उस विज्ञान की वास्तविकता का निर्णय नहीं कर सकते थे, क्योंकि वे खुद ही उसे अप्राकृतिक और दैवी विभूति बताते थे। किन्तु अब तो विज्ञान की एक स्पष्ट कसौटी बन गयी हैं, जिसमें दैवी अप्राकृतिक तत्व के लिए कोई स्थान ही नहीं है। विज्ञान और कला यह कहते है कि मनुष्य-समाज अथवा समस्त मानव-मण्डल के कल्याण के लिए मनुष्य की मानसिक प्रवृत्ति का सचालन-भार उन्होंने अपने ऊपर लिया है। अतएव यह निश्चित हो जाता है कि उसी प्रवृत्ति को विज्ञान और कला कह सकते हैं कि जिसका उद्देश्य मानव-समाज का कल्याण करना हो। इसलिए ये समस्त विद्वान महानुभाव जो राजकीय दण्ड-विधान तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधान नियम बनाते है, जो नयी बन्दूकों, तोपो तथा दूसरे शस्त्रो का आविष्कार करते हैं, या जो उन्मादक नाटक, उपन्यास तथा कवितायें लिखते है, अपने को भले ही किसी नाम